प्रबन्धपूर्णिमा

[उच्च कक्षाओं के लिये निबंध]

लेखक

डॉ० रामरतन भटनागर

तथा

[illegible]ानाथ तिवारी, एम० ए०, साहित्यरत्न

सर्वोदय साहित्य मंदिर

किताब महल

इलाहाबाद

…य — पृष्ठ
…िन्दी की आवश्यकताएँ … … २७२

(ग) हिंदी भाषा और लिपि

…गरी लिपि में सुधार … … २७८
…ी भाषा की आवश्यकताएँ … … २८३
… व्याकरण में लिंग की समस्या … २८७

(घ) दर्शन और धर्म

… और हिन्दू धर्म … … २९०
…ा पंथ … … २९५
…ा सौन्दर्य … … ३००
…प्ति के साधन … … ३०५
… और हिन्दू धर्म … … ३१२
…चार्य और मध्ययुग का भक्ति आन्दोलन … ३१७

(ङ) राजनीति और राष्ट्रनीति

… और प्रजातंत्र … … ३२३
…अशान्ति क्यों ? … … ३२८
…ीय महायुद्ध और उसे दूर करने के उपाय … ३३३

(च) समाज

…ज पर कविता का प्रभाव … … ३३७
… और समाज … … ३४०
… और समाज … … ३४३
…बंधन … … ३४७
…माज में नारी का स्थान … … ३५३
शिक्षित समाज और जनसमुदाय … ३५७

विषय | पृष्ठ

(छ) फुटकर

विज्ञान से संसार का हित-अहित ... ३५२
*स्त्रियों के लिए शिक्षा का पाठ्य क्रम ... ३६६
शिक्षा और जीवन ३७२
उपन्यास-पाठ से हानि-लाभ ३७८
पुस्तकों का आनन्द ३८२
आधुनिक सभ्यता पर विज्ञान का प्रभाव ... ३८८
भारत की आर्थिक उन्नति में कलों की उपयोगिता ... ३९३
*मनोरंजन के साधन ३९८

प्रबन्ध पूर्णिमा का यह चौथा संस्करण है। पिछले संस्करण के ऐसे निबंध जो समय से पीछे पड़ गये थे या विद्यार्थियों के लिये आवश्यक नहीं थे, निकाल दिये गये हैं तथा उनके स्थान पर नए निबंध (जो पुष्पांकित हैं) जोड़ दिये गये हैं।

शीघ्रता एवं समयाभाव के कारण मैं एक भी प्रूफ न देख सका अतः छपाई की भूलें अधिक रह गई हैं जिनके लिए आशा है, पाठक क्षमा करेंगे।

'हिंदी भाषा और लिपि' वर्ग के प्रथम निबंध 'नागरी लिपि में सुधार' में बहुत अधिक भूलें रह गई हैं। पाठक इसमें निम्न सुधार कर लेने की कृपा करें—

पृष्ठ २८० पर नीचे से ३री पंक्ति में ऋ, ङ, ञ के बाद 'ण' नहीं रहेगा। पृष्ठ २८१ पर ऊपर से २री तथा ३री पंक्ति में 'ण (चणडी) के स्थान पर चंडी' यह पूरा वाक्यांश नहीं रहेगा। इसी पृष्ठ के दूसरे पैरे में 'ऐ' और 'औ' के स्थान पर 'ए' तथा 'ओ' रहेंगे और इनके ऊपर चंद्राकारचिह्न (˘) रहेगा। तीसरे पैरे में 'इ' के लिये ि तथा 'ई' के लिये ी में मात्राओं की खड़ी पाई का निचला सिरा इ की मात्रा में पीछे को मुड़ा (J) तथा ई की मात्रा में आगे को मुड़ा (L) रहेगा। इसी के अनुसार उदाहृत 'आरती' और शान्ती में भी आरती की अंतिम मात्रा की पाई नीचे आगे की ओर (L) मुड़ी रहेगी और शान्ती में पीछे की ओर। चौथे पैरे में 'अ के लिए अ और अ, ल के लिये ल और ल, श के लिये श और श' शुद्ध है। २८२ पृष्ठ पर दूसरे पैरे में 'श का काम 'ग्यँ' से चल सकता है' होना चाहिये। २८२ पेज की ही नीचे से तीसरी लाइन में ट ठ ड ढ ण पढ़ा जाना चाहिये।

प्रयाग
२१–८–५१

भोलानाथ तिवारी

निवेदन

१९३१ में मैंने प्रारम्भिक निबन्ध-शिक्षा पर एक पुस्तक लिखी थी जो उसी वर्ष "निबंध-प्रबोध" नाम से प्रकाशित हुई। १९४६ में इस पुस्तक का पाँचवाँ संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण प्रकाशित हुआ है जिससे यह स्पष्ट है कि पुस्तक उपयोगी सिद्ध हुई है।

प्रस्तुत पुस्तक उन विद्यार्थियों के लिए लिखी गई है जो प्रारम्भिक निबंध-शिक्षा की ड्योढी पार कर चुके हैं और जिनसे आशा की जाती है कि वे विभिन्न विषयों पर उच्चश्रेणी के विचारात्मक या विवेचनात्मक निबंध लिख सकेंगे। इस श्रेणी के विद्यार्थियों के लिए बड़ी कठिनाई सामग्री की होती है। जिन विषयों पर उनसे निबंध लिखाये जाते हैं उनकी सामग्री इतिहासों, साहित्य-समीक्षा-ग्रन्थों, अधिकारियों द्वारा लिखे गये निबंधों और सामयिक पत्रों में इस तरह बिखरी पड़ी रहती है कि विद्यार्थी सभी विषयों पर लिखने के लिए तैयार नहीं हो सकते। मैंने जहाँ यह प्रयत्न किया है कि एक ओर मैं उन्हें विचारात्मक निबंधों के सुन्दर मॉडिल दूँ, वहाँ दूसरी ओर यह प्रयत्न भी किया है कि विद्यार्थियों का परिश्रम भी बच जाये और उन्हें बिखरी हुई सामग्री एक स्थान पर मिले। इसीलिए मैंने परीक्षापत्रों में पूछे जाने वाले निबन्धों में अपने अध्ययन का सार उनके सामने उपयोग के लिए उपस्थित कर दिया है। कुछ ऐसे निबंध भी मिलेंगे जो साधारणतः परीक्षापत्रों में नहीं दिखाई पड़ते, परन्तु उन्हें रखने का कारण यह है कि मैं विद्यार्थियों के ज्ञान का विस्तार करना चाहता हूँ और उनके विचार तथा चिंतन के क्षेत्र को संकीर्ण रहने देना नहीं चाहता। मैं समझता हूँ, यह संग्रह जहाँ उन्हें निबंध-लेखन में सहायता देगा, वहाँ विविध विषयों, विशेष-

कर साहित्य के सम्बन्ध में उनका ज्ञान-वृद्धि भी करेगा। इसी विचार से साहित्य-सम्बन्धी निबन्धों में ऐसा क्रम रखा गया है जिससे विद्यार्थी के ज्ञान में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाय और उसे साहित्य की व्यापक समस्याओं और हिन्दी साहित्य के विभिन्न अंगों का पूर्ण परिचय हो जाय।

एक बात निबंधों की सामग्री के सम्बन्ध में भी। इस संग्रह के निबंधों की बहुत-सी सामग्री मौलिक है। उसके लिए लेखक ही उत्तरदायी है। परन्तु मौलिकता पर उसका आग्रह अधिक नहीं रहा है क्योंकि वह यह नहीं चाहता कि पाठक पूर्व परंपरा से एकदम हट जाय अथवा उसकी मौलिक वस्तु को ग्रहण ही नहीं कर सके।

इन निबंधों में उद्धरणों की संख्या बहुत कम है, परन्तु जिन विद्वानों के उद्धरणों का मैंने प्रयोग किया, उनका मैं विशेष कृतज्ञ हूँ।

प्रयाग,
१२ नवम्बर १९४६

रामरतन भटनागर

विषय-सूची

विषय — पृष्ठ

आमुख — १

(क) कला और साहित्य

कला का प्रयोजन १७
साहित्य २२
साहित्य का उद्देश्य २८
साहित्य समाज का दर्पण है ३१
कविता जीवन की आलोचना है ३६
साहित्य में शैली का स्थान ३९
साहित्य और आलोचना ४६
काव्य में कल्पना ५०
काव्य में करुणरस ५५
काव्य की कसौटी ६१
उपन्यास ६५
ऐतिहासिक उपन्यास ७१
कहानी ७६
कहानी और जीवन ८२
नाटक ८९

(ख) हिन्दी साहित्य

हिन्दी साहित्य ९७
हिन्दी नाटक और रंगमंच १०२

विषय ... ?

हिन्दी का वैष्णव साहित्य ११

हिन्दी कविता में रहस्यवाद ... ... ११[illegible]

प्राचीन हिन्दी कविता में प्रकृति-चित्रण ... १२९

वर्तमान हिन्दी कविता में प्रकृति-चित्रण ... १३०

संत काव्य ... १३९

राम-भक्ति काव्य और तुलसीदास ... १४५

विनयपत्रिका ... १५०

[illegible]दास १५५

[illegible] भावना १६२

बिहारी [illegible] सतसई १६८

प्राचीन हिन्दी गद्य १७६

उन्नीसवीं शताब्दी का खड़ी बोली गद्य ... १८२

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र १९०

भारतेन्दु की भाषा-शैली १९७

प्रेमचन्द की कहानियाँ २०५

हिन्दी साहित्य पर विदेशी प्रभाव २१४

हिन्दी साहित्य में तुलसीदास का स्थान ... २२०

हिन्दी का नया और पुराना साहित्य २२३

वर्तमान हिन्दी कविता २२५

छायावाद २३३

हिन्दी के राष्ट्रीय कवि ... ... [illegible]

महादेवी की कविता २४८

निराला का दार्शनिक चिंतन और प्रकृतिवाद ... २५४

*हिन्दी नाटक का विकास २६

*हिन्दी उपन्यास का विकास २६७

उसी पुस्तक के पहले दस निबन्ध देखना चाहिये। ऐसे निबन्ध इस पुस्तक में नहीं मिलेंगे।

(ख) दर्शन सम्बन्धी निबन्ध।

इस संग्रह का 'ज्ञान प्राप्ति के साधन" शीर्षक निबन्ध दृष्टव्य है। इस श्रेणी के निबन्ध भी साधारण परीक्षा की परिधि के बाहर है क्योंकि परीक्षक प्रत्येक विद्यार्थी से दर्शन ज्ञान की आशा नहीं रखता।

(ग) साहित्य सबन्धी निबन्ध।

साहित्य से सम्बन्ध रखने वाले अनेक विषयों पर निबन्ध लिखे जाते हैं। विषय और दृष्टिकोण के अनुसार इस प्रकार के निबन्ध के कई भेद हो जाते हैं—विवरणात्मक, ऐतिहासिक, कलात्मक, विश्लेषणात्मक, भाषा-विज्ञान-सम्बन्धी, तर्क-प्रधान विचारात्मक। इनमें से कलात्मक के अतिरिक्त प्रायः सभी भेदों पर प्रस्तुत पुस्तक में निबंध मिलेंगे।

(घ) सामाजिक निबंध।

समाज-सम्बन्धी, सुधार-आन्दोलनों, कुरीतियों, रीति-रिवाजों, विशेष सामाजिक संस्थाओं पर लिखे निबन्ध इसी श्रेणी में आते हैं। इस पुस्तक में समाज सम्बन्धी कुछ निबन्धों को स्थान मिला है।

(ङ) वैज्ञानिक निबन्ध।

शुद्ध विज्ञान, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, भूगोल, इतिहास जैसे विषयों पर लिखे निबन्ध अनुसन्धानात्मक होने के कारण वैज्ञानिक कहे जायेंगे। प्रस्तुत पुस्तक में कुछ ही वैज्ञानिक निबन्ध दिये जा सके हैं।

ऊपर के विभाजन को देख कर भयभीत होने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह विभाजन कृत्रिम है। कारण कि

विषय हजार हो सकते हैं। यह अवश्य है कि शैली में भी थोड़ा भेद रहता है। ऐतिहासिक विचारात्मक निबंध में साहित्यिकता की रक्षा कुछ अधिक हो सकती है, वैज्ञानिक निबन्ध में कुछ कम। यह भी आवश्यक नहीं कि सभी निबन्धों में साहित्यिकता का पुट रहे भी।

शैली

शैली के सम्बन्ध में कुछ विशदता से विचार करेंगे यद्यपि विचारात्मक निबन्ध में शैली मुख्यतः विचारों का वाहन होती है और निबन्ध की सामग्री और उसके विकास का ही अधिक महत्त्व होता है।

शैली स्वयम् एक बहुत उलझी वस्तु है। उसका प्रयोग कई दृष्टियों से होता है। इस कारण शैली के भेद करने और उसका विवरण करने में कई कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं। लेखक जब कोई रचना करने बैठता है तो उसके तीन उद्देश्य होते हैं: (१) वह कोई विचार उपस्थित करना चाहता है और उसकी चेष्टा सदैव यह रहा करती है कि उसके विचार बहुत सुलझे रूप में पाठक के सामने रखे जायें; (२) वह इस विचार को अपने एक विशेष ढंग से गढ़ना और उपस्थित करना चाहता है; (३) वह इस विचार की अभिव्यक्ति के ढंग में सौन्दर्य देखना चाहता है। इस प्रकार गद्य शैली की स्थापना में बौद्धिक तत्त्व, व्यक्तित्व, रचना कला का आधार होता है। ये तीनों तत्त्व शैली के ऐसे अंग नहीं हैं जो एक दूसरे से अलग समानान्तर रेखाओं पर चलें। इनमें से प्रत्येक तत्त्व दूसरे का सहारा लेता है। प्रत्येक तत्त्व की दूसरे तत्त्व पर प्रतिक्रिया होती है। इस प्रकार शैली की विवेचना करते हुए हमें एक ऐसे क्षेत्र में काम

करना पड़ता है जिसमें कई धाराएँ एक दूसरे में मिल जाती हैं। इसी से यह विवेचना कठिन काम है।

पहले हम शैली के बौद्धिक तत्त्व पर विचार करेंगे। प्रत्येक लेखक के सामने कुछ अर्थ विशेष या विचार होता है जिसे वह पाठक के सामने रखना चाहता है। उसका उद्देश्य सूचना या शिक्षा देना होता है। कुछ लोगों का यह विचार है कि सूचित वस्तु और शैली में कोई सम्बन्ध नहीं है परन्तु कुछ अन्य आलोचकों का यह मत है कि शैली पर विचार किये बिना सूचित वस्तु पर विचार नहीं किया जा सकता। इन पिछले लोगों का यह कहना है कि विचार लेखक के मस्तिष्क में भी भाषा और शैली के द्वारा ही स्पष्ट होता है। भाषा और शैली का आधार पाये बिना विचार कोई भी रूप ग्रहण नहीं कर सकता। वह केवल एक अस्पष्ट, सांकेतिक उद्भावना-मात्र रह जाता है। इस प्रकार शैली रचनाकार की प्रारम्भिक समस्या है। इसके अतिरिक्त जिस शैली में लेखक सोचता है उसी शैली में वह विचार को पाठक के सामने रखता है। जब कोई विचार पहले-पहल मन में उठता है तो वह बहुत धुँधला होता है। वह कुछ चित्रों व ध्वनियों (शब्दों) के रूप में सामने आता है। उससे लेखक की तुष्टि नहीं होती और वह धीरे-धीरे उसका विकास करना चाहता है। उसके सामने नवीन शब्दावली तथा उसके नवीन संगठन आते हैं। इनमें से वह उनको चुन लेता है जो उसके मौलिक भाव या विचार को विकसित करते हैं और उनको लेकर वह आगे बढ़ता है। इस समय उसके मन में जो शैलियाँ आती हैं उनका प्रभाव भी बीज विचार पर पड़ता है। अन्त म वह एक वाक्यांश या पद को गढ़ता है। जब वह उसकी समाप्ति कर लेता है तब अनुभव करता है कि

उसने विचार को पूर्ण रूप में स्पष्ट कर दिया। अब वह अपने विचार को पूरा-पूरा और स्पष्ट समझ सकता है। इस प्रकार बीज विचार की धुँधली कल्पना और उसकी विकसित पूर्ण अभियोजना के बीच में लेखक को अनेक शैलियों को टटोलना पड़ता है। इसी बीच में लेखक एक ऐसी शैली का निर्माण कर लेता है जो उस विचार के प्रगट करने के लिये सबसे उपयुक्त है।

किसी विचार को विकसित करते हुए लेखक को सामने के धुँधले केन्द्र से भिन्न-भिन्न दिशाओं में परिधि बनाते हुए चलना पड़ता है। धीरे-धीरे वह उस परिधि का विकास करता रहता है और यहाँ तक कि वह उसका एक निश्चित रूप नियत कर लेता है। इस प्रयास में उसे तर्क का सहारा लेना होता है और उसके द्वारा वह अपने विचार की शृंखला मिलाता चलता है। वह कल्पना द्वारा अपने विचार की कड़ी को अपने उसी प्रकार के अन्य विचारों और अनुभूतियों की ओर बढ़ाता है।

बौद्धिक तत्त्व की दृष्टि से हम शैली के चार भेद कर सकते हैं। तर्क और मनोवेग की सबलता और शिथिलता से शैली के दो भेद होते हैं—सबल विचारात्मक शैली और शिथिल विचारात्मक शली। इनमें पहली शैली में तर्क संयत, विश्वस-नीय और शक्तिशाली होता है। दूसरे में तर्क शिथिल रहता है। कल्पना का प्रयोग उदाहरणों को उपस्थित करने अथवा अलं-कारों के प्रयोग में किया जाता है। अनेक प्रकार के अलंकार हैं और उनके स्थान की दृष्टि से शैली के कुछ भेद भी किये जा सकते हैं, परन्तु दो प्रधान भेद तो स्पष्ट ही हैं—अलंकारहीन शैली और अलंकारयुक्त शैली। अलंकारहीन शैली में किसी प्रकार के अलंकार का प्रयोग नहीं होता। लेखक केवल अपने विचारों को प्रकट करके संतोष कर लेता है। वह उनमें न रस

उत्पन्न करना चाहता है, न ध्वन्यात्मक सौन्दर्य । शिक्षाप्रद और वैज्ञानिक निबन्धों में यही शैली चलती है। अलंकारयुक्त शैली शुद्ध साहित्यिक शैली है । भावना या विचार को स्पष्ट करने, उसको प्रौढ़ रूप देने और उसमें साहित्यिक सौन्दर्य एवं आकर्षण उपस्थित करने के लिए इसी शैली का प्रयोग होता है।

शैली और व्यक्तित्व का भी अत्यन्त निकट का सम्बन्ध है। [शै]ली कला है। कला जीवन की अभिव्यक्ति का नाम है परन्तु उसमें जीवन व्यक्तित्व-द्वारा ग्रहण किया जाता है और इसी माध्यम से प्रकाशित भी होता है। विचार के अतिरिक्त लेखक को भावना, भाव अथवा रस के प्रकाशन की वाञ्छा भी होती है। वह किसी विचार या भाव को निष्पत्त देख नहीं सकता। वह उसे अपनाना चाहता है। उसका मन कहता है कि उसमें आत्मीयता प्रकट करे।

प्रत्येक विचार के साथ भावना का एक अंश भी जुड़ा होता है। यह रस की सृष्टि में सहायक होता है। इस प्रकार शैली का संवेदना से निकट का सम्बन्ध है । प्रत्येक मनुष्य एक-जैसा संवेदनशील नहीं होता, इसलिये संवेदना की अभिव्यक्ति या रस-सृष्टि की दृष्टि से भी शैली के अनेक भेद हो जाते हैं। शैली में सब से अधिक विभिन्नता इसी तत्व के कारण आती है। व्यक्तिगत प्रयोगों से लेखक के चरित्र का प्रकाशन होता है, व्यक्तित्व सामने आता है। यदि लेखक के चरित्र में उच्छृं-खलता है तो उसकी रचना में भी उसके दर्शन होंगे। इसी प्रकार शैली का एक दूसरा उद्देश्य मनोरंजनता उत्पन्न करना अथवा रचना को आकर्षक बनाना होता है। उत्तेजना, रस-प्रवाह और आत्मीयता व्यक्तिगत शैली के गुण हैं । बौद्धिकतत्त्व जिस तरह शैली को सार्वभौमिक, परव्यंजक और व्यक्तिहीन बनाते हैं,

उसी तरह वैयक्तिक तत्त्व उसे आत्म प्रधान और व्यक्तिगत रंग में रंग देते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शैली में एक ऐसा तत्त्व भी सम्मिलित है जिससे लेखक आत्मप्रकाशन करता है, जिसके द्वारा हम एक दम उसके अन्तरतम-प्रदेश को छान सकते हैं, जो इतना ही मिश्रित और उलझा हुआ है जितना स्वयम् लेखक का व्यक्तित्व। मनुष्य के सभी कामों में व्यक्तित्व का महत्त्व रहता है। कला के क्षेत्र में उसका महत्त्व और भी अधिक है। कोई भी लेखक अपने को धोखा नहीं दे सकता। लेखक के विचारों में यदि सनक हुई, असाधारणता हुई, उसके राग-विराग, उसके मानसिक विकार—ये सब उसके शब्दों के चुनाव में उसके वाक्यों के संगठन में, उसके संबोधनों और शब्दसमूहों में, उसके अलंकारों के प्रयोग में अथवा उदाहरणों एवं चित्रों में प्रकाशित होंगे। शैली के व्यक्तित्वमूलक तत्त्व से हमें लेखक की मानसिक विशेषता का पता चलेगा। उस विशेष वातावरण का पता चलेगा। जिसमें उसके विचार फलते-फूलते और क्रियाशील रहते हैं।

संक्षेप में, शैली की विशेषता भाषा का व्यक्तिगत प्रयोग है। प्रत्येक मनुष्य के विचार उसके अपने ढंग पर प्राप्त होते हैं। वह उन्हें एक विशेष ढंग से प्रकट करता है। उसकी शब्दयोजना, वाक्यों की बनावट, उनकी ध्वनि आदि उसके स्वभाव के अनुकूल विशेष ढंग की होगी। इसीलिये हम शैली की परीक्षा करके लेखक का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और उसके स्वभाव का निरूपण कर सकते हैं। इस दृष्टिकोण से हम शैली को "भाषा का व्यक्तिगत प्रयोग" कह सकते हैं।

व्यक्तित्व की दृष्टि से शैलियों के कुछ भेद ये हैं—

१—चित्रात्मक शैली।

इसमें शब्द-चित्रों का प्रयोग किया जाता है। यह शैली वर्णनात्मक और कथात्मक निबन्धों के लिये उपयुक्त है। इस शैली की सफलता इसमें है कि लेखक [illegible] द्वारा पाठक की मन चक्षु के आगे चित्र उपस्थित कर दे। इस शैली में रूपक, उपमा आदि अलंकारों का प्रयोग किया जाता है। ये अलंकार कल्पना को उत्तेजित करने में सहायक होते हैं।

२—कथात्मक शैली।

यदि लेखक का विचार रस की उत्पत्ति है और उसकी शैली भावना, चित्रमयता और भावोद्रेक से भरी हुई है तो हम उसे काव्यात्मक शैली कहेंगे। कवियों के गद्य में यही शैली मिलती है। वास्तव में जिसे गद्यकाव्य के नाम से पुकारा जाता है, वह गद्य की काव्यात्मक शैली ही है।

३—मनोवैज्ञानिक शैली।

इसमें मन की सूक्ष्म बातों का बड़ा सूक्ष्म, कभी-कभी उकता देने वाला, विवेचना होता है।

शैली में हृदय तत्त्व का भी महत्वपूर्ण स्थान है। शैली और व्यक्तित्व पर लिखते हुए हमने रस-सृष्टि को शैली का एक अंग माना है, परन्तु रस का सम्बन्ध लेखक की रागात्मिक वृत्ति से है इसलिये इसे असल में हृदय तत्त्व के अन्तर्गत आना चाहिये। मनुष्य किसी भाव को यों ही ग्रहण नहीं कर लेता, वह उसमें आनन्द लेना चाहता है। इसका प्रभाव शैली पर भी पड़ता है। सच तो यह है कि किसी घटना के वर्णन में विचार का स्थान इतना नहीं होता जितना भावलोक या वातावरण की सृष्टि का। इससे विचार को स्पष्ट करने की शैली में एक विशेष सौन्दर्य आ जाता है। हृदय तत्त्व की दृष्टि से भी शैली के कई भेद कर सकते हैं—

१—भावात्मक शैली।

इस शैली को हम सबल और शिथिल भावात्मक शैलियों में बाँट सकते हैं। यदि भावना का बहुत अधिक उत्तेजित करने का प्रयत्न किया गया हो, चाहे निबन्ध साथ ही विचारात्मक क्यों न हो, तो हम उस शैली को सबल भावात्मक शैली कहेंगे। इसके विपरीत शिथिल भावात्मक शैली वह है जिसमें भावना का अपकर्ष हो, उत्कर्ष नहीं।

२—रसात्मक शैली।

इस शैली में रसपरिपाक का अधिक ध्यान दिया जाता है और रस की विभिन्नता की दृष्टि से लेखक को अपने वाक्य-संगठन और अपनी अभिव्यंजना को अनेक रूप देने पड़ते हैं।

शैली एक प्रकार की रचनाकला भी है। शैली को प्रभाव-शाली बनाना पड़ता है और कला की एक व्याख्या यह भी है कि उसका लक्ष्य प्रभाव होना है। रचनाकला का उद्देश्य यह होता है कि वह प्रकाशन के ढंग में सौन्दर्य उत्पन्न करे, दूसरों के मनोरंजन और आकर्षण का प्रयत्न करे। प्रत्येक निबंध के कई अंग होते हैं। रचनाकला का सम्बन्ध इन्हीं भिन्न-भिन्न अंगों से है। शब्द, वाक्यांश, वाक्य, पद और अनेक पदों के समूह—ये सब रचना के अंग हैं और इनकी योजना अनेक प्रकार से हो सकती है। रचनाकला को ही शैली समझ लेना ठीक नहीं। रचनातत्त्व शैली का केवल एक भाग है और उसे उतना ही महत्त्व मिलना चाहिये जितना उचित है। रचनाकला का लक्ष्य यह होना चाहिये कि उसके द्वारा शैली प्रभावोत्पादक बने, उसमें आनन्द और सौन्दर्य की स्थापना हो और वह अकृत्रिम जान पड़े। उसकी सफलता तभी है जब वह रचना में आकर्षण पैदा करे परन्तु स्वयम् उसकी ओर पाठक आकर्षित न हो। यह भी

आवश्यक है कि रचना तत्त्व के लिये विचार या भाव बलिदान न कर दिया जाय।

रचना तत्त्व की दृष्टि से शैली के दो भाग हो सकते हैं—

१—सुष्ठ शैली।

लेखक अपने विचारों को इतने कम शब्दों में प्रकट करता है जितने कम शब्दों में उन्हें प्रगट करना उसके लिये संभव है। वह केवल ऐसे ही शब्दों का प्रयोग करता है जिनमें भाव से व्यंजना की शक्ति सर्वाधिक है, जो कुछ न कुछ विशेषता अर्थ में अवश्य लाते हैं। एक ही विचार को वह दुहराता नहीं। इस प्रकार की शैली में अलंकार को अधिक स्थान नहीं मिलता। यदि अलंकार का प्रयोग होता भी है तो वह वाक्य को सुन्दर बनाने की दृष्टि से। लेखक के वाक्य सुसंगठित और बलशाली होते हैं। उनका लयपूर्ण और संगीतमय होना आवश्यक नहीं है। यह तात्पर्य भी नही है कि वाक्य सूत्र बनकर रह जाये।

२—सौष्ठव-हीन शैली।

सौष्ठव-हीन शैली में विषय या विचार का प्रतिपादन विस्तार-पूर्वक किया जाता है। साथ ही विचार की पुष्टि के लिए लेखक भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों को सामने रखता है। उसे पुनरावृत्ति करनी होती है। फलतः शैली तथा वाक्य की शक्ति चली जाती है। परन्तु विषय का सूक्ष्म और विस्तारपूर्ण विश्लेषण इस दोष को बहुत कुछ कम कर देता है। वाक्य लम्बे होते हैं। उनमें अलंकारों का प्रयोग भी हो सकता है। यदि वाक्य विस्तार अधिक रहा तो शैली में निर्बलता आ जाती है।

वाक्य विन्यास की दृष्टि से भी शैली के दो भाग हो सकते हैं—(१) प्रसादपूर्ण शैली में अलंकार का प्रयोग अधिक नहीं रहता। यह सम्भव है कि एक दो अलंकार आ जायँ, अधिक नहीं

आने चाहिये। शैली में प्रवाह रहता है। वाक्य-रचना सरल और सुगम होती हैं। वाक्य छोटे और प्रवाहशील होते हैं। इस प्रकार की शैली में चित्रमयता हो सकती है, शक्ति हो सकती है, परन्तु लेखक कल्पना की उड़ान या ध्वन्यात्मक सौन्दर्य द्वारा पाठक को आकर्षित करना नहीं चाहता। फिर भी वह कठोरता और शुष्कता से बचने का प्रयत्न करेगा और शैली को स्निग्ध बनायेगा। (२) प्रयत्नपूर्ण शैली पिछली शैली की बिलकुल विरोधी है। इसमें शब्दों और वाक्यों के अनुक्रम में बहुधा विपर्यय कर दिया जाता है और वाक्यों का संगठन स्वाभाविक परन्तु कलापूर्ण रहता है। यदि प्रयत्न छिप न सके तो वह एक दोष बन जाता है। संग्रहीत निबन्धों में सबल विचारात्मक, अलंकारहीन, सुष्ठ, प्रसादपूर्ण शैली का ही अधिक प्रयोग हुआ है, परन्तु साहित्यिकता की रक्षा के लिए स्थान-स्थान पर अलंकारों का भी प्रयोग हुआ अथवा व्यंग का सहारा लेकर शैली को थोड़ा व्यक्तिगत बनाने की चेष्टा की गई है। विषय के अनुरूप शैली में भी थोड़ा भेद है, जैसा होना आवश्यक था। इन निबन्धों में साहित्यकता का प्रवेश किस प्रकार हुआ है, यह बात नीचे के उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगी :—

विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य-मनुष्य समान हैं, वर्गहीन चेतना के अंश मात्र हैं, परन्तु समाज और धर्म के नाम पर वर्ग चल रहे हैं। रोमन कैथोलिक, प्रोटेस्टेन्ट, हिन्दू, पारसी, मुसलमान, बौद्ध, जैन—ऐसे कितने ही असंख्य सम्प्रदाय अपनी डेढ़-डेढ़ ईंट की मस्जिदें अलग खड़ा किए हैं विज्ञान मनुष्य-मनुष्य को पास लाता है पुराने धर्मसंस्कार उन्हें अलग-अलग कर देते हैं। धर्म के नाम पर

समय बदल गया है मनुष्य नहीं बदला है

साम्प्रदायिक दंगे होते हैं, हत्याएँ होती हैं। सच बात तो यह है कि ज्ञान आगे बढ़ गया है। हृदय पीछे छूट गया है। उसने न जाने कितने उपद्रव मचा रखे हैं। यह ही कह सकते हैं कि ज्ञान जहाँ पहुँचना चाहिये, वहाँ पहुँचा नहीं। ज्ञान के वितरण में विषमता है। संसार की अस्सी-नब्बे प्रतिशत जनता लगभग "निरक्षर भट्टाचार्य" है। फिर शान्ति कहाँ से हो ? विज्ञान ने सांसारिक सुखों के साधनों में वृद्धि कर दी है। उसे धर्म का विरोधी समझा जाता है। प्राचीन विश्वास दूर हो गए हैं। नये विश्वासों ने जन्म नहीं लिया है। यह अनिश्चितता का युग है। अविश्वास का युग है जिन अध्यात्मिक गुणों को हमारे पूर्वज उपादेय समझते थे, ग्राह्य समझते थे, उनकी खिल्ली उड़ाइ जाती है।"

(आज अशांति क्यों ?)

"नवीनता और मौलिकता के उत्साह में हम यह भूल जाते हैं कि स्त्री प्रतिष्ठा का मूलाधार मातृत्व है। मातृत्व के नाश से कालांतर में नारी प्रतिष्ठा का नाश हो जायगा। जहाँ नारी का यौवन विषय-विलास की क्रीड़ा भूमि मान लिया गया, जहाँ उसे मातृत्व का भय और मोह नहीं रहा, वहाँ क्या गर्हित दुराचार न हो सकेंगे। मातृत्व की उपेक्षा से स्वर्ग की देवी गृहिणी नरक की वेश्या बन जाती है। आज हिन्दू समाज नारी की सत्ता को ऊपर उठाने चला है, परन्तु पश्चिम के नये सिद्धान्त उसे एक बार फिर गर्त में ढकेल रहे हैं।"

(हिन्दू समाज में नारी का स्थान)

"परन्तु कल्पना निराधार नहीं होती। वह हवा में किले नहीं उठाती। उसका आधार कवि का इन्द्रिय-जन्य अनुभव ही है। इसी भित्ति पर वह ऐसे ऊँचे महल बनाती है जो आकाश को

चूमते हैं। हम इन महलों के कंगूरों को ही देखते हैं और हमें भित्ति की याद नहीं आती, परन्तु भित्ति है अवश्य!"

(काव्य में कल्पना)

"इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसी के मानस की आधार-भूमि भक्ति है। उसे दर्शन से पुष्ट किया गया है। उस पर संवादों की दीवारें उठा कर कथावस्तु से राम-सीता-मंदिर की स्थापना की गई है। छंद, रस, अलंकार, संवाद, वर्णन, स्तुतियों और गीताओं का उपयोग इस विशाल मंदिर की सामग्री के रूप में हुआ है। इसमें अन्तर्कथाओं और कथा-संकेतों के झरोखे लगे हैं। काव्य की सुन्दर मीनाकारी से यह मन्दिर विभूषित है। प्रारम्भिक विनय-चौपाइयों से पाठक भीतर प्रवेश करता है और शिवपार्वती विवाह, नारदमोह, भानुप्रताप और स्वयं भू शतरूपा की कथाओं की ड्योढ़ियों को पार करता हुआ रामकथा के मूर्ति-भवन में प्रवेश करता है। यहाँ उसे भगवान राम, भगवती सीता और परिषद् स्वरूप लक्ष्मण-हनुमान की झांकी मिलती है और राम ही के समान प्रभावशाली एक तापस मूर्ति सामने आती है—यह भरत हैं। आदर्श चरित्रों से मंडित तुलसी की रामकथा ने जनता के लिए एक साथ प्रार्थना-भवन और शिक्षा गृह का निर्माण किया है।"

(रामभक्ति काव्य और तुलसीदास)

इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा कि अलंकारों का प्रयोग व्यंगशैली का प्रयोग, मुहावरों और कहावतों के प्रयोग, शैली को साहित्यिक बनाते हैं। इनके अतिरिक्त कई प्रश्नों को एक साथ रख देने, साहित्यिक पद्य या गद्य के उदाहरणों का समावेश कर देने तथा घरेलू, प्रतिदिन के परिचित कार्य व्यापार से सहारा लेने से भी शैली में साहित्यिकता लाने का प्रयत्न किया गया है।

आमुख

शैली ही निबन्ध को आकर्षक नहीं बनाती। और बातें भी हैं। इनमें एक स्वयं विचार है। विचार कुछ इस ढंग से रखे जाएँ कि उनमें नवीनता झलके। उनके द्वारा विषय पर ऐसा प्रकाश पड़ता हो जिसकी साधारण मस्तिष्क आशा न करता हो। विचारों का एक अपना आकर्षण होता है। विवेचनात्मक निबन्धों को स्वयम् विषय-प्रतिपादन के ढङ्ग से रोचक और आकर्षक बनाया जाता है और यहीं लेखक को सारी मानसिक शक्तियों के साथ सतर्क होना होता है। वह क्या कहे, समस्या केवल इतनी ही नहीं है। उसे अपने विषय के लिए सामग्री तो अध्ययन और निरीक्षण द्वारा मिल जायगी, परन्तु वह कहे कैसे? थोड़ी-सी साहित्यिकता का प्रयोग करके यह अपने निबन्ध में पाठक की रुचि कैसे पैदा करे? उसकी उत्सुकता अन्त तक कैसे बनाए रखे?

विवेचनात्मक निबंध के इतने अनेक रूप होने के कारण यह असंभव है कि उसके लिए कोई एक रूपरेखा दी जा सके।

रूपरेखा

प्रत्येक निबन्ध के लिये अलग रूपरेखा होगी। उसके बनाते समय यह ध्यान अवश्य रखा जाय कि विचारों का तारतम्य टूटने न पाये और आपका दृष्टिकोण सुलझा रहे। विषय के उठान के समय यह ध्यान रहे कि वह रोचक ढंग से आरंभ किया गया हो। उसका विकास स्वाभाविक हो। जब निबन्ध समाप्त हो तो ऐसा लगे कि आपने अपने दृष्टिकोण को सफलता से सामने रखा है और आपकी ओर से जो कुछ कहा जा सकता है वह आपने कह दिया।

—:o:—

कला और साहित्य

१. कला का प्रयोजन

(१) कला की परिभाषा (२) कला के कुछ मान्य प्रयोजन (३) समष्टिरूप से कला जीवन के लिये होनी चाहिये। (४) कला और "सेवा"—कला किस प्रकार मानवता की सेवा करे (५) कला द्वारा आनन्द, अध्यवसाय और पराक्रम का संदेश (६) कला के मूल की सृजनप्रवृत्ति (७) कला और जीवन का सम्बन्ध (८) सामयिक जीवन के प्रति कला का उत्तरदायित्व।

आधुनिक समय में "कला" शब्द का प्रयोग नितान्त नूतन परिभाषा में होता है। पुरातन साहित्य में ६४ कलाओं का उल्लेख है; उनमें संगीत और नाट्य है, काव्य और साहित्य नहीं। वहाँ "कला" का अर्थ "कौशल" है। आधुनिक व्याख्या के अनुसार कला के अर्थ बड़े व्यापक हो गये हैं और उसमें साहित्य, काव्य, संगीत, स्थापत्य आदि सब आ जाते हैं। इन सबके लिए एक साथ किसी एक प्रकार का विधान निश्चित करना कठिन है। परन्तु यह नहीं भी हो सके, तब भी एक मूल प्रश्न सामने आता है—इन सब का प्रयोजन क्या है, कला का प्रयोजन क्या है?

विद्वानों, कवियों और कलाकारों ने समय-समय पर कला के अनेक प्रयोजन बताए हैं। कुछ ये हैं—

कला-कला के लिए।

जीवन कला के लिए।
कला जीवन का वास्तविकता से पलायन के लिये।
जीवन में आनन्द ढूँढ़ने के लिये।
सेवा के लिए।
आत्मप्राप्ति के लिए।
आनन्द के लिए।
विनोद विश्राम के लिए।
सृजन प्रवृत्ति की परितृप्ति के लिए।
"काव्यं व्यवहार विदे"

और भी कहे जा सकते हैं—"यश से", "अर्थकृतः"। यदि हम इन प्रयोजनों का विश्लेषण करें तो दो वर्ग हो जाते हैं—कला अपने लिए है ('आत्मने') फिर चाहे वह "यश से" हो, "अर्थकृते" हो, विनोद-विश्राम के लिए हो, सृजन-प्रवृत्ति की तृप्ति के लिए हो, आनन्द के लिए हो। "स्वान्तः सुखाय" या आत्म-प्राप्ति के लिए हो, जीवन के आनन्द के लिए हो, जीवन की वास्तविकता से पलायन के लिए हो अथवा कला के लिए हो। या कला दूसरे के लिए है ('परस्मै'), चाहे वह व्यवहार सिखाने के लिए हो या सेवा के लिए हो या जीवन के लिए। इन दोनों वर्गों में से कौन ठीक है, उपादेय है, इस विषय पर तर्क-कुतर्क चलते रहते हैं। दोनों वर्गों के लोग हठ करते हैं—हमारा ही मत ठीक है।

सच तो यह है कि कला ऊपर की सब चीजों के लिए है और इनके अतिरिक्त और भी बहुत चीजों के लिए है। जब हम अमूर्त्त भावों को मूर्त्त करते हैं तो हमें कला के दर्शन होते हैं। हमारे भाव निरर्थक नहीं हो सकते; यदि हम पागल नहीं हैं तो विशृङ्खल भी नहीं हो सकते। अतः उनका स्वयम् हमसे या हमारे आस-

पास के समाज या राष्ट्र से सम्बन्ध तो होगा ही। अनर्गल निरर्थक विचारों का जिस प्रकार कोई मूल्य नहीं, उसी प्रकार सुन्दर परन्तु अर्थहीन कलाकृति ही क्या होगी? अतः यह स्पष्ट है कि कला हमारे अपने लिए होगी या किसी दूसरे के लिये चाहे अन्य व्यक्ति हो, समाज हो, राष्ट्र हो। यदि हम अपने को भी तटस्थ रख कर देख सकें तो वह "जीवन के लिए होगी"--समष्टि के साथ व्यक्ति भी तो है।

वास्तव में कला के दोनों पहलू सत्य हैं—विरोधात्मक भी नहीं हैं। यदि कला सार्थक है तो वह दोनों वर्गों की हो सकती है। प्रत्येक रचना से सृजनप्रवृत्ति की परितृप्ति तो होती ही है, आनन्द भी आता है, विनोद-विश्राम भी मिलता है, चूँकि उसमें कलाकार का व्यक्तित्व ही प्रकट होता है इसलिए आत्मप्राप्ति तो होती ही है। यदि कलाकार अपनी रचना से आनन्द लेना चाहता है, जीवन के ऐसे तत्त्व छाँट निकालना चाहता है जो थोड़ी देर के लिए विषमता से उसे हटा दें तो वह बुरा क्या करता है, यदि वह संविधान के चातुर्य को प्रकट करना चाहता है तो हानि भी क्या है! यदि कलाकर हवा में नहीं रहता तो उसकी वस्तु जीवन के लिए ही होगी। उससे "सेवा" भी होगी, चाहे वह सेवा इतनी ही हो कि पाठक की संवेदना विकसित हो या उसकी सौन्दर्यवृत्ति को उत्तेजना मिले।

यहाँ तक तो सब ठीक है परन्तु बात कठिन तब हो जाती है जब एक आलोचक वर्ग कहता है—"कला ठोस सेवा करे, धर्म-नीति, राजनीति के सम्बन्ध में किसी विशेष धारणा का प्रचार करे या जीवन के नरक को जनता के सामने उठा कर रख दे।" जो कला के शुद्ध रूप के उपासक हैं वे हठ करते हैं--"यह सब हम क्यों करें? हमें तो आनन्द से गरज है। हम कला के ऊपर

कोई जिम्मेवारी नहीं मानते।" जहाँ पहला वर्ग कला से उसी प्रकार काम लेना चाहता है जिस प्रकार वह हड़तालों, अनशनों या चीर-फाड़ के औजारों से लेता है, वहाँ दूसरा वर्ग उससे प्रच्छन्न रूप से अपनी ऐन्द्रियता और विलासिता का पोषण करता है।

कला का उद्गम है आनन्द, अतः आनन्द उसका लक्ष्य है। ब्रह्मचर्य-प्रचार या हड़ताल आन्दोलन मूलरूप में कला के साथ नहीं जुड़े हैं, इस अर्थ में "कला-कला के लिए है।" कला से मनुष्य को जो आनन्द मिलता है वही "ब्रह्मानन्द सहोदर" कला का ध्येय है। परन्तु उस आनन्द में और इन्द्रियगत आनन्द में महान अन्तर है। उसके नाम पर वासना को उद्दीप्त करने वाले नग्न चित्रण नहीं हो सकते। कला का आनन्द विलास के आनन्द से कहीं उच्च है। यदि कलाकार "तटस्थता" या "तन्मयता" का आनन्द लेकर बैठना चाहता है तो भी हमें कुछ कहना नहीं है। परन्तु यदि वह एकदम जीवन की सामग्री का उपयोग नहीं करता, हवा में महल बनाता है, तो वह लगभग निरर्थक प्रयास कर रहा है। और हमें उससे न कोई लाभ है, न हानि। अवश्य यह हानि हो सकती है कि वह दूसरों के जीवन को भी आलस्य, निष्कर्मण्यता और अर्थहीन कल्पना से भर देगा जो निःसन्देह राष्ट्र के लिए हानिकारक बात होगी। इतने स्वप्नद्रष्टाओं का राष्ट्र क्या करेगा? यह भी हो सकता है कि वह जिस पलायनशील भावना का पोषण करता है, वह औरों को भी नष्ट कर दे या जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण को विकृत कर दे। जिस तरह वह हारा है, वे भी लड़ाई हारी समझें। फिर समाज की अपनी स्थिति क्या रहेगी?

जीवन का दूसरा अर्थ है निरंतर अध्यवसाय और पराक्रम।

यदि हम जीना (जीवन बनाए रखना) चाहते हैं तो वह काल दूषित है जो जीवन की लड़ाई को हारी हुई लड़ाई बताकर हमें हथियार डालने को कहती है। यदि हम अपने चारों ओर के जीवन से भाग कर एक काल्पनिक जगत में रहना चाहते हैं, अपने चारों ओर के जीवन के ही ऐसे पहलू क्यों नहीं ढूँढ लेते जिनमें हम आनन्द ले सकें। जीवन में ऐसी क्षमता है कि उसका कोई न कोई पहलू प्रत्येक मनुष्य को आनन्द दे सकता है। फिर हम मृगतृष्णा के पीछे क्यों पड़ें ? जो कलाकार ऐसा करेगा उसका लक्ष्य होगा—" Art is an escape from Life"। लक्ष्य ठीक होगा।

कलाकृति के मूल में सृजनप्रवृत्ति है, ऐसा हम कह चुके हैं और इस प्रवृत्ति के कारण कलाकार को अपनी कृति से आनन्द भी मिलता है परन्तु यह तो है ही। यह आनन्द, विनोद-विश्राम, आत्मतृप्ति या आत्मसाक्षात्कार (यदि कला में कलाकार अपनी आत्मा के दर्शन पाता है या उसे अध्यात्म बना लेता है) तो अच्छी ही बात है, इससे किसी को लड़ना-झगड़ना नहीं, परन्तु यह तो किसी भी तरह अन्तिम उद्देश्य नहीं हो सकते। मुख्य बात है विषय की। जीवन से विषय लिया जाये या नहीं, दोनों दशाओं में इनकी प्राप्ति तो होगी ही। मुख्य बात तो विषय की ही है।

कला और जीवन का सम्बन्ध क्या हो, मुख्य प्रश्न यही है। यह सम्बन्ध ठीक तरह समझ लेने पर आनन्दवर्ग और उपयोगितावर्ग दोनों में मेल हो सकता है। कलाकार जीवन को स्वीकार कर सकता है, जीवन की निश्चित मान्यताओं में आनन्द ले सकता है और जीवन की निर्णीत धारणाओं का विरोध कर सकता है। कुछ मान्यताएँ चिरन्तन सत्य हैं जैसे

सदाचार, धर्म, अहिंसा, जीवनशुद्धता, शुद्ध संस्कारी रस भावना। यदि कलाकार जीवन की निर्णीत धारणाओं को मानता हुआ इन्हें ही प्रश्रय देता है, तो ठीक है। परन्तु यदि वह इनका विरोध करता है, व्यभिचार, अधर्म, हिंसा, पाप-भावना और विकृत रस-भावना (विलासिता) को प्रश्रय देता है, तो यह उचित नहीं। यह कला के प्रति व्यभिचार होगा। संयम, संस्कारिता, सहयोग—यही वे मूल भावनाएँ हैं जिन पर जीवन टिका है, इनके प्रति विरोध करना जीवन का अपघात करना है। जो कला ऐसा करेगी, वह स्वयम् आत्मघात करेगी।

परन्तु कला सामयिक जीवन के प्रति कहाँ तक उत्तरदायी है, यह कहना कठिन है। आनन्दवादी वर्ग बहुत आगे नहीं बढ़ता। उससे यह ले लो—वह चिरतन नित्य भावनाओं के प्रति श्रद्धा करेगा, जीवन की सामग्री को शुद्ध रखेगा, परन्तु सामयिक समस्याओं में नहीं पड़ेगा। यदि दृष्टिकोण यही है तो भी हमें कुछ नहीं कहना है। परन्तु यदि वह सामयिक समस्याओं को स्वीकार करके उनके सुलझाने में लगता है और इसमें कला का प्रयोग करता है तो वह विशेष श्रेय का पात्र अवश्य होना चाहिये क्योंकि उस व्यक्ति की अपेक्षा जो वर्तमान के प्रति उदासीन रहता है वह व्यक्ति अधिक महत्त्वपूर्ण है जो वतमान की जिम्मेदारियों को सिर पर ओढ़ता है और उसे भविष्य की ओर प्रगतिशील बनाता है।

२. साहित्य

(१) साहित्य की कुछ परिभाषाएँ (२) सर्वग्राही परिभाषा की चेष्टा (३) साहित्य की मूलगत भावनाओं का विश्लेषण (४) शाश्वत साहित्य और जाति-देश-गत साहित्य (५) सब प्रकार के साहित्य में व्यक्तित्व का स्थान (६) साहित्य और विश्राम (७) साहित्य का विकास

'साहित्य' किसे कहते हैं, इस पर प्राचीन और अर्वाचीन विचारकों ने अनेक विचार प्रकट किये हैं। इसीलिये साहित्य की अनेक परिभाषाएँ भी हमारे सामने हैं—

१ परस्पर सापेक्षाणाम् तुल्य रूपाणाम् युगपदेक क्रियान्वयित्वम् साहित्यम् २ तुल्य वदेक क्रियान्वयित्वम् बुद्धि विशेष विषयित्वम् व साहित्यम् ३ मनुष्यकृत श्लोकमय ग्रंथ विशेषः साहित्यम् ४ 'सहित' शब्द से साहित्य की उत्पत्ति है—अतएव, धातुगत अर्थ करने पर साहित्य शब्द में मिलन का एक भाव दृष्टिगोचर होता है। वह केवल भाव का भाव के साथ, ग्रंथ का ग्रंथ के साथ मिलन है, यही नहीं, वरन् वह बतलाता है कि मनुष्य के साथ मनुष्य का, अतीत के साथ वर्तमान का, दूर के साथ निकट का अत्यन्त अंतरंग योग साधन है। ५"Literature, a general term, which in default of precise definition, may stand for the best expression of the best thought reduced to writing Its various forms are the result of race-peculiarities, or of diverse individual temperament or of political circumstances securing the predominance of one social class which is thus enabled to propagate its ideas and sentiments". Literature is only one of the many elements in which the energy of an age discharges itself, in its political movements, religious thought, philosophical speculation, art we have the same energy overflowing into other forms of expressions."

वास्तव में साहित्य की कोई भी एक निश्चित परिभाषा देना

कठिन है। जो चीज आज बाजार में साहित्य के नाम पर चलती है, उसके अनेक रूप हैं--कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, आलोचना, जीवन चरित्र, यात्रा, ललित निबन्ध एवं वैज्ञानिक, आर्थिक, औद्योगिक समस्याओं पर वे विचार जो लेख या निबन्ध के रूप में आबद्ध है और जिन्हें हम उपयोगी साहित्य कहते हैं। इस प्रकार का विभाजन स्पष्टतः कृत्रिम है। उसका आधार साहित्य का बाह्य रूप है। मूलतः इसमें भेद वहाँ है ? यदि हम उस सब सामग्री का विश्लेषण करें जो इन भिन्न रूपों में हमें हस्तगत होती है तो हमें क्या मिलेगा ?--मनुष्य की कल्पना, उसकी इन्द्रिय-द्वारा-प्राप्त अनुभव, उसके विचार, उसकी भावनाएँ एवं भावात्मक प्रतिक्रियाएँ, उसका ज्ञान, आध्यात्मिक अनुभूति, उसकी सत्यप्रियता जो कहीं सामग्री से अलग हैं, कहीं उसके साथ-साथ चलती है। यदि हम इस विश्लेषण के आधार पर संक्षेप में साहित्य की परिभाषा देना चाहें तो हम कहेंगे—किसी मनुष्य के इन्द्रियजन्य, विचारजन्य एवं आध्यात्मिक अनुभवों पर उसी मनुष्य के अथवा अन्य संवेदनशील अथवा विचारशील मनुष्य के मन और हृदय की जो प्रतिक्रिया होती है, उससे जो वस्तु भाषा द्वारा प्रकट होती है, वह साहित्य है। यदि हम केवल ललित साहित्य तक ही सीमित रहना चाहें तो "कलाबोध के द्वारा परिचालित" ये शब्द "भाषा द्वारा प्रकट" के आगे जोड़ दे सकते हैं।

परन्तु फिर भी हमें समझ रखना चाहिये कि "साहित्य" अत्यन्त व्यापक शब्द है। उसे एक किसी निश्चित परिभाषा में बाँधना कठिन है। परन्तु यदि हम जान लें कि साहित्य में क्या चीजें होती हैं, तो यही अलम् है। साहित्य नाम से जो चीज हमारे सामने चलती है वह लिपिबद्ध या अक्षरबद्ध (या शब्द-

बद्ध, क्योंकि अक्षर तो संकेत मात्र हैं ध्वनि के) जो गद्य पद्य दोनों रूपों में हमारे सामने आती है। इसमें मनुष्य के विचार उसकी कल्पना उसकी अनुभूतियाँ प्रकट होती हैं। इसलिये हम एक व्यापक परिभाषा इस प्रकार भी बना सकते हैं—"साहित्य व्यक्ति के अथवा मनुष्य जाति के विचारों, कल्पनाओं और अनुभूतियों का लिपिबद्ध रूप है।"

हम किसी भी वस्तु को तीन प्रकार से देखते हैं:—इन्द्रिय द्वारा, विचार द्वारा और हृदयावेश द्वारा। वास्तव में पहले दोनों प्रकारों का देखना इतना साफ़ होता है कि जिस वस्तु को हम देखते हैं उसका असली रूप हमारे विचारों में से छन कर ही हमें प्राप्त होता है। यह नहीं कि हम वस्तुओं को केवल वाह्य-इन्द्रियों द्वारा ही कभी नहीं देखते, ऐसा भी होता है परन्तु उससे ऊँचे साहित्य का निर्माण नहीं होता। तीसरे प्रकार का देखना वह होता है जब हम वाह्य वस्तु या विचार को हृदय की भावनाओं में रँग कर देखते हैं। इससे रस-प्रधान साहित्य की सृष्टि होती है। परन्तु बहुधा तीनों प्रकार का देखना साथ-साथ चलता है। हम ज्ञानेन्द्रियों द्वारा वाह्य पदार्थ-संसार को देखते हैं, मस्तिष्क का प्रयोग करके उसे अन्य वस्तुओं की वीथिका देकर एक नया रूप देते हैं, उस पर हृदय का प्रयोग करके अपनी "छाप" लगा देते हैं। साहित्य के मूल में यही तीनों प्रकार की दृष्टियाँ हैं।

प्रत्येक देश और जाति के साहित्य में हमें तीन वस्तुए मिलेंगी—वह जाति क्या देखती है, क्या सोचती है, उसकी क्या भावनाएँ हैं। कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जिन्हें सब जातियाँ समान रूप से देखती हैं, कुछ विचार ऐसे हैं जिनमें जाति-जाति में भेद नहीं है; अवश्य कुछ किसी विशेष पर अधिक बल देती हैं, कुछ कम,

भाव अधिकतः सब जातियों में समान हैं—वही रति, क्रोध, जुगुप्सा, करुणा, हास, उत्साह। जिस साहित्य का आधार ये समानताएँ हैं, उसे हम "शाश्वत साहित्य" कह सकते हैं। इन्हीं समानताओं के कारण कोई भी महान साहित्यिक रचना सहज ही सब जातियों और सब देशों में लोकप्रियता पा जाती है। परन्तु साहित्य का एक बड़ा भाग ऐसा भी है जो जाति-विशेष और देश विशेष का वस्तु होता है क्योंकि उसका आधार होता है जाति-देशगत विशेषताएँ। इस विशेष साहित्य में उस जाति का विशेष दृष्टिकोण, उसकी अपनी समस्याएँ, उसका अपना व्यक्तित्व प्रस्फुटित होता है।

परन्तु प्रत्येक युग में कुछ ऐसी विशेषताएँ भी होती हैं जो देश-जाति को पार कर समान रूप से प्रतिष्ठित हो जाती हैं। ये विशेष-युग की अपनी सम्पत्ति होती हैं। इसी कारण एक युग-विशेष के साहित्य में--चाहे वह किसी जाति का हो--बहुत सी समानताएँ रहती हैं। "So, behind the literature of any period lie the combined forces-personal and impersonal--which made the life of that period, as a whole what it was."

यह सब कुछ है परन्तु साहित्य में व्यक्ति का भी स्थान है। साहित्य का निर्माणकर्त्ता व्यक्ति ही होता है। युगगत, देशगत, जातिगत विशेषताएँ उसी के माध्यम द्वारा साहित्य में प्रवेश करती हैं। कारण कि वह युग, जाति, देश की संस्कृतियों से प्रभावित होता रहता है। स्वयम् उसके व्यक्तित्व के निर्माण में इनका कम हाथ नहीं रहता। शाश्वत गुण भी उसी के द्वारा प्रवेश करते हैं क्योंकि मनुष्य सब जगह समान है। परन्तु जहाँ छोटे साहित्यकारों की रचनाएँ इन प्रभावों के नीचे दब जाती

हैं वहाँ बड़े साहित्यकार कुछ ऐसी चीज भी दे जाते हैं जो उनकी अपनी होती है। बाद में वही चीज उनके साहित्य के द्वारा युग, देश, जाति को प्रभावित करके उनकी भी हो जाती है। तुलसी के साथ में रामभक्ति का उत्साह उनकी वैयक्तिक वस्तु है। वह युग की वस्तु है। वह युग की वस्तु उतनी नहीं है जितनी वह तुलसी के काव्य के माध्यम से युग को प्रभावित करती है।

साहित्य और विज्ञान में क्या भेद है? साहित्य का आधार है लौकिक ज्ञान और कल्पना। विज्ञान का आधार है प्रयोग और प्राप्ति। साहित्य कहता है--चाँद सुन्दर है, रमणी के मुख की तरह, वास्तव में रमणी के मुख से कुछ ही थोड़ा। विज्ञान कहता है—नहीं, चाँद उसी तरह कठोर, निर्जीव, धरातल और पहाड़ों का पिंड है जैसे यह हमारी पृथ्वी है। वहाँ सुन्दरता की कोई बात नहीं। साहित्य कहता है—गुलाब फूलों का राजा है। विज्ञान कहता है--नोचो, ये पत्ते हैं—ये पंखुड़ियाँ, ये डिम्ब, यहाँ कहाँ है राजापन। साहित्य कहता है मेरी बात सच है, विज्ञान कहता है मेरी बात। सामञ्जस्य इस प्रकार बिठाया गया है—साहित्य भी सच कहता है, उसका सत्य कल्पना का सत्य है, विज्ञान भी सच कहता है, उसका सत्य वास्तविक सत्य है। देखा यह गया है कि जो कल कल्पना में सत्य था, वह आज वास्तव में सत्य हो गया है; जो आज वास्तव में सत्य है, वह कभी कल्पना में भी सत्यरूप पा सकता है। इसी से विज्ञान और साहित्य के बीच की रेखाएँ खींचना कठिन है। मनुष्य के विकास के प्रारम्भ में विज्ञान और साहित्य एक थे, अब जब कोई आइंस्टाइन विराट सृष्टि की कल्पना करता है तो भी विज्ञान और साहित्य की रेखाएँ मिल जाती है।

साहित्य के स्रोत के मूल में आदिम युग का समाज है। इंगितों, भंगिमाओं और चित्रों से शुरू होकर उसने भाषा का रूप पाया और मनुष्य ने उसे सुरक्षित करने के लिए लिपि का आविष्कार किया। तब से लोकगीतों और कंठस्थ काव्य के रूप में चला आता रहा। वर्तमान युग में छापे के आविष्कार ने इसके अनेक रूप कर दिये और काव्य के अतिरिक्त गद्य में भी इसका प्रकाशन सम्भव हो गया। आज साहित्य अनेक रूपों में इतनी बड़ी मात्रा में हमारे सामने आ रहा है कि हमें उसे अगली पीढ़ी के लिए सुरक्षित करने के लिए बड़े-बड़े पुस्तकालयों की आवश्यकता पड़ी हैं। इस संचित साहित्यकोष ने हमारी सभ्यता के विकास की गति में सहस्रशः तीव्रता प्रदान की है। सच तो यह है कि यदि साहित्य आज समुद्र में डुबा दिया जाय तो दो-चार पीढ़ियों के बाद हमें फिर बर्बरता से प्रारम्भ करके अब तक का पाठ नये रूप से सीखना पड़ेगा।

३. साहित्य का उद्देश्य

(१) साहित्य के उद्देश्य के सम्बन्ध में मतभेद (२) साहित्य के अंग--भाषा, विचार, कल्पना और भाव (३) दो वर्ग--आनन्दवादी और उपयोगितावादी (४) साहित्य में रस, नीति और बुद्धिवाद की प्रतिष्ठा (५) साहित्य का उद्देश्य विभिन्न युगों, विचारों और संस्थाओं में कलात्मक समन्वय उपस्थित करना है।

साहित्य के उद्देश्य के विषय में बड़ा मतभेद है। मनोविज्ञान कहता है---प्रत्येक जीवधारी "अहं" की भावना को पुष्ट करना चाहता है। वह "अपने" को प्रकाशन करना चाहता है। इसी आत्मप्रकाशन भावना ने मनुष्य के "साहित्य" को जन्म दिया। आदर्शवादी कहता है---वह ऐसा प्रयत्न है जिसके द्वारा

एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के निकट आता है। नीतिवादी कहता है—उससे मन और आत्मा का परिष्करण होता है। कलावादी कहता है—साहित्य का कोई उद्देश्य नहीं। वह स्वतः अपना उद्देश्य है। कलाकार या साहित्यकार जब अपने विचार, भाव या कल्पना प्रकट कर देता है तो उसे कुछ और करना धरना नहीं रह जाता।

साहित्य का साधन भाषा है। परन्तु भाषा ही उसका उद्देश्य नहीं हो सकती। जितनी आवश्यकता मूर्तिकार को पत्थर की है, उतनी ही उपयोगिता साहित्य के निर्माता के लिए भाषा की होगी। जो साहित्यकार भाषा को साहित्य मान लेते हैं, उनके लिए शैली ही सब कुछ हो जाती है। परन्तु यह स्पष्ट है कि कोरे अनगढ़ प्रस्तर में कला का निवास नहीं है। इसी तरह भाषा की कलाबाजी से साहित्य उत्पन्न नहीं होता।

भाषा से आगे बढ़कर हमें मिलते हैं विचार, कल्पना और भाव। विचार यदि कलात्मक ढंग से प्रगट किए जायें तो साहित्य का रूप ग्रहण कर लेते हैं। कलात्मक ढंग हमने इसलिए कहा कि एक और ढंग भी है—उपयोगात्मक या व्यवसायी। कौन ढंग कलात्मक है कौन व्यवसायी, यह सहृदय पाठक जानता है। विज्ञान-सम्बन्धी बहुत-सा साहित्य व्यवसायी साहित्य या उपयोगी साहित्य के अन्तर्गत आ जायगा। कल्पना दो प्रकार की हो सकती है—सार्थक, निरर्थक। इनमें से कौन से प्रकार की कल्पना के भाषाबद्ध कलात्मक रूप को हम साहित्य कहेंगे ? यहाँ पर फिर हमें मतभेद मिलता है। कुछ लोग कहते हैं निरुद्देश्य कल्पना साहित्य नहीं है, वह भले ही दिवः स्वप्न हो, पागल का प्रलाप हो या मनोवैज्ञानिक के लिए एक समस्या हो। साहित्य निरर्थक नहीं होता।

वे लोग कहते हैं—कल्पना का जनहित से कोई न कोई सम्बन्ध होना अवश्य चाहिये, उसे खाली बैठे की उधेड़ बुन नहीं होना चाहिये, जीवन से उसका कोई न कोई सम्बन्ध हो। दूसरे कहते हैं कल्पना में सुन्दरता हो यही बहुत है, वह सुन्दर रूप से प्रकट हुई तो साहित्य बन गई, उसकी उपयोगिता-अनुपयोगिता से क्या हुआ। भावों के विषय में भी मतभेद है। कुछ कहते हैं—भावों को प्रकट कर देना भर साहित्य-निर्माण कर देना है चाहे वह भाव सार्थक हो या निरर्थक, श्लील हो या अश्लील। कुछ कहते हैं—नहीं, भाव श्लील हों, मन का परिष्कार करें पाठक को नैतिकता की उच्च भूमि पर उठाएँ।

साहित्य और उसके उद्देश्य के सम्बन्ध में हमने ऊपर जो विश्लेषण उपस्थित किया है, उसमें सामान्यतः दो वर्गों के लोग मिलेंगे। एक जो कहते हैं--साहित्य का यदि कोई उद्देश्य है तो आनन्द, लिपिबद्ध विचार, कल्पना और भावों के घात-प्रतिघात जब आनन्द दें तो उन्हें साहित्य कहेंगे। दूसरे वर्ग के लोग कहते है--साहित्य उसी रचना को कहेंगे जिसमें कोई सच्चाई प्रकट की गई हो, जिसकी भाषा प्रौढ़, परिमार्जित और सुन्दर हो, और जिसमें दिल और दिमाग पर असर डालने का गुण हो। वह "जीवन की आलोचना" हो या "जीवन का दर्पण हो" या कम से कम जीवन के प्रति एक दम गैर जिम्मेदार नहीं रहे।

रस की दृष्टि से यह ठीक है कि साहित्य का उद्देश्य हमारी अनुभूतियों की तीव्रता को बढ़ाना है; नीति की दृष्टि से यह भी ठीक है कि साहित्य हमारी वासनाओं और हमारे कुसंस्कारों को ही व्यक्त नहीं करे, सुन्दरता के नाम पर भी नहीं। कम से कम वह रुचि को नहीं बिगाड़े; बुद्धि की दृष्टि से वह उसके

(बुद्धि के) साथ व्यभिचार (या खिलवाड़) न करे, उसे भी कुछ दे। "जीवन की आलोचना"--ठीक है, परन्तु जीवन क्या नहीं है। साहित्य में जीवन की आलोचना किस प्रकार हो, किस हद तक हो, ये मतभेद के विषय हैं। जहाँ जीवन का प्रश्न है वहाँ फिर यह प्रश्न होता है- किस समय का जीवन, क्या अतीत, क्या वर्तमान या भविष्य ? और किस वर्ग का जीवन ? वर्गविभेद के इस युग में हमारा ध्यान अमीरों और राजामहाराजाओं और सामंतों से उतर कर साधारण खेतिहारों, मजदूरों, पेशावरों की ओर गया है और हम इन्हीं को साहित्य का अन्तिम लक्ष्य मानने चले हैं। साहित्य के जीवन की आलोचना का क्या रूप हो, यह भी निश्चित नहीं है।

निश्चित रूप से हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि साहित्य में समेट कर चलने की भावना है। यही भावना साहित्य सृजन के मूल में है। मनुष्य चिरकाल से मनुष्य-मनुष्य, जड़-चेतन, दृश्यमान जगत और अदृश्यमान कल्पना-जगत, संस्था-संस्था, विचार-विचार और भाव-भाव में सामञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा करता चला आता है। इस चेष्टा के लिए विचारों, कल्पनाओं और भावों का आदान-प्रदान नितान्त आवश्यक है क्योंकि इन्हीं के द्वारा सम्बन्ध जुड़ता है। अतः, साहित्य के मूल में अपने को दूसरे के निकट बैठाने की भावना काम करती रही है। इस सहयोग की भावना का प्रसार साहित्य का उद्देश्य होना चाहिये।

४. साहित्य समाज का दर्पण है

(१) साहित्य और समाज के अनिवार्य सम्बन्ध की परम्परा (२) साहित्यकार या तो समाज की व्यवस्था स्वीकार कर लेता है या उसका विद्रोह करता है (३) समाजगत और व्यक्तिगत साहित्य (४) हिन्दी

साहित्य के इतिहास से स्पष्टीकरण (२) लेखक के व्यक्तिगत के माध्यम से साहित्य में समाज की प्रतिष्ठा।

साहित्य और समाज का किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध साहित्य के आविर्भावकाल से अब तक चला आ रहा है। ऐसा होना आवश्यक था क्योंकि साहित्यकार समाज का ही प्राणी होता है, वह समाज के व्यवहार, वातावरण, धर्म-कर्म, नीति आदि से ही अपने उपादान चुनता है। ऐसे व्यक्ति की रचना से समाज का अत्यन्त निकट का सम्बन्ध न हो, यह कैसे हो सकता है। आदि काव्य 'रामायण में बाल्मीकि ;ने रामकथा के रूप में एक सामाजिक व्यवस्था को ही हमारे सामने रखा है। राज्य और कुटुम्ब की अपने समय की व्यवस्था को कवि ने स्वीकार कर आदर्श रूप दे दिया है।

ऊपर हमने जो कुछ कहा है उससे साहित्य और समाज का एक ही प्रकार का सम्बन्ध प्रकट हुआ है अर्थात् साहित्यकार समाज की व्यवस्था स्वीकार कर लेता है और उसका साहित्य अपने समय के समाज का दर्पण होता है। परन्तु एक दूसरे प्रकार का साहित्य भी है जिसका समाज से दूसरे प्रकार का सम्बन्ध है। यह साहित्य समाज की व्यवस्था की कटु आलोचना करता है अथवा उसे एकदम अस्वीकृत कर देता है। इस साहित्य के ऊपरी उपादान चाहे बाहर समाज के ही हों, परन्तु मूल में यह विद्रोही एवं क्रान्त-दृष्टा होता है। जहाँ पहले वर्ग का साहित्य समाज की मान्यताओं को मान लेता है या कम से कम उसकी त्रुटियों की उपेक्षा करता है, शुतुरमुर्ग की तरत में आँख मूँद कर पड़ा रहता है, वहाँ इस दूसरे प्रकार का साहित्य समाज की नीति-धर्म की मर्यादाओं के प्रति विद्रोह का झंडा खड़ा करता है, पद-पद पर अनेक प्रश्न उपस्थित

करता है। इसके रचयिता ऐसे व्यक्ति होते हैं जो समाज की कल्याण-भावना से प्रभावित होकर उसके प्रति असहिष्णु हो जाते हैं और निर्णीत धारणाओं का विरोध करते हैं। इनके साहित्य में हमें समाज का प्रतिबिम्ब कम मिलेगा, उसकी आलोचना अधिक। देखा गया है कि साधारणतः इस प्रकार के साहित्य का समाज विरोध करता है, परन्तु धीरे-धीरे उसे उसके प्रकाश में अपनी मान्यताओं को बदलना पड़ता है। कुछ समय के बाद ये नई मान्यताएँ फिर जड़ हो जाती हैं, समय से पिछड़ जाती हैं और जहाँ एक वर्ग का साहित्य उन्हें ही पकड़े रहता है, वहाँ दूसरे वर्ग का साहित्य फिर आलोचना करता है। इस प्रकार इस साहित्य में और उसके समय के समाज में लगातार युद्ध होता रहता है। उसके निर्माता उपेक्षित रहते हैं परन्तु आगे के साहित्य और समाज के निर्माण की आधार-शिला उन्हीं के साहित्य पर रखी जाती है।

इस प्रकार हम साहित्य और समाज का सम्बन्ध दो रूपों में देखते हैं--एक है समाज की स्वीकृति का साहित्य, जिसमें हम समाज का प्रतिबिम्ब पाते हैं, और जो अपने समय से सन्तुष्ट रहता है और उसकी वाहवाही लेकर चलता है, दूसरा है समाज की अस्वीकृति का साहित्य जो समाज की आलोचना करके उसे आगे बढ़ाता है और जिसमें हमें समाज के प्रति असन्तोष और उपेक्षा के दर्शन होते हैं। पहला जड़ है, दूसरा सतत प्रगतिशील, सदैव गतिमय। यह भी सम्भव है कि जो साहित्य एक समय गतिशील जान पड़े, वही भविष्य की पीढ़ियों को अत्यन्त रूढ़िवादी जँचे। समाज की मान्यताएँ बदलती रहती हैं। पिछली मान्यताएँ पुरानी पड़ जाती हैं और उनका

साहित्य भी। हाँ, यह अवश्य है कि इन मान्यताओं के सिवा जो अन्य चिरंतन भावनाएँ होती हैं उनका मूल्य उसी प्रकार बना रहता है और उन्ही के कारण महान् कृतियाँ किसी भी युग में पूजी जा सकती हैं।

संक्षेप में हम पहले साहित्य को समाजगत साहित्य कह सकते हैं, दूसरे को व्यक्तिगत। दोनों को प्रेरणा समाज से ही मिलती है, परन्तु मूल बदल जाते हैं। समाजगत साहित्य समाज को स्वीकार ही नहीं करता, उसे उसी तरह बनाये रखना चाहता है; वह प्रतिक्रियावादी है। व्यक्तिगत साहित्य समाज में परिवर्तन चाहता है; वह क्रान्तिवादी या परिवर्तनवादी है। उसकी आँख सदैव भविष्य पर रहती है। वास्तव में, प्रत्येक व्यावस्थमें, चाहे वह सामाजिक हो या राजनैतिक, दो प्रकार की शक्तियाँ काम करती हैं—एक उसके स्थायित्व के लिये प्रयत्न करती है, दूसरी उसे गतिशील देखना चाहती है। यदि पहले प्रकार का साहित्य समाज के स्थायित्व के लिए आवश्यक है तो दूसरे प्रकार का साहित्य उसकी प्रगति के लिए। तुलनात्मक दृष्टि से पहला दूसरे की अपेक्षा कम महत्वपूर्ण है क्योंकि यदि प्रगति की शक्तियाँ ढीली पड़ जायें तो समाज जड़ होकर सड़ जाये और कालान्तर में नाश को प्राप्त हो।

अपने यहाँ के साहित्य के उदाहरण से ये बातें स्पष्ट हो जायेंगी। भक्ति-काव्य, रीति-काव्य और आधुनिक सुधारवादी साहित्य समाज की मान्यताओं को मानते हुए, ग्रहण करते हुए और बिम्बप्रतिबिम्ब भाव से उन्हें अपने में धारण करते हुए चले हैं। वे अपने समय का पूरा प्रतिबिम्ब हैं। उनमें विद्रोह नहीं, स्वीकृति है। इसी कारण उन्हें अपने समय में लोकप्रियता मिली, उनके स्रष्टा पूजे गये। सन्तों के काव्य ने मध्ययुग के

समाज की आलोचना की, उसके स्रष्टा उपेक्षित रहे। वर्तमान समय में साहित्यकार समाज के कटु आलोचक बन गये हैं। समाज का चित्र उपस्थित करते हुए वे उस पर गम्भीर और कड़ी चोट करते हैं। धीरे-धीरे सुधारवादी दृष्टिकोण क्रांतिकारी दृष्टिकोण में परिवर्तित हो रहा है। ये उज्ज्वल भविष्य के लक्षण हैं। यह कहना कठिन है कि किस प्रकार का साहित्य अधिक उन्नत होगा। परन्तु समाज की स्वीकृतिवाले साहित्य को रूढ़िगत भावनाओं, साहित्यिक परंपराओं आदि का सहारा है, अतः उसे प्रौढ़ता के लिए लड़ना नहीं पड़ता। संघर्षमय प्रगतिशील साहित्य को इस प्रकार की रूढ़ियों का सहारा नहीं मिलता। जो हो; समाज के लाभ की दृष्टि से दूसरा ही अधिक उपादेय है, चाहे उसमें कला के उतने अच्छे दर्शन न हों, जितने पिछले साहित्य में।

साहित्य समाज का दर्पण अवश्य है। परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप में उसमें समाज का हृदय बोलता है। कवि समाज का ही व्यक्ति है। उसका साहित्य मनुष्यों से सम्बन्धित होगा, अतः उसमें समाज के चित्र होंगे, समाज के सम्बन्ध में विचार होंगे। ये चित्र और विचार बहुत कुछ उस समाज के ही प्रतिबिम्ब होंगे जिसमें कवि ने जन्म लिया है, जिसने उसके विचारों का निर्माण एवं संस्कार किया है, जिसके वातावरण में वह लिख रहा है। कालिदास विलास-वैभव के युग में रह रहे थे। उन्होंने शिव-पार्वती के नग्न शृङ्गार का वर्णन कर दिया। उनके काव्य में गुप्तकाल की राज्यलक्ष्मी का विलास वैभव झलक रहा है। स्त्रियों की पराधीनता और राजनैतिक उदासीनता के युग में तुलसीदास कहते हैं—

ढोल गँवार शूद्र पशु नारी,
ये सब ताड़न के अधिकारी।

कोउ नृप होउ हमें का हानी,
चेरी छाँड़ि न होवउँ रानी ॥

हरिश्चंद्र के साहित्य में सामाजिक क्रान्ति के चित्र स्पष्ट हैं। यदि साहित्यकार एकदम अध्यात्म नहीं लिखता, यदि वर्ड्स्‌वर्थ के "स्काइलार्क" की तरह उसके गीतों का पार्थिव आधार भी है, तो निस्सन्देह, चाहे वह विरोध ही क्यों न कर रहा हो, उसके साहित्य में उसके समय का समाज, उसकी विशेषताएँ, उनकी चिन्तन-धाराएँ स्थान पायेंगी।

५. कविता जीवन की आलोचना है

(१) भूमिका (२) आर्नल्ड की इस उक्ति की सीमाएँ (३) कल्पना के सत्य और जीवन के सत्य का सामञ्जस्य (४) आर्नल्ड भी कविता को एकमात्र जीवन की आलोचना नहीं मानते (५) आर्नल्ड का सच्चा मंतव्य।

अँग्रेज आलोचक मेथ्यू आर्नल्ड के ये कुछ शब्द आज प्रत्येक समीक्षक की लेखनी पर नाच रहे हैं—"काव्य जीवन की समालोचना है।" लोग कहते हैं, उत्कृष्ट काव्य जीवन के सत्य और सुन्दर का प्रतिरूप मात्र है। मेथ्यू आर्नल्ड ने कविता को "Criticism of Life" कहा तो, परन्तु उन्होंने कहीं भी इस उक्ति को विवेचनापूर्वक स्थापित नहीं किया, फल-स्वरूप "जीवन की आलोचना काव्य किस रूप में है" इस सम्बन्ध में प्रतिदिन तर्क-कुतर्क चलते रहते हैं।

वास्तव में आर्नल्ड ने इस उक्ति को कथाकाव्य के सम्बन्ध में प्रकाशित किया। होमर, गेटे, शेक्सपियर प्रभृति महाकाव्य-कारों की कृतियों में मनुष्य-जीवन के प्रति जो लोकोत्तर संदेश निहित हैं, उसी की ओर कवि का व्यंग है, यह निश्चित है।

इन महाकवियों के प्रसंग में भी हम "आलोचना" शब्द का अर्थ उस प्रकार नहीं ले सकते। जिस प्रकार का अर्थ हम राजनीति-पंडित या अर्थशास्त्री या साहित्य शास्त्री की आलोचना का लेते हैं। कारण कि काव्य न राजनीति है, न अथशास्त्र है, न साहित्य-शास्त्र। उसमें अभिधा कम है, व्यंजना अधिक। इन महाकवियों में से प्रत्येक ने उस समय का जीवन क्या था, कैसा होना चाहिये, इस सम्बन्ध में सुबद्ध तर्कमंडित बात कोई भी नहीं कही। वैसे अपने समय के जीवन से उठ कर एक आदर्श जीवन बनाने की भावना उनमें है।

हमें यह भी याद रखना चाहिये कि आर्नल्ड ने काव्य को Truth of Substance भी कहा है उसमें high poetic seriousness की भी वांछनीयता प्रगट की है। उन्होंने और भी कहा है—"The high seriousness which comes from absolute sincerity फिर आर्नल्ड केवल कथात्मक काव्य के ही आलोचक नहीं हैं, उन्होंने ही गीतकार शैली के विषय में कहा है—"that beautiful spirit building his many-coloured haze of words and images pinnacled dim in that intense urge"। इन सब बातों का सामञ्जस्य होना चाहिये।

एक और शब्द है—"Poetic truth" "कल्पना का सत्य या काव्य सत्य।" प्रश्न यह है कि कल्पना के सत्य और जीवन के सत्य में क्या सम्बन्ध है? मनुष्य अपनी कल्पना को प्रमाणित करता हुआ जिस मनोहर स्वर्ग-सृष्टि का निर्माण करता है—जिसमें पाप का फल सदा ही बुरा है, पुण्य का फल सदैव सुन्दर है—उसकी ईश्वर की सृष्टि से संगीत किस प्रकार बैठे?

क्या कल्पना के स्वर्ग एकदम अवाञ्छनीय हैं? क्या कवि ईश्वर की सृष्टि को दर्पण की तरह झलका भर दे?

जिस कल्पना में वास्तविक जीवन के प्रति कोई गहरी अनुभूति नहीं, जो हमारे परिचित जीवन पर आश्रित नहीं, जिसके पैर धरती पर टिकते ही नहीं, वह उद्देश्यहीन है, निरर्थक है। उस कविता में absolute sincerity (सच्चाई) कहाँ होगी; high seriousness (गम्भीरता) कहाँ; वह Truth of Substance (सृष्टि का रहस्य सत्य) से अनुप्राणित ही नहीं। परन्तु आर्नल्ड कविता को विचारात्मक जीवन दर्शन से ऊपर उठा देखना चाहते हैं, यह भी निश्चय है। उनकी ही उक्ति है--"For supreme of success more is required than the powerful application of ideas to life It must be an application under the condition fixed by the laws of poetic truth and poetic beauty." स्पष्ट है, आर्नल्ड भी कविता को उस हठ से एकमात्र जीवन की आलोचना नहीं मानते हैं जिस हठ पर कई आधुनिक आलोचक अड़े हुए हैं।

आर्नल्ड का मंतव्य इतना ही है कि कविता भावविलास-मात्र, कल्पनाविलास-मात्र एवं चिंताविलास-मात्र नहीं है। महान् कवि के अंतर्जगत और वहिर्जगत में पूर्ण सामञ्जस्य रहता है। जो कवि जीवन और जगत केव्यवहार से परिचित नहीं है, जिसने सृष्टि रहस्य की उपेक्षा की, जागृत प्रत्यक्ष की अवहेलना कर जो अपने स्वतः रचित मोह विकार और स्वप्न प्रलाप के मायाजाल में फँस गया है, उसे काव्य के सत्य की अनुभूति नहीं हो सकती और वह उत्कृष्ट काव्य की रचना नहीं कर सकता। हमारे देश में एक वर्ग ने कवि-कर्म को कौशल माना

है। उसने काव्यवस्तु अर्थात् काव्य के अंतरंग को प्रधानता न देकर उसके बहिरंग को श्रेष्ठता दी है। उसके लिये अलंकार ही सब कुछ है। यदि हम आर्नल्ड की उक्ति रख सकते हैं तो उनके सामने की कविता अलंकारों से भिन्न है, कि वह निरुद्देश्य नहीं है, कि केवल अलंकार और विभावानुभाव के ढाँचों में बँधकर पद्य कविता नहीं हो जाता। इसके अतिरिक्त इस प्रसिद्ध उक्ति में और कुछ तथ्य ही नहीं है।

६. साहित्य में शैली का स्थान

(१) भूमिका (२) शैली की परिभाषाएँ (३) चिंताधर्मी शैली और अनुभूतिधर्मी शैली—दूसरे प्रकार की प्रमुखता (४) भाव प्रधान शैली (५) तीनों प्रकार की शैलियों के उदाहरण और उनका स्पष्टीकरण (६) तीनों प्रकार की शैलियों के मूल की व्यक्तिगत चेष्टा (७) व्यक्तित्व के प्रकाशन की अनेकमुखता ही शैली-वैभिन्न्य का कारण है।

अंग्रेजी में जिस परिभाषा में "Style" शब्द का प्रयोग होता है, लगभग उसी परिभाषा में हिन्दी में "शैली" शब्द का प्रयोग हो रहा हैं। उसकी "भाषा शैली सुन्दर है" "उसकी शैली चमत्कार है", "द्विवेदी जी की शैली", "हरिश्चंदी भाषा"—इस प्रकार के कितने ही वाक्य प्रतिदिन प्रयोग में आते हैं। अतः यह जानना उपादेय है कि शैली वास्तव में है क्या और साहित्य में उसका क्या स्थान है ?

शैली की कई परिभाषाएँ चल रही हैं—personal idiosyncrasy of expression", "a complete fusion of the personal and the universal", "a projection of author's personality", "style is the man himself"। इस तरह की कितनी ही परिभाषाएँ और भी हैं। किसी भी परिभाषा में शैली कहीं पूरी-पूरी नही बँधती।

साहित्य मनुष्य के मन और हृदय की अभिव्यक्ति है। मन का क्षेत्र है चिन्ता, हृदय का क्षेत्र है अनुभूति। अतः साहित्य में क्रमानुगत, तर्कशील विचार भी रहते हैं और भावप्रधान अनुभूति भी। इस प्रकार साहित्य के दो भेद हो जाते हैं—चिंताधर्मी साहित्य और अनुभूतिधर्मी साहित्य। हमें यह देखना है कि इन दोनों का शैली से क्या सम्बन्ध है?

चिन्ताधर्मी साहित्य में शैली का अर्थ है-"the power of lucid expression of a sequence of ideas" यहाँ पर लेखक को अपनी चिन्तावस्तु को प्रस्फुटित रूप में रख देना भर होता है। उसे व्यक्तिगत वैशिष्ट्य प्रदान करने की आवश्यकता नहीं। लेखक की साधना यही होगी कि वह विषय को सुस्पष्ट भाषा में युक्तियुक्त बना कर कागज पर उतार दे। यहाँ हमें भाषा सुस्पष्ट, मार्जित, संस्कृत रूप में मिले, इससे अधिक हमें कुछ नहीं चाहिये। यदि लेखक इस प्रकार की शैली में भी विशेषत्व लाना चाहेगा तो उसका रूप idiosyncrasy of expression या "रीति" होगा।

परन्तु साहित्य का दूसरा पक्ष अधिक महत्वपूर्ण है। वास्तव में उपन्यास, कविता, नाटक, गद्यकाव्य सभी अनुभूति-धर्मी हैं। यहाँ चिन्ता प्रधान नहीं है, भाव प्रधान है। इनमें लेखक की भावना कल्पना, अपरोक्ष अनुभूति, अंतर्दृष्टि शब्दों से इस प्रकार मिलकर उपस्थित होती है कि हम दोनों को अलग-अलग नहीं कर सकते हम यह नहीं कह सकते—"यह रही वस्तु, यह रही भाषा" इस जाति की रचना में भाव ही भाषा का रूप ग्रहण कर लेता है। पहली जाति के चिन्ताधर्मी साहित्य में भाव भाषा में अर्थ सम्बन्ध होता है, यहाँ मूर्ति-सम्बन्ध। अनुभूति-धर्मी साहित्य में जिस भाषा का प्रयोग होता है, वह मस्तिष्क परिचालित भाषा

या मानसिक क्रिया नही है। प्राञ्जलता और दुर्बोधता उसके गुणदोष नहीं हैं। वह शब्दार्थ की सहकारिता से अशरीरी भाव को शरीरी बना कर पाठक के मन तक पहुँचाती है—यही उसकी सार्थकता है। भाववैशिष्ट्य के साथ रूपवैशिष्ट्य चलता है। यहाँ भाषा भाव से अलग नहीं हैं, दोनों का पूर्णातिपूर्ण सहयोग ही चरमावस्था है। "सत्य" को प्रगट करने के लिये जितनी भाषा की आवश्यकता पड़ती है, "सुन्दर" को प्रकट करने के लिए उससे अधिक की आवश्यकता पड़ती है। यहाँ हमें शैली का व्यक्तिगत प्रयोग मिलेगा परन्तु वह कितना भाव प्रगट करने की आवश्यकता से अस्तित्व में आया है कितना व्यक्ति वैशिष्ट्य के कारण, यह कहना कठिन होगा।

परन्तु शैली का एक तीसरा रूप भी है जहाँ भाव प्रधान होता है, भाषा भाव के पीछे चलती है। कहीं-कहीं भाव की गति में भाषा हास्यास्पद भी जान पड़ सकती हैं। गंभीरतम अनुभूति के प्रकाशन के प्रयास में साधारण भाषा असाधारण रूप में प्रयुक्त होती है। अनुभूति तब भाषा से बाहर फूट पड़ती हैं और तब उसके शब्दार्थ और भावार्थ बहुत पीछे पड़ जाते हैं। इस दशा में भी उसमें वैशिष्ट्य रह सकता है परन्तु साथ ही सर्वगुणनिरपेक्षता का गुण भी रहेगा। वास्तव में, वाक्य विशेष के भीतर निर्विशेष व्यंजना परिस्फुट हो जाती है। हम उदाहरण देकर अपनी बात प्रगट करेंगे—

"रस संचार से आगे बढ़ कर हम काव्य की उस उच्च भूमि में पहुँचते हैं जहाँ मनोविकार अपने शारीरिक रूप में ही न दिखाई देकर जीवन व्यापी रूप मे दिखाई पड़ते हैं। इसी स्थायित्व की प्रतिष्ठा द्वारा शीलनिरूपण और पात्रों का चरित्र चित्रण होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस उच्च भूमि पर

फुटकरिए कवि पीछे छूट जाते हैं; केवल प्रबन्ध कुशल कवि ही दिखाई पड़ते हैं। खेद के साथ कहना पड़ता है कि गोस्वामी जी को छोड़ कर हिन्दी का और कोई पुराना कवि इस क्षेत्र में नहीं दिखाई पड़ता।"

यह चिन्ताधर्मी साहित्य की साधारण शैली है।

"सात समुद्र पार कर इंगलैंड वाले यहाँ आते हैं और न जाने कितना परिश्रम और खर्च उठा कर यहाँ की भाषाएँ सीखते हैं। फिर अनेक उत्तमोत्तम ग्रन्थ लिख कर ज्ञानवृद्धि करते हैं। उन्हीं के ग्रन्थों को पाकर हम लोग अपनी भाषा और अपने साहित्य के तत्त्वज्ञानी बनते हैं। खुद कुछ नहीं करते। सिर्फ व्यर्थ कालातिपात करते हैं। अंग्रेजी लिखने की योग्यता का प्रदर्शन करते हैं। घर में घोर अंधकार है, उसे तो दूर नहीं करते; विदेश में, जहाँ गैस और बिजली का रोशनी हो रही हैं चिराग जलाने दौड़ते हैं।"

यह उसी जाति की वैशिष्ट्य-प्रधान शैली है। लेखक की वाक्यभंगिमा आदि व्यक्तिगत हैं। इस वैशिष्ट्य प्रधान चिन्ता धर्मी शैली के व्यक्ति के अनुसार अनेक भेद हो सकते हैं। दोनों-प्रकार की शैलियाँ Objective हैं परन्तु दूसरे प्रकार की शैली में साथ ही कौशल ("रीत") का भी प्रयोग है। इस प्रकार की शैलियों में लेखक का ध्येय रहता है भाषा की विशुद्धता और रीति-सौष्ठव का प्रदर्शन।

दूसरे प्रकार की शैली के कुछ उदाहरण होंगे—

१—"कौन कहता है तुम अकेले हो। समग्र संसार तुम्हारे साथ है। स्वानुभूति को जाग्रत करो! यदि भविष्यत् से डरते हो कि तुम्हारा पतन ही समीप है, तो तुम उस अनिवार्य स्रोत से लड़ जाओ! तुम्हारे प्रचण्ड और विश्वासपूर्ण पदाघात से विन्ध्य

के समान कोई शैल उठ खड़ा होगा, जो उस विघ्न-स्रोत को लौटा देगा। राम और कृष्ण के समान क्या तुम अवतार नहीं हो सकते ?—समझ लो, जो अपने कर्मों को ईश्वर के कर्म समझ कर सकता है वही ईश्वर का अवतार है। उसमें पुरुषार्थ का समुद्र पूर्ण हो जाता है।"

२—"रोज की बात है। तुम भी देखते हो, मैं भी देखता हूँ, दुनिया भी देखती है। सायंकाल अस्ताचल की छाती पर पतित मूर्च्छित दिनमणि कैसा अप्रसन्न, कैसा निर्जीव रहता है। वह गुलाबी लड़कपन नहीं, वह चमकती दमकती गरम जवानी नहीं, वह ढलता हुआ कंपित करोंवाला व्यथित बुढ़ापा भी नहीं। श्री नहीं, तेज नहीं, ताप नहीं, शक्ति नहीं। उस समय सूर्य को उसकी दिन भर की घोर तपस्या, रसदान, प्रकाशदान का क्या मूल्य मिलता है। सवनाश, पतन, उस पार क्षितिज के चरणों के निकट, समुद्र की हाहामयी तरंगों के पास—पतित सूर्य की चिता जलती है। माथे पर सायंकाल रूपी-काल चंडाल खड़ा रहता है। प्राची की अभागिन बहिन पश्चिमा 'आग' लगाती है। दिशाएँ व्यथित रहती हैं, खून के आँसू बहाती रहती हैं।"

३—"आपको अपने सामने कठिनाइयों की फौजें खड़ी नजर आयेंगी। बहुत संभव है आपको उपेक्षा का शिकार होना पड़े। लोग आपको सनकी और पागल कह सकते हैं। कहने दीजिये। अगर आपका संकल्प सत्य है, तो आप में से हरेक एक-एक सेना का नायक हो जायगा। आपका जीवन ऐसा होना चाहिये कि लोगों को आप में विश्वास और श्रद्धा हो। आप अपनी बिजली से दूसरों में भी बिजली भर दें। हरएक पंथ की विजय उसके प्रचारकों के आदर्श जीवन पर निर्भर होती है। अयोग्य

व्यक्तियों के हाथ में ऊँचा-से-ऊँचा उद्देश्य भी निंद्य हो सकता है। मुझे विश्वास है, आप अपने को अयोग्य न बनने देंगे।"

इन उदाहरणों में भाव का स्वच्छंद और सुसंगत प्रकाश भाषा के माध्यम से फूट कर पाठक को लोकोत्तर आनन्द या रस की अनुभूति कराता है या वातावरण की सृष्टि करता है। प्रयास की विशिष्टता के कारण भावों के अनुरूप भाषा-भङ्गिमा अनिवार्य हो उठती हैं। लेखक भाव को अतिशय नूतन, असाधारण और अपूर्व कल्पित रूप में ग्रहण करता है, अतः उसकी भाषा भी नूतन, असाधारण और अपूर्व कल्पित हो जाती है। मनःधर्मी साहित्य की अपेक्षा इस हृदयधर्मी साहित्य में व्यक्तिगत शैलियों की विभिन्नता के लिए अधिक स्थान है। यहाँ "वस्तु" का अध्ययन इतना आवश्यक नहीं, जितना "भाव" का।

तीसरी प्रकार की रचना का एक कविताबद्ध उदाहरण इस प्रकार है--

जिसने मरोड़ डाला बादल जो सजा हुआ था सजल वीर !
केवल पल भर में दिया हाय, किसके विद्युत का हृदय चीर !
इतना विस्तृत होने पर भी क्यों रोता है नभ का शरीर !
वह कौन व्यथा जिस कारण है सिसका करता नभ में समीर !

हम देखते हैं कि तीनों प्रकार की शैलियों में व्यक्तिगत चेष्टा है। कारण भिन्न-भिन्न हैं—

एक भाषा को लेकर कलाप्रदर्शन की अभिलाषा या पांडित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति (रीति)

दो, अतिशय मौलिक प्रेरणा के वशीभूत होकर लेखक अनन्य साधारण अनुभूति को उसी रूप में प्रकट करना चाहता है जिस रूप में उसने उसे ग्रहण किया है, अतः भाषाभङ्गिमा अनिवार्य है।

तीन, लेखक भाव को अधिक प्रधानता देना चाहता है अतः वह बहुत कुछ अनुभूतिवश, कुछ रीतिवश, भाषा का व्यक्तिगत प्रयोग अथवा अत्यन्त असामान्य प्रयोग करता है जो अनुभूति पर से दृष्टि हटा लेने पर हास्यास्पद होगा। यहाँ भाषा प्रतीक बन जाती है!

पूर्व के साहित्य में दूसरे प्रकार की शैलियों की प्रधानता है। हमारे कवियों और गद्यकारों की चेष्टा यही रही है कि भाव को पूर्णतः भाषाबद्ध कर दें, अतः शब्द-योजना नाद-सौन्दर्य और शब्दार्थ व्यंजना को अत्यन्त महत्व मिला है। भाव की स्वतः कोई भाषा नहीं। साहित्यकार भाषा-द्वारा भाव से उसी रूप में पाठक को संक्रमित करना चाहता है जिस रूप में उसने उसका अनुभव किया है—एक भाव या भावावस्था एक अनुभूत-चित्र—किसी एक सुनिर्दिष्ठ अर्थ-समन्वित तत्त्व को पाठक के सामने रखना उसे नहीं है। उसकी अनुभूत वस्तु-निर्विशेष है, साधारण है, परन्तु उसे ठीक भाव का चित्र देना है, यही चेष्टा उसकी रचना को विशेषत्व प्रदान करती है। वास्तव में शैली क्या होगी, यह उसकी अनुभूति की तत्परता और तीव्रता पर अवलंबित है। दूसरे भावोद्रेक के अनेक कारण हैं। बाहर की वस्तु, घटना, दृश्य ये एक प्रकार की अनुभूतिमय चित्र शैली की प्रतिष्ठा करेंगे। भीतर की वस्तु, चिन्तानुभूति, रहस्यानुभूति, भावानुभूति—इनकी प्रेरणा से शैली के दूसरे ही प्रकारों का जन्म होगा। यही नहीं, अनुभूति रूप को कितना अधिक सहारा देती है, कितना कम, इस हिसाब से शैलियों के कितने ही रूप हो जायेंगे।

संक्षेप में, शैली की समस्या अत्यन्त जटिल है। मनुष्य के व्यक्तित्व की भाँति इसके प्रकाश के भी अनेक मुख हैं। यह सब

समझ कर हमें शैली को साहित्य में सर्वोच्च स्थान देना होगा। साहित्य का लक्ष्य है भावानुभूति। भावानुभूति का रूप है शैली। अतः शैली साहित्य की गौण समस्या नहीं, मुख्य समस्या है।

७. साहित्य और आलोचना

(१) साहित्य और आलोचना का सम्बन्ध (२) सौन्दर्यवादी वर्ग कहता है कि आलोचना करने से साहित्य का रस नष्ट हो जाता है (३) नीतिवादी सदासद् के विचार को ही आलोचना समझते हैं (४) साहित्यिक और वैज्ञानिक, आलोचनाएँ (५) वैज्ञानिक समालोचना के भेद--व्याख्यात्मक, निर्णयात्मक (६) अन्य प्रकार ऐतिहासिक तुलनात्मक, मनोवैज्ञानिक, समाजवादी।

साहित्य और आलोचना में अत्यन्त निकट का सम्बन्ध है। अत्यन्त प्राचीनकाल से हम इन दोनों को साथ-साथ चलता पाते हैं। जहाँ साहित्य है, वहाँ किसी न किसी रूप में समालोचना भी है। वास्तव में प्रत्येक वस्तु के परखने और उसके गुणदोष निश्चित करने की प्रवृत्ति प्रत्येक मनुष्य में होती है। ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से प्रत्येक मनुष्य को किसी भी वस्तु के लिए "अच्छी है या बुरी है या इस श्रेणी की।" इस प्रकार कुछ निश्चित करना होता है। आलोचना के मूल में भी यही भावना है। आलोचक साहित्य को परखता है, उसके गुण-दोष का निर्णय करता है, उसकी सामान्य विशेषताओं की रूपरेखा निर्धारित करता है।

एक वर्ग यह कहता है कि आलोचक हमें नहीं चाहिये। हम काव्य तक स्वयम् पहुँचेंगे। हमें किसी दलाल की आवश्यकता नहीं जो हमें उसके कुछ गुण-दोष सुझावे। उनका कहना है कि

साहित्य का विषय आनन्द है। आलोचना हृदय के ऊपर मस्तिष्क की विजय है। अतः आलोचना से काव्य या साहित्य से आनंद प्राप्ति में बाधा होती है। कोई काव्य कहाँ सुन्दर है, यह पाठक का हृदय स्वयम् समझ लेगा, आलोचक को समझाना नहीं होगा। इसी प्रकार कलावादी कहते हैं कि कला-कला है; वह निरुद्देश्य है, आलोचक उसमें उद्देश्य की स्थापना करता है, अतः अमान्य है। वह कहता है कि हम फूल की पंखुड़ियाँ नोच-नोचकर जिस प्रकार उसके सौन्दर्य की परख नहीं करते, हमारे हाथ से आनन्द भी चला जाता है; इसी तरह साहित्य का विश्लेषण करने से उसका सौन्दर्य तिरोभूत हो जाता है और उसकी आनंद-प्रदायिनी विशेषता पर आघात होता है। फिर एक और वर्ग कहता है कि लोकरुचि से किसी भी कलावस्तु की परख नहीं होना चाहिये। साहित्य की भी नहीं। कुछ लोग कहते हैं—"भिन्न रुचिर्हिलोकः।" जितने आलोचक उतनी प्रकार की आलोचनाएँ। व्यर्थ की इस छीछालेदर से लाभ? न सब लोगों की रुचि एक-सी है, न रसास्वादन शक्ति, अतः किसी एक आलोचक कहे जानेवाले व्यक्ति की अभिरुचि को अन्य व्यक्तियों के ऊपर लादना अन्याय होगा। यह अवांछनीय भी है, विशेषतः इस विचार-स्वातन्त्र्य के युग में।

परन्तु आलोचना फिर भी लिखी जाती है, पढ़ी जाती है, पढ़ाई जाती है। स्पष्ट है कि मनुष्य-स्वभाव ही ऐसा है कि वह सद्-असद् की विवेचना करने से चूक ही नहीं सकता। आनन्द कहाँ है, उसको कैसे पकड़ें, यह बात भले ही आलोचक बता नहीं सके, परन्तु वह प्रयत्न करता रहेगा और संसार उससे पूछेगा। वास्तव में, अपने क्षेत्र में आलोचना भी उतनी ही आवश्यक वस्तु

है जितनी साहित्य। यदि हीरे का मूल्य है तो पारखी का भी स्थान है।

आलोचना का मूल उद्देश्य यह है कि वह काव्य के सर्वमान्य गुण ढूँढ़ निकाले और उन्हें भावदण्ड के रूप में पाठक को दे जिससे वह किसी भी काव्य को परख सके। नीतिवादी कहते हैं कि समालोचक का काम "सेन्सर"—जैसा है। वह बताए कि कौन साहित्य सत्साहित्य है और गन्दे तथा कुरुचिपूर्ण साहित्य की वृद्धि को रोके। मूल रूप में यह समालोचक का काम नहीं है। कौन सत्साहित्य है, कौन कुरुचिपूर्ण असत् साहित्य है, इस पर विचार करना समाज-सेवक और सरकार का काम है जिनके हाथ में जनता की बागडोर है। समालोचक न सद्सद् साहित्य की रूपरेखा निर्धारित करता है, न कुरुचिपूर्ण साहित्य का ठेकेदार है। कम से कम परोक्ष रूप में वह ऐसा नहीं करता। उसकी समस्या ही दूसरी है—कौन सुन्दर साहित्य है, कौन असुन्दर साहित्य है? सुन्दरता कहाँ है? साहित्य के आनन्द के मूल में क्या प्रवृत्तियाँ काम करती हैं? साहित्य के रसास्वादन को अधिक से अधिक आनन्दपूर्ण कैसे बनाया जाय?

परन्तु आज समालोचक इन्हीं प्रश्नों पर विचार नहीं करता, लोग उससे और भी बहुत-सी बातें चाहते हैं, जिससे उसने अपने क्षेत्र का विस्तार कर लिया है। वह वैज्ञानिक और नीतिवादी हो गया है। आज मूल रूप से दो प्रकार की आलोचना शैलियाँ चल रही हैं—एक को साहित्यिक शैली और दूसरी को वैज्ञानिक शैली कहेंगे। साहित्यिक शैली के समीक्षक कहते हैं कि आलोचना भी साहित्य है। उसका काम साहित्य की सुन्दरता असुन्दरता की विवेचना ही नहीं है। उसका काम है कि वह भावोद्रेक और रसोद्रेक द्वारा पाठक को सुन्दर काव्य या साहित्य की ओर

अभिमुख करे। वह अपनी आलोचना को अलंकार, शैली, रस जैसे काव्योपयोगी वस्तुओं से पुष्ट करता है। वैज्ञानिक शैला के आलोचक कई वर्गों में बँटे हुए हैं यद्यपि उनका दृष्टिकोण एक है। उनके लिए साहित्य के विश्लेषण और सश्लेषण का नाम ही आलोचना है यद्यपि वे यह स्वीकार करते हैं कि उन्हें आलोच्य पुस्तक से बाहर जाकर कवि के वातावरण, उसके समाज, उसकी मनोस्थिति आदि तक भी पहुँचना होगा। इस तरह वैज्ञानिक समालोचना के कई भेद हो जाते हैं।

(१) शुद्ध व्यक्तिगत साहित्यिक आलोचना जिसमें केवल साहित्यिक रचना को ही लिया जाता है, न कवि के जीवन और साहित्य में कोई सम्बन्ध स्थापित किया जाता है, न समाज और आलोच्य साहित्य में ही। इसके दो रूप हो सकते हैं (क) व्याख्यात्मक, (ख) निर्णयात्मक। व्याख्यात्मक आलोचना निर्णय तक नहीं जाती। वह कवि का स्थान निर्धारित नहीं करती। निर्णयात्मक आलोचना व्याख्या से आगे बढ़ कर कवि के काव्य के सुन्दर-असुन्दर स्थलों और कवि के स्थान के सम्बन्ध में व्यवस्था देती है। निर्णयात्मक आलोचना का एक रूप वह भी है जो वैज्ञानिक आलोचना और व्याख्या को छोड़-कर अनुभूति को ही आधार मान कर चलता है। इस प्रकार की आलोचना की परंपरा बड़ी पुरानी है—

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थ गौरवम्।
भवभूतिः रसगंभीरम् माघस्यंति त्रयोगुणम्॥
सूर सूर तुलसी ससी उडुगन केसवदास।
अब के कवि खद्योत सम जहँ तहँ करत प्रकास॥

इस प्रकार की सूक्तियाँ 'निर्णयात्मक' आलोचना के भीतर आ सकती हैं।

(२) ऐतिहासिक आलोचना जिसमें कवि पर तत्कालीन इतिहास, समाज और संस्कृति के वातावरण पर प्रभाव आँका जाय और साथ ही साहित्यिक परंपराओं के बीच में उसकी स्थापना की जाय। साहित्यिक भी समाजिक प्राणी है, अतः वह भी इन प्रभावों से अछूता नहीं रह सकता।

(३) तुलनात्मक आलोचना जिसमें पूर्ववर्ती, समकालीन और परिवर्ती साहित्यिकों के साथ कवि और उसकी सामग्री की तुलना की जाती है और इस प्रकार उसके महत्त्व को स्थापित किया जाता है।

(४) मनोवैज्ञानिक आलोचना जिसमें कवि के जीवन और काव्य तथा काव्यांगों में सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। इस वर्ग के आलोचक काव्य में मनोस्थिति का चित्रण या अंकन मात्र मानते हैं।

(५) समाजवादी आलोचना जिसमें साहित्य को वर्गविशेष की उपज मानकर सामाजिक आवश्यकताओं के सहारे उसका मूल्यांकन किया जाता है। ऐतिहासिक आलोचना से यह इसलिए भिन्न है कि यह दृष्टिकोण केवल "वर्ग संघर्ष" तक ही सीमित है। अनेक ऐतिहासिक तत्त्वों में इसने उसी तत्त्व को चुन लिया है।

८. काव्य में कल्पना

(१) भूमिका, (२) "अलंकार" ,में कल्पना का स्थान, (३) कल्पना की भित्ति अव्यवहार नहीं, व्यवहार है, (४) काव्यगत कल्पना के रूप, (५) काव्य में कल्पना का महत्व, (६) कल्पना का आनन्द (७) कल्पना ही कविसत्य की जननी है, (८) कल्पना में संयम और उच्छृङ्खलता।

काव्य में कल्पना का महत्त्वपूर्ण ·स्थान है, इसमें कोई संदेह

नहीं। कवि हमारी प्रतिदिन की परिचित वस्तुओं को अपरिचित गुणों से विभूषित करता है और उनके सौन्दर्य की ऐसी छटा दिखलाता है जो हमारे सामने पहली ही बार आती है। काव्य का मूल ढाँचा भले ही वास्तविक अनुभव, लोक ज्ञान आदि पर खड़ा हो, इसमें कोई सन्देह नहीं कि कल्पना उसका प्राण है।

हमारे आचार्यों के एक वर्ग ने कल्पना की महत्ता समझकर "अलंकार" को ही कविता कह दिया था। "अलंकार" का आश्रय कल्पना ही है। हम इतनी दूर तक नहीं जा सकते परन्तु कल्पना की काव्योपयोगिता में हमें अटल विश्वास है। उत्कृष्ट काव्य से यदि कल्पना का अंश निकाल दिया जाय तो रसपूर्ण स्थल अवश्य रह जायेंगे परन्तु काव्य का कौतूहलवर्द्धक, नित्य नवीन अपार्थिव अंश नष्ट हो जायगा। महाकवि के काव्य में पग-पग पर कल्पना और वास्तविकता का आश्चर्यजनक गठबन्धन होता रहता है। उसका मूल्य कम नहीं है। तुलसी के काव्य के अलंकार सम्बन्धी स्थल निकाल लिए जायें तो रामचरित-मानस की साहित्यिक महत्ता की बहुत कुछ क्षति हो जायगी। यही नहीं, धार्मिक भावना को भी चोट लगेगी। सीता के सौंदर्य के लिए तुलसी कल्पना करते हैं—

जौ छवि सुधा पयोनिधि होई। परम रूपमय कच्छपु सोई।
सोभा रजु मंदरु सिंगारू। मथै पानि पंकज निज मारू॥
एहि विधि उपजै लच्छि जब सुन्दरता सुख मूल।
तदपि सँकोच समेत कवि कहहिं सीय समतूल॥

पहले कवि ने धर्म-भावना को पुष्ट करने के लिए सीता की तुलना देवियों से करनी चाही परन्तु उसको कल्पना ने एक विचित्र प्रकार से देवियों के ऊपर सीता की श्रेष्ठता सिद्ध कर दी। इस अर्थसिद्धि के लिए कवि को धर्म-कथाओं की ओर

जाना पड़ा। इनसे उसने अपने अलंकार की सामग्री ली। फिर वह "रामा" शब्द से परिचालित होकर एक अभिनव लक्ष्मी की कल्पना करता है और उसके जन्महेतु उपादान एकत्र करता है। यह सब कल्पना शक्ति के सहारे। इस चित्र को रामचरित-मानस में से हटा लीजिये, सीता के अनुपम पुण्यभावनामय सौन्दर्य की प्रतिष्ठा अधूरी रह जायगी।

काव्य और कल्पना का इतना निकट का सम्बन्ध है कि कवि को कल्पनाप्रिय जीव मानकर उसे अव्यवहारिक ही मान लिया गया है। परन्तु वास्तव में कल्पना की भित्ति अव्यवहार नहीं, व्यावहारिक ज्ञान है। अलंकारों के मूल में कवि की ज्ञानमूलक चेतना प्रतिष्ठित होती है। उपमाओं-उत्प्रेक्षाओं में कवि पद-पद पर अपने अर्जित ज्ञानकोष का सहारा लेता है। वह कल्पना द्वारा (१) परिचित वस्तु को थोड़ा-बहुत बदलकर नए सौन्दर्य में नए रूप से स्थापित करता है, (२) अनदेखी अथवा अस्तित्व-हीन वस्तुओं को मूर्त्त बनाता है, (३) पुराने अनुभवों को मिलाकर या नवीन अनुभवों से पुरानी अनुभूतियों का सम्बन्ध जोड़कर एक वस्तु का दूसरी वस्तु से अनेक प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करता है। कहीं एक वस्तु दूसरी वस्तु की सीमा स्पर्श कर लेती है, कहीं एक वस्तु दूसरी वस्तु को अपने रंग में रंग लेती है। यह सब कल्पना की ही माया है। इसी का एक वह रूप "प्रतीक" है जब उपमान पूर्णतः उपमेय का स्थान ग्रहण कर लेता है। काव्य में कल्पना का महत्त्व इसीसे स्पष्ट हो जायगा कि प्रतीक काव्य-काव्य का सर्वोच्च प्रकार माना गया है। जहाँ कवि अपने अर्थ को अभिधार्थ और व्यंगार्थ स्पष्ट नहीं कर पाता, जैसे रहस्यवाद काव्य में, वहाँ वह कल्पना का सहारा लेकर प्रतीकों का निर्माण करता है और सफलता में प्राप्त होता है।

सतकाव्य इन्हीं प्रतीकों के कारण उच्चतम काव्य की श्रेणी में आता है, परन्तु कल्पना के साथ जहाँ हृदयानुभूति भी पूरी मात्रा में मिल जाती है, वहाँ सर्वोत्कृष्ट काव्य के दर्शन होते हैं। वहाँ कवि विषय और प्रतीक एक हो जाते हैं। जयदेव के काव्य में अथवा सूर के कृष्ण काव्य में हम स्थान-स्थान पर काव्य के इस उच्च स्तर पर पहुँच जाते हैं। तात्पर्य यह है कि क्या निम्नतम, क्या उच्चतम्, काव्य सदैव कल्पना के सहारे आगे बढ़ता है। रसपूर्ण स्थलों की अवतारणा करते समय कवि कल्पना का सहारा न ढूँढ़ता हो, यह बात नहीं। उसे अपने अन्तःचक्षु खुले रखने होते हैं।

कल्पना के द्वारा कवि चाहे अपने अभीष्ट अर्थों को स्पष्ट करने में सफलता प्राप्त भले ही कर ले, स्वयं कल्पना का भी अपना एक आनन्द होता है। कवि के लिए कल्पना की यह भी एक महत्त्वपूर्ण सार्थकता है। इस दृष्टि से कल्पना निरर्थक है। मनुष्य में सृजन की एक प्रवृत्ति होती है। अपने क्षेत्र में कवि भी एक अभिनव सृष्टि रचना चाहता है। विधाता की सृष्टि के सम्मुख अपनी सृष्टि रचकर उसे आनन्द प्राप्त होता है। सृजन का आनन्द ही कल्पना के खेलों को सुन्दर बना देता है। इसी आनन्द के बल पर कवि वीभत्स चित्रों को रचकर भी प्रसन्न होता है। कल्पना के बल पर ही उसने अप्सराओं, किन्नरों, यक्षों और अपर लोकों की सृष्टि की है और देवदानवों की विचित्र आकृतियाँ हमें दी हैं। कल्पना स्वतः प्रेरित है। वह अपना विस्तार करके प्रसन्न होती है।

परन्तु कल्पना निराधार नहीं होती। वह हवा में किले नहीं उठाती। उसका आधार कवि के इंद्रियजन्य अनुभव ही है। इसी भित्ति पर वह ऐसे ऊँचे महल बनाती है जो आकाश को

चूमते हैं। हम इन महलों के कंगूरों को ही देखते हैं और हमें भित्ति की याद नहीं आती परन्तु भित्ति है अवश्य। इसमें संदेह नहीं। हाँ, कल्पना का स्पर्श पाकर सांसारिक अनुभव सौन्दर्य से अनुप्राणित हो जाता है, ज्ञान रहस्यात्मक अनुभूति में परिवर्तित हो जाता है। जैसे-जैसे कवि सांसारिक ज्ञान का अधिकाधिक उपार्जन करता जाता है, वैसे-वैसे उसकी कल्पना प्रौढ़ होती जाती है, उस नये ज्ञान को अपनी सामग्री बनाकर वह उत्तरोत्तर सुन्दर चित्रों की स्थापना करती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ज्ञान और कल्पना में विरोध नहीं है। कल्पना की भित्ति ज्ञान है। कल्पना ज्ञान को सुन्दर और अधिक वास्तविक (यथार्थ) बना देती है। कल्पना ही "कवि-सत्य" की जननी है।

स्वयम् कल्पना-चित्रों का यदि हम अध्ययन करें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि उनके पीछे बुद्धि की शक्तियाँ पर्याप्त मात्रा में रहती हैं। उनका निर्माण किन्हीं सूत्रों पर आश्रित एवं परिचालित रहता है। तुलसी के जिस कल्पना-चित्र को हमने उद्धृत किया है उसमें ग्रहण, परिहार, संक्रमण, स्थापना की बौद्धिक प्रवृत्तियाँ क्रियाशील हैं। तुलसी का धार्मिक दृष्टिकोण कल्पना को संयत बना रहा है, यह भी स्पष्ट है। सच तो यह है कि जहाँ कल्पना कवि की conscious artistry को पुष्ट करती है, वहाँ वह उच्छृङ्खल हो ही नहीं सकती।

परन्तु कल्पना का एक रूप वह भी है जहाँ वह खिलवाड़ बन जाती है। यहाँ वह छोटी-छोटी सुन्दर उद्भावनाओं के रूप में हमारे सामने आती है। उस समय उसे fancy कहते हैं। कविता में कल्पना के इस क्रीड़ाप्रधान रूप का भी स्थान है

परन्तु उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना रस संचार करने वाली शृङ्खलित गम्भीर कल्पना का।

६ काव्य में करुणरस

(१) "शृङ्गार" और "करुणरस" की रसराजता, (२) करुणा की अनुभूति का विश्लेषण, (३) करुणरस द्वारा मन का परिष्कार, (४) करुणा की प्रवृत्ति श्रेष्ठ मानवीय प्रवृत्ति है, (५) काव्य में करुणा का महत्त्व, (६) करुणरस-प्रधान काव्य का सामाजिक मूल्य, (७) हिन्दी काव्य में करुणरस, (८) उपसंहार।

भवभूति ने करुणरस को ही एक मात्र स्वतंत्र रस माना है, अन्य रस तो केवल उसके विकारमात्र हैं—

एकोरसः करुण एव निमित्त भेदादिभिन्नः
पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्त्त बुदबुद तरङ्गमयान विकारा-
नम्भो यथा सलिलमेव तुत्समग्रम्॥

अन्य रसशास्त्री इस हद तक नहीं जाते। ये उसे नव रसों में से प्रमुख रस अवश्य मानते हैं। वे शृङ्गार को "रसराज" कहते हैं। वास्तव में अन्तर दृष्टिकोण का है। यदि हम उस रस को प्रधानता देना चाहें जो जीवन की अनेक परिस्थितियों को छूता है, जिसकी व्यापकता अधिक है, जिसमें संचारी भाव सबसे अधिक आयें, तो सचमुच शृङ्गाररस को सर्वोच्च रस मानना पड़ेगा। परन्तु यदि हमारी दृष्टि स्थाई प्रभाव एवं मनोवृत्तियों के परिष्कार पर है तो करुणरस ही सर्वप्रधान रस है।

करुणा की अनुभूति के पीछे परदुःख-अनुमान ही प्रवृत्ति है। हम अपने दुःख से तो दुःखी होते ही हैं, परन्तु दूसरों को पीड़ा में देखकर उनके दुःख का अनुमान भी कर सकते हैं।

बच्चे दूसरे बच्चों को रोते हुए देखकर रोने लगते हैं। यही नहीं, वह झूठ-मूठ रोने की चेष्टा या मुद्रा को देखकर भी रो पड़ते हैं। मा जब झूठ मूठ ऊँ-ऊँ करती है, तो बच्चे रोने लगते हैं। दूसरों के सुख-दुख से प्रभावित होना मनुष्य की विशेषता है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसका बहुत-सा सुख-दुःख दूसरों की क्रिया या अवस्था पर अवलम्बित रहता है। हम दूसरों के सुख से सुखी, दुःख से दुःखी होते हैं, परन्तु दूसरों के दुःख से दुःखी होने का नियम दूसरे के सुख से सुखी होने के नियम से कहीं अधिक व्यापक है। यही दूसरों के दुःख के परिज्ञान से जो दुःख होता है, वही करुणा के नाम से पुकारा जाता है।

कदाचित् मनुष्य के मन के किसी उद्वेग ने उसका इतना परिष्कार नहीं किया है जितना करुणा के उद्वेग ने। शील, सात्विकता आदि मनोविकारों और कर्मों का आधार यही करुणा की प्रवृत्ति है। इसका कारण यह है कि शील, सात्विकता जैसे गुणों का संस्थापन परस्पर की सहानुभूति और सामाजिक आदान-प्रदान के द्वारा ही होता है। मनुष्य की सात्विक प्रवृत्तियाँ अन्य प्राणियों के साथ उसके सम्बन्ध या संसर्ग से ही व्यक्त होती हैं। प्रत्येक प्राणी यह चाहता है कि उसे सुख की प्राप्ति हो और उसके दुःख की निवृत्ति हो। मूलतः परदुःखकातर होने के कारण वह किसी को दुःख में पड़ा देखना भी नहीं चाहता। जिस प्रवृत्ति के कारण सामूहिक सुख की वाञ्छा दृढ़ होती है उसे श्रेष्ठ सामाजिक गुण कहना चाहिये। करुणा की प्रवृत्ति इसीलिए श्रेष्ठतम मानवीय प्रवृत्ति कही जायगी। पं० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में—मनुष्य के अन्तःकरण में सात्विकता की ज्योति जगानेवाली यही करुणा है। इसी से जैन

और बौद्ध धर्म में इसको बड़ी प्रधानता दी गई है और गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कहा है—

पर उपकार सरिस न भलाई।
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

काव्य में करुणा का महत्व उससे कम नहीं जितना प्रतिदिन के लोकजीवन में है। वियोग-शृङ्गार और वियोग-वात्सल्य का तो वह प्राण ही है। काव्यगत करुणा के कई भेद हो सकते हैं। एक प्रकार की करुणा वह है जब प्रिय के सुख के अनिश्चय से मन भाराक्रांत होकर दुःखी होता है। राम-जानकी वन चले गये और कौशल्या उनके सुख के अनिश्चय के कारण ही उद्विग्न है—

वन को निकरि गए दोउ भाई।
सावन गरजै, भादौं बरसै, पवन चलै पुरवाई।
कौन बिरिछ तर भीजत ह्वै हैं रामलखन दोउ भाई॥

इसी तरह यशोदा इसी भावना के वशीभूत होकर उद्धव से कहती हैं—

सँदेसो देवकी सों कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की कृपा करत ही रहियो॥
उबटन, तेल और तातो जल देखत ही भजि जाते।
जोइ जोइ माँगत सोइ देती क्रम क्रम करिकै न्हाते॥
तुम तो टेव जानुतिहि ह्वै हो तऊ मोहिं कहि आवै।
प्रात उठत मेरे लाल लड़ैतहि माखन रोटी भावै॥
अब यह सूर मोहि निसि बासर बड़ो रहत जिय सोच।
अब मेरे अलक लड़ैते लालन ह्वै हैं करत सँकोच॥

दूसरी अवस्था वह है जब धीरे-धीरे अनिश्चय अधिक

गहरा हो जाता है और प्रेमी प्रिय के विषय में घोर अनिष्ट की आशंका करता है—

नदी किनारे धुँआ उठत है, मैं जानूँ कछु होय।
जिसके कारण मैं जली, वही न जलता होय॥

इस प्रकार की पति-वियोगिनी की आशंका अनैसर्गिक नहीं है, यद्यपि काव्य में ऐसे स्थल बहुत कम हैं क्योंकि इस प्रकार की आशंका प्रिय के प्रति अमंगल की सूचक है। विरहजनित दुःख या क्षोभ में करुणा की मात्रा उतनी नहीं रहती, परन्तु प्रिय के मृत्यु की आशंका और मृत्यु में दुःख के साथ-साथ करुणा की भी अनुभूति होती है। "किसी प्रिय या सुहृद के चिरवियोग या मृत्यु के शोक के साथ करुणा या दया का भाव मिलकर चित्त को बहुत व्याकुल करता है। किसी के मरने पर उसके प्राणी उसके साथ किए हुए अन्याय या कुव्यवहार, तथा उसकी इच्छापूर्ति करने में अपनी त्रुटियों का स्मरण और यह सोचकर कि उसकी आत्मा को सन्तुष्ट करने की सम्भावना सब दिन के लिए जाती रही, बहुत विकल और अधीर होते हैं।" प्रिय-मृत्युवियोग-जनित कारुणिक विलापों को साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। "अज-विलाप" प्रसिद्ध ही है। "कादम्बरी" इस प्रकार के कई विलापों से भरी हुई है।

वस्तुतः करुणा का जितना प्रसार होगा, वह सामाजिक जीवन की स्थिति और पुष्टि के लिए आवश्यक होगा। परस्पर सहयोग की भावना के मूल में करुणा ही की उपस्थिति है। यह कहा जाता है कि सहयोग की भावना के मूल में निज-कल्याण-भावना है, परन्तु सच तो यह है कि सहयोग भावना में हम बुद्धि से परिचालित होकर पहले यह निश्चित नहीं कर लेते कि सहयोग से किस प्रकार हमारा कल्याण होगा। वास्तव में,

हम सहयोग की ओर मन की स्वतः प्रवृत्ति करने वाली प्रेरणा से पाते हैं। यही प्रेरणा करुणा है। उपन्यासों में करुणा की प्रवृति का स्थान महत्त्वपूर्ण है। अधिकांश प्रेम-व्यवहार करुणा से परिचालित दिखाये जाते हैं। इसी भावना से प्रेरित होकर युवक दुष्टों के हाथ में पड़ी युवतियों का उद्धार करते हैं। फल स्वरूप नायिका कृतज्ञ होती है और बदले में युवक पर श्रद्धा करती है जो धीरे-धीरे प्रीति में बदल जाती है।

हिन्दी काव्य में करुणारस की रचनाएँ अधिक नहीं हैं, जो हैं वे भी अधिक उच्चकोटि की नहीं। हमारे प्राचीन-काव्य-साहित्य में भक्ति वीर और शृङ्गार रसों की प्रधानता रही है। वियोग शृङ्गार के निरूपण के लिए जितने अच्छे उदाहरण हमें अकेले सूरदास के काव्य में मिल सकते हैं, उतने सारे संस्कृत-काव्य-साहित्य से नहीं। परन्तु सूर, तुलसी, जायसी—सभी में करुण-रस केवल प्रसंगवश कहीं आ भर गया है, उसे परिपक्वता नहीं मिली। इधर भारतेन्दु के समय से देश और जाति की दुर्दशा को लेकर करुणारस की अवतारणा की गई है—

जहँ भए शाक्य, हरिचन्द, नहुष, ययाती,
जहँ राम युधिष्ठिर वासुदेव सर्याती।
जहँ भीम करन अर्जुन को छटा दिखाती,
तहँ रही मूढ़ता कलह अविद्या राती।
अब जहँ देखहु तहँ दुखहि दुःख दिखाई,
हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई।

(भारतेन्दु)

कहाँ आज इक्ष्वाकु कुकुत्स्थु कहँ मान्धाता,
कहँ दिलीप रघु अजहुँ कहा दशरथ जग त्राता।

पृथ्वीराज हमीर कहाँ विक्रम सम नासक,
कहाँ आज रनजीतसिंह जग विजय प्रकासक।
(अम्बिकादत्त व्यास)

मैथिलीशरण, प्रसाद, पंत, कौशलेन्द्र आदि के काव्य में भी अनेक प्रकार से करुणरस का प्रकाशन हुआ है। परन्तु मुक्तक का आश्रय लिया जाने के कारण रस-परिपाक भली-भाँति नहीं हो सका है। रस-परिपाक के लिए कथा का आश्रय लेना आवश्यक है। मुक्तक काव्य में भाव ही आ सकते हैं। वास्तव में आधुनिक काव्य में जिसे करुणरस का नाम दिया जाता है वह बहुत कुछ नैराश्य, विषाद, ग्लानि आदि भाव ही हैं। छायावाद काव्य में जिस दुःखवाद की प्रतिष्ठा हुई है, उसमें नैराश्यजनित विषाद की ही प्रधानता है। आलम्बन स्पष्ट न होने के कारण रस (अथवा भाव) की पुष्टि में बाधा पहुँचती है। महादेवी जी की रचनाओं में हम यही नहीं समझ पाते कि विषाद क्यों, किस लिए? इस प्रकार जिस भाव की सृष्टि होती है, उसे हम करुण भी नहीं कह सकते। नये कवियों को दुःख प्रिय है। उन्होंने कुछ परिस्थितियों के कारण, कुछ अनुकरणप्रियता के कारण और कुछ दुःख के प्रति मनुष्य की स्वाभाविक सहानुभूति के कारण इस प्रकार की करुणविषादपूर्ण रचनाशैली ही गढ़ ली है। इन रचनाओं से कुछ आता-जाता नहीं। करुणरस की अभिव्यंजना के लिए आलम्बन की स्पष्टता कदाचित् अन्य रसों की अपेक्षा अधिक आवश्यक है और उसकी अस्पष्टता से काव्य एकदम दूषित हो जाता है।

करुणरस की महत्ता इसी में है कि उसके द्वारा हमारी सहानुभूति का विस्तार होता है, हमारी वृत्तियाँ कोमल हो जाती हैं, हम शिथिल नहीं होते वरन् दुःख के कारण से लड़ने के

लिए कटिबद्ध हो जाते हैं। यदि करुणरसपूर्ण काव्य से इनमें से कोई भी उद्देश्य पूर्ण हुआ तो वह सफल है। यदि वह हमें शिथिल और हताश कर दें तो उसका "रस" नाम भी सार्थक नहीं है या उस रचना के लिए हमें किसी नये रस की सृष्टि करनी होगी। ट्रेजेडी (दुःखान्त) के प्रेक्षक को यदि दुःख ही हुआ, जीवन को स्फूर्ति न मिली, वह स्वयम् आत्मघात की ओर प्रेरित हुआ, तो यह रचनाकार की असफलता है।

१०. काव्य की कसौटी

(१) काव्य की कसौटी सहृदय पाठक या रसिक हृदय है, (२) प्राचीन कसौटियाँ- रसवाद, अलंकारवाद, रीतिवाद, वक्रोक्तिवाद, ध्वनिवाद, (३) वास्तव में यह सब कसौटियां काव्य के अलग-अलग अंग को छूती हैं, (४) विभिन्न कसौटियां में समन्वय उपस्थित करने की चेष्टा और रसवाद का जन्म. (५) रसवाद की सीमाएँ, (६) सामान्य कसौटी का अभाव, (७) क्या कोई सामान्य कसौटी गढ़ी भी जा सकती है ?

उत्कृष्ट काव्य के क्या गुण हैं, हीनकाव्य और उत्कृष्ट काव्य में क्या भेद होंगे, हम कैसे जाने कि एक विशेष काव्यग्रंथ उत्कृष्ट है या हीन! सोना खरा है या खोटा; खोटा है तो मिलावट कितनी, यह जानने के लिए जिस प्रकार कसौटी की आवश्यकता हो उसी प्रकार काव्य को कसने के लिए भी कोई कसौटी चाहिये। यह कसौटी क्या हो ?

हमारे साहित्यचार्यों ने इसका बहुत ठीक उत्तर दिया है। काव्य की कसौटी है सहृदय पाठक या रसिक हृदय। उसे किसी विशेष परीक्षा की आवश्यकता नहीं। काव्य पढ़कर या सुनकर वह एकदम कह देता है कि कविता किस श्रेणी की है। वह

उसके हृदय को कितना छूती है, उसके सामने इतनी ही बात है। सुसंस्कृत रसिकहृदय पाठक से बड़ी कसौटी कोई दूसरी नहीं हो सकती। परन्तु साहित्यशास्त्रियों को तो रसिकहृदय पाठक के लिए कुछ कहना ही नहीं है। वे उसके और काव्य के बीच में नहीं आते। परन्तु सभी तो रसज्ञ नहीं होते। सभी रसिकहृदय एक जैसे सुसंस्कृत भी नहीं होते। इसीलिए काव्य की किसी ऐसी कसौटी की आवश्यकता होती है जिसे रसिक और अरसिक सभी एक समान प्रयोग में ला सकें।

जब इस तरह कोई निश्चित कसौटी बताने की बात आई है तो साहित्यशास्त्री बड़ी कठिनाई में पड़ जाता है। काव्य समीक्षा के लिए किसी एक निश्चित सिद्धान्त में नहीं पहुँचा जा सकता। जीवन की भाँति काव्य की श्रेष्ठता भी पकड़ में नहीं आती। उदाहरण के लिए, तुलसी का रामचरितमानस क्यों हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ काव्य-ग्रंथ है, यह कहना कठिन है। रसवादी कहेंगे—अयोध्याकांड के कारण। मनोवैज्ञानिक कहेंगे—ठीक, अयोध्याकांड के पूर्वार्द्ध के कारण ही तुलसी इतने महत् हैं। अलंकारवादी कहेंगे—रामचरितमानस का रूपक, लक्ष्मी का रूपक, रामरथ और विज्ञान-दीपक के रूपक कितने चमत्कारी स्थल हैं। रीतिवादी उसके प्रसाद और माधुर्य की दुहाई देगा। वक्रोक्तिवादी और ध्वनिवादी मुँह ताकता रह जायगा। इन्हें तुलसी के अभिधाप्रधान, प्रसादगुणसम्पन्न काव्य में अपने मन की वस्तु नहीं मिलेगी। पंडित पाठक उत्तरकांड को रामचरितमानस का प्राण बतायेंगे। भक्त पाठक के लिए तो सारा ग्रंथ ही ईश्वर का चमत्कार है। उसको तो रस लेना है, समीक्षा करना ही पाप है। इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य की कसौटी निर्धारित करने में कठिनाई कहाँ है।

जिन 'वादों' के समर्थकों को हमने ऊपर इकट्ठा किया है, वे काव्य को पूरा पूरा पकड़ नहीं पाते यद्यपि वे कहते यही हैं कि उनके निश्चित किए हुए घेरे में जो आ गया, वही श्रेष्ठ काव्य है। हमारे यहाँ काव्य के समीक्षकों के पाँच सम्प्रदाय चल रहे हैं। पंडितराज जगन्नाथ "रमणीय अर्थ" को काव्य मानते हैं। विश्वनाथ "रस" को, उद्भट "अलंकार" को, कुन्तक "वक्रोक्ति" को, वामन "रीति" को। इन मापदंडों के सहारे ही क्रमशः ध्वनिसम्प्रदाय, रससम्प्रदाय, अलंकारसम्प्रदाय, वक्रोक्तिसम्प्रदाय और रीति सम्प्रदाय चल पड़े। तर्क-वितर्क चला। सब तो ठीक हो नहीं सकते। अतः ठीक मत कौन है। परन्तु अभी तक निश्चय कुछ भी नहीं हो सका है।

वास्तव में हठ नहीं होना चाहिये। सच्ची बात तो यह है कि काव्य में इन सभी "वादों" की परिसमाप्ति हो जाती है और फिर भी काव्य अरझे प्रश्न की तरह बना ही रहता है। रीति अलंकार और वक्रोक्ति को हम शैलियाँ मान सकते हैं। काव्य में शैली का भी महत्त्व है, अतः उसी सीमा तक ये काव्य की कसौटियाँ हैं। परन्तु न रीति ही काव्य है, न अलंकार ही, न वक्रोक्ति ही यद्यपि काव्य इन सबसे या इनमें से किसी से पुष्ट हो सकता है। तब यह प्रश्न होगा कि इनसे भिन्न काव्य क्या है। क्या ध्वनि? क्या रस? कुछ आचार्य काव्य को "ध्वनि" मात्र मानते हैं, कुछ "रस" मात्र। परन्तु परवर्ग आचार्यों ने समझौता कर लिया जो इस प्रकार है—काव्य की आत्मा रस है और रस "व्यंजित" या "ध्वनित" होता है। इस प्रकार ध्वनिवादी और रसवादी हिल-मिलकर काव्य की एक सर्वमान्य कसौटी गढ़ने में सफल हो गये हैं।

जब इस प्रकार एक सामान्य कसौटी की सृष्टि हो गई तो

विश्लेषण को और आगे बढ़ाया गया। भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भावों की योजना को ही काव्य समझ लिया गया। सब न हो सकें तो कोई एक तो हो गा ही। नव रसों की कल्पना की गई और उनमें शृङ्गार रतिभाव प्रधान रस को "रसराज" मान लिया गया। "रस" के चाखटे के बाहर जो रहा, वह अग्राह्य हो गया। प्रकृति का उद्दीपन विभाव के अन्दर ले आया गया। बौद्धिक तत्त्वों का स्थान गौण ही नहीं रहा वरन् उनकी पूछ ही नहीं हुई। "रस" का सम्बन्ध हृदय से है, अतः हृदय की प्रधानता है। जिज्ञासा की तृप्ति कविता का विषय नहीं है। कवि को बुद्धिवादी नहीं होना चाहिये। परन्तु कवि को तो कोई बन्धन बाँधता नहीं। सूरदास ने एक नए ही प्रकार की कविता की जिसका मूल-भाव बालक श्रीकृष्ण के प्रति नन्द-यशोदा का प्रेम भाव था। इसके लिए "वात्सल्य रस" की सृष्टि करनी पड़ी। फिर भक्ति काव्य के लिए "भक्ति रस" ने जन्म लिया। अब यह प्रश्न उठा है कि वैराग्यमूलक संत काव्य में क्या रस है? संतों के रहस्यवादी काव्य में क्या रस है? पुकार हो रही है, रसों में वृद्धि की जाय, स्वीकृत रसों की भावना में परिष्कार हो। समय बदल गया है। यह स्पष्ट है कि रसवाद भी काव्य की एक मात्र कसौटी नहीं बन सका।

अब समय अवश्य बदल गया है। प्रकृति को काव्य में स्वतंत्र रूप से स्थान दिया जाने लगा है, मानव स्वतंत्रता और विश्व बन्धुत्व को कविता का विषय बनाया जा रहा है। कविता हृदय को ही नहीं छूती, मस्तिष्क को भी छूती है। इस प्रकार की कविताएँ भी सामने आने लगी हैं जो केवल मस्तिष्क को ही छूती हैं। अब "रसवाद" भी अधिक नहीं चल सकेगा। काव्य

में जिन बौद्धिक तत्त्वों का प्रवेश हो गया है, उन्हें अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

ऐसी परिस्थिति में क्या कोई काव्य की सामान्य कसौटी गढ़ी जा सकती है, यह प्रश्न है। अभी तक तो गढ़ी नहीं गई। हम प्राच्यवाले रस, ध्वनि, अलंकार, रीति और वक्रोक्ति को लेकर थोड़ी-बहुत उधेड़-बुन में संतोष कर लेते हैं, पश्चिम के समीक्षक "Poetry is the criticism of life" "Poetry for Poetry's sake", "Poetry is Art", जसे एकांगी सिद्धान्तों को ही ब्रह्मवाक्य मानकर बैठ जाते हैं।

११, उपन्यास

(१) उपन्यास से पहले का आनन्द धर्मी साहित्य और उपन्यास से उसका अंतर, (२) उपन्यास का विकास और आह्लादक गुणों की अपेक्षा, आलोचना की ओर उसका संक्रमण, (३) उपन्यास में व्यक्ति के आभ्यंतरिक जीवन और सामाजिक जीवन प्रवाह को पकड़ने की चेष्टा, (४) उपन्यास के तत्वों के सम्बन्ध में कुछ कठिनाइयाँ, (५) उपन्यास में मनुष्य के मन का चित्रण, (६) मनोविज्ञान और औपन्यासिक धारणाएँ, (७) उपन्यास-सम्बन्धी आधुनिक मान्यताएँ।

आधुनिक परिभाषा में जिसे "उपन्यास" कहा जाता है उसका प्रवेश साहित्य जगत में १७वीं शताब्दी में हुआ है। इससे पहले मनोरंजन के केवल दो साहित्यिक साधन सुलभ थे- काव्य और नाटक। उपन्यास के प्रवेश ने साहित्य में क्रांति उत्पन्न कर दी। जहाँ काव्य का विषय मुख्यतः आनन्द था, या हमारे देश की परिभाषा में रसानुभूति था, वहाँ उपन्यास का विषय आनन्द या रसोद्रेक उतना नहीं जितना मनोरंजन था परन्तु साथ ही उपन्यास का वास्तविक जीवन से अधिक निकट का सम्बन्ध था और वह समाज की आलोचना भी करता था।

नाटक और उपन्यास में भी अन्तर था। नाटक का ध्येय भी रसानुभूति होता था और वह सामाजिक जीवन से अधिक सार्वभौमिक तत्त्वों एवं सिद्धान्तों की आलोचना करता था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कला की दृष्टि से ही नहीं शुद्ध साहित्य के दृष्टि से भी हमें उपन्यास में अभूतपूर्व वस्तु मिली। जहाँ कविता का सम्बन्ध केवल हृदय से था वहाँ विषय के विश्लेषण के लिए अवकाश ही नहीं था, वहाँ उपन्यास-पाठ से विश्लेषण शक्ति पूर्णतः जाग्रत हो जाती थी और उपन्यास की समाप्ति के पश्चात् हम आह्लाद के साथ सत्य का आविष्कार भी करते थे। जहाँ कविता की पहली पंक्ति ही हमें आनन्द विभोर कर सकती थी, वहाँ उपन्यास पढ़ते समय हमें जो आह्लाद होता था, उसके साथ-साथ निरीक्षण और विश्लेषण ही चलता रहता था।

धीरे-धीरे उपन्यास के आह्लादक गुणों की अपेक्षा निरीक्षण और विश्लेषण , एक शब्द में, समाज, व्यक्ति या सिद्धान्त की आलोचना की ओर ही कथाकार अधिकाधिक आग्रह के साथ बढ़ते गये। अब तो उपन्यास समाज की आह्लादक आलोचना से बढ़कर—"Sociological tract" समाज शास्त्र का ग्रंथ—बन चला है। १८५० ई० से १८६० ई० तक यूरोप में जितने उपन्यास लिखे गये हैं उन्होंने समाज की प्रचलित धारणाओं का विरोध किया है और व्यक्ति और समाज की धर्म, प्रेम, आचरण और संसार विषयक मान्यताओं पर गहरी चोटें की हैं। कदाचित उन्हीं के कारण कितने ही नए सामाजिक आन्दोलन उठ खड़े हुए हैं। उपन्यासकारों ने समाज की जड़ को खोखला दिखा दिया है और मनुष्य की भाव धाराओं में भीषण और क्रांतिकारी आन्दोलनों को प्रतिष्ठित किया है। हमारे हिन्दी साहित्य में

प्रेमचन्द्र के "सेवासदन" भगवतीचरण और 'उग्र' के उपन्यास और प्रसाद के "तितली" और "कंकाल" समाज के प्रति विद्रोह-भावना और क्रान्ति का संदेश लेकर ही उपस्थित हुए हैं। एक दूसरे प्रकार के उपन्यास भी लिखे गये हैं जो मनुष्य के चरित्र के खोखलेपन को दिखलाना ही अपना ध्येय बना लेते हैं। यद्यपि हमारे साहित्य में इस प्रकार के उपन्यास बहुत नहीं लिखे गये, परन्तु पश्चिम में उनकी कमी नहीं है। परन्तु पात्र के विश्लेषण और मनोविज्ञान का आश्रय लेकर कुछ सफल उपन्यास, जैसे त्याग-पत्र, हिन्दी में भी हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जहाँ आरम्भिक उपन्यासों का ध्येय मनोरंजक था, रोमांस, ऐयारी-तिलिस्मा और जासूसी उपन्यास तो मुख्यतः मनोरंजन की दृष्टि से लिखे-पढ़े जाते थे, वहाँ आज के उपन्यासों का मूल उद्देश्य व्यक्ति के मन और समाज की मान्यताओं का विश्लेषण और आलोचना है।

जब कुछ दिन पहले यह कहा गया कि "साहित्य जीवन है या जीवन का प्रतिबिम्ब है तो उपन्यासकारों के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह व्यक्ति के आभ्यंतरिक जीवन और समाज के जीवन प्रवाह को अधिकाधिक पकड़ने की चेष्टा करे। फलतः हमें जेम्स ज्वाइस और प्रूस्ट के उपन्यास मिले। परन्तु इस प्रयत्न में उपन्यासकारों ने अनायास ही ऐसे तत्त्वों का उद्घाटन किया जिनकी कोई संभावना नहीं थी और जो भविष्य के उपन्यासों पर अत्यन्त गंभीर प्रभाव डालेगें और कदाचित् उपन्यास का अस्तित्व ही मिटा दें।

उपन्यास के तत्त्व हैं—कथानक या घटनाक्रम, चरित्र या पात्र, बीज या उद्देश्य। जहाँ कोई बीज या उद्देश्य नही, वहाँ मनोरंजन ही उद्देश्य होता है। इनमें कथानक और पात्रों के सम्बन्ध में

भी अब कठिनाइयाँ उपस्थित हो गई हैं। घटनाओं का क्रम क्या हो? उसका जीवन से क्या सम्बन्ध हो? इसके लिए यह निश्चित किया गया कि घटनाएँ चाहे सत्य हों, या काल्पनिक उन्हें दैनिक जीवन के आधार पर गढ़ना आवश्यक है। साथ ही जीवन से उपन्यास के घटनाक्रम को एकरूप बनाने के लिये यह कहा गया है कि घटनाक्रम केवल न्यायसंगत ही न हों, उसमें आकस्मिक घटनाएँ भी हों क्योंकि वास्तविक जीवन में आकस्मिक घटनाएँ घटा करती हैं। जहाँ पिछले उपन्यासकार कहते थे कि आकस्मिक घटनाएँ "दैव" या चमत्कार या "होनी" को उपन्यास में स्थान नहीं मिलना चाहिये, वहाँ इधर के उपन्यासो ने उन्हें स्थान दिया है। परन्तु अब उपन्यासकार यह समझने लगा है कि वास्तव में घटनाओं का कोई क्रम नहीं होता। घटनाओं के प्रवाह को हम पकड़ ही नहीं सकते। घटनाओं में क्रम ढूँढ़ना ही जीवन की वास्तविकता से दूर चले जाना है। जीवन बिखरी हुई, असम्बद्ध घटनाओं का नाम है और कथासूत्र में बाँधा नहीं जा सकता। इसीलिए यूरोप के कुछ उपन्यासों में अशृङ्खलित, असम्बद्ध, बिखरे जीवन के चित्र भर दिये गये हैं। इस प्रकार "कथानक" की निःसारता समझकर लेखक जब उपन्यास लिखने बैठेगा तो वह घटनाक्रम कैसे बाँध सकेगा।

पात्रों के सम्बन्ध में हमारी धारणा में कथानक-सम्बन्धी धारणा से भी अधिक परिवर्तन हो गया है। प्राचीन काल से नायक और नायिका की महत्ता चली आ रही है। महाकाव्य का विषय ही नायक-नायिकाओं की प्रतिष्ठा थी। दूसरे चरित्र महाकाव्य में स्थान पाते थे, परन्तु वे गौण थे। उपन्यास में भी यही रीति चली। अधिकांश उपन्यासों में चरित्रों की कई श्रेणियाँ होती हैं परन्तु नायक और नायिका पर ही उपन्यासकार की

दृष्टि अधिक जमी रहती है। इन्हीं दोनों चरित्रों को पूर्ण रूप से प्रस्फुटित करना उसका एकांत ध्येय होता है। १८५८ ई० में थैकरे ने "वैनिटफेयर" लिखकर यह घोषणा की कि इस उपन्यास में नायक नहीं है तो साहित्यिकों में एक कुतूहलजनक बवंडर उठ खड़ा हुआ। परन्तु नायक-नायिका की प्रतिष्ठा फिर भी उतनी ही बनी रही और कदाचित् अब भी बनी है यद्यपि समय-समय पर उसका विरोध होता रहता है। चरित्रों के चित्रण में जहाँ पहले कुछ देवता बना दिये जाते थे और दूसरे राक्षस, वहाँ बाद को देवताओं के चारित्रिक दोष और राक्षसों में देवत्व का आरोप किया जाने लगा। उपन्यासकारों ने यह दिखलाना चाहा कि न कोई देवता है, न कोई राक्षस! लेखकों ने समाज की मान्यताओं का खोखलापन दिखाना ही अपना ध्येय मान लिया। उन्होंने दिखलाया कि योद्धा मूलतः कायर होते हैं, कम से कम साधारण मनुष्य से अधिक साहसी नहीं होते; ऐतिहासिक महान् चरित्रों में अनेक दुर्बलताएँ हैं; नायिकाएँ शुद्धता और सतीत्व की प्रतिमूर्तियाँ नहीं होतीं; वास्तव में शुद्ध प्रेम का कहीं अस्तित्व नहीं, सब जगह वासना और इन्द्रियासक्ति की अन्तःसरिता बहती हैं।

चरित्र चित्रण के सम्बन्ध में उपन्यासकारों ने मनोवैज्ञानिकों की खोज से लाभ उठाना चाहा है, परन्तु अब वे इस ज्ञान से इतने दब गये हैं कि महान् चरित्रों की अवतारणा करना उनके लिये असंभव हो गया है। आधुनिक मनोविज्ञान कहता है कि "व्यक्तित्व" पकड़ में आ ही नहीं सकता, वह तो क्षण-क्षण बदलता रहता है। मार्शल प्रूस्ट जैसे उपन्यासकारों ने यह चेष्टा की कि मनोवैज्ञानिकों की खोजों के आधार पर मनुष्य के व्यक्तित्व को गहराई में उतरें; उन्होंने मनुष्य के मन का ठीक-

ठीक चित्र देने के लिए उसकी उच्छृङ्खल तथा विशृङ्खल भावधारा का अत्यन्त विस्तार से कलापूर्ण चित्रण करना आरम्भ किया। एक क्षण में मनुष्य की भावधारा कितनी दिशाओं में किस प्रकार बहती है, यह दिखाने की चेष्टा में दस-दस, बीस-बीस पन्ने रंग दिये गये। परन्तु फिर भी यह प्रश्न बना रहा कि क्या वास्तव में लेखक पात्र के मन को सम्पूर्णतः पकड़ सका है। जहाँ प्राचीन महाकाव्यकार, नाटककार और उपन्यासकार पात्र के किसी विशेष गुणदोष को प्रधानता देते थे और सारे उपन्यास में उन्हीं के द्वारा अन्य चरित्रों से अलग रख सकते थे, वहाँ आज यह कहा जा रहा है कि यह जीवन का चित्र ही नहीं है, है तो अधूरा चित्र है; हम किसी एक गुण-दोष या दो-चार गुण-दोषो से किसी मनुष्य के व्यक्तित्व को निश्चित नहीं कर सकते।

सच तो यह है कि जिस प्रकार विज्ञान की खोजो ने हमारे जीवन को बदल दिया है, उसी प्रकार मनोविज्ञान के अनुसंधानों ने हमारी मान्यताओं, हमारी धारणाओं और जीवन-सम्बन्धी हमारे सिद्धांतों में क्रांति उपस्थित करती है। उपन्यास क्या है—काल का चित्र, जीवन का चित्र, मानवचरित्र का विश्लेषण, मन का विश्लेषण, समाज की आलोचना। आधुनिकतम खोजें कहती हैं—हम इनमें से किसी एक के सम्बन्ध में भी निश्चित रूप से कुछ कह नहीं सकते। काल की गति का ठीक-ठीक चित्र हम नहीं खींच सकते, इसलिये कथा में घटनाक्रम की अवस्थिति असत्य है। इस प्रकार उपन्यासकार के हाथ से कथानक ही निकल गया। हम यह मान सकते हैं कि कथानक के बिना भी उपन्यास चल सकते हैं परन्तु वह कितना जटिल, क्लिष्ट और नीरस होगा यह ज्वायेस के "यूलीसिस" को पढ़कर जाना जा सकता है। जीवन घटनाओं के प्रवाह और चरित्रों के संबद्ध मायाजाल का नाम है, परन्तु न

हम घटनाओं के प्रवाह के अर्थ समझ सकते हैं, न मानव स्वभाव पर उनका प्रभाव ही ठीक-ठीक आँक सकते हैं, इसलिए जीवन तक पहुँचने की बात कहना ही मूर्खता है। मानव चरित्र मानव मन पर आश्रित है, परन्तु उसके विषय में भी हम निश्चयपूर्वक कुछ नहीं जानते। किसी भी मनुष्य का मन किसी निश्चित रेखा पर चलता है, यह बात भ्रांति पूर्ण है।

१२. ऐतिहासिक उपन्यास

(१) इतिहास और साहित्य के सत्य की सापेक्षिक रक्षा का प्रश्न, (२) ऐतिहासिक रस, (३) साधारण उपन्यास और ऐतिहासिक उपन्यास, (४) सत्य और कल्पना का उचित सम्मिश्रण और कलात्मक चित्रण ही सच्चे ऐतिहासिक उपन्यास का निर्माण करेगा, (५) प्रचलित इतिहास से विरोध नहीं करना होगा, (६) ऐतिहासिक उपन्यास का क्षेत्र, (७) ऐतिहासिक उपन्यासकार की रचनाओं का विश्लेषण, (८) ऐतिहासिक उपन्यासकार का ध्येय कल्पनात्मक ऐतिहासिक पुनर्निर्माण हो।

स्कॉट के समय से ऐतिहासिक उपन्यास उपन्यास-साहित्य का एक विशिष्ट अंग बन गया है। अब उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। परन्तु सबसे पहले हमें उन आपत्तियों को समझ लेना चाहिये जिन्हें वे लोग समय-समय पर उठाते हैं जो इतिहास को कथा के रूप में देखना नहीं चाहते।

पहली विचारणीय बात यह है कि इतिहास के सत्य और साहित्य के सत्य दोनों की रक्षा कैसे हो सकती है और कहाँ तक हो? उपन्यासों के अन्दर इतिहास की जो विकृति हो जाती है, वह कहाँ तक ठीक है? उत्तर यह है कि इतिहास के सत्य और साहित्य के सत्य में अन्तर जिन कारणों से पड़ जाता है उन्हें ढूँढ़ निकालना होगा। एक बात तो यह है कि इतिहास की नई-नई

घटनाओं और उनसे सम्बन्धित सांस्कृतिक विशेषताओं का उद्घाटन होता रहता है जिससे पिछले मूल्य बदले जा सकते हैं। नये प्रमाण नित्यप्रति हमारे सामने आते हैं और उनके अनुशीलन द्वारा नई-नई ऐतिहासिक सच्चाइयों से परिचित होते हैं। संक्षेप में, हम अतीत के विषय में नित्यप्रति नई बातें जानते रहते हैं। ऐसी परिस्थिति में हम इतिहास को उसी समय कथा का रूप दे सकते हैं जब हम जान लें कि विशेष युग या ऐतिहासिक घटना के सम्बन्ध में सब कुछ जानना समाप्त हो गया। परन्तु यह कैसे कहा जा सकता है कि सब समाप्त हो गया, जानने को कुछ शेष नहीं रहा। आज जो ध्रुव सत्य है, कल इतिहास के सिंहासन के नीचे उतार दिया जाता है। तब या तो कहानीकार इतिहास को क़था का रूप ही न दे, या अप्रामाणिकता और असत्यकथन का दोषारोपण सिर पर ले। हम जानते हैं कि किसी भी अतीत घटना के सम्बन्ध में जानना कभी समाप्त नहीं हो सकता। तब हम अधूरे सत्य को ही कथा का विषय बनाएँगे। परन्तु आलापक क़हेगा—इससे लाभ क्या है ? ऐतिहासिक उपन्यास में हम अतीत का चित्र देखना पसन्द करते हैं, उससे एक विशेष प्रकार का रस लेना चाहते हैं, जिसे श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने "ऐतिहासिक रस" का नाम दिया है। हमारा उद्देश्य उस रस की प्राप्ति है जहाँ हमने वह पा लिया उपन्यासकार के नाते हमारा काम समाप्त हो गया।

साधारण उपन्यास में हम पात्रों के जीवन के उत्थान-पतन, दुःख-सुख, हर्ष-शोक को अपना विषय बनाते हैं, उन्हें अपना समझकर, पड़ोसी समझकर अथवा अत्यन्त निकट का सम्बन्धी समझकर उनमें दिलचस्पी लेते हैं; उनसे समवेदना प्रकट करते हैं, उनमें रस लेते हैं। ऐतिहासिक उपन्यास के पात्र साधारण

उपन्यास के पात्रों की अपेक्षा अधिक विशिष्ट होते हैं। उनका सुख-दुख संसार की वृहद् घटनाओं के साथ बँधा होता है। विशेष आन्दोलनों; राज्यों के उत्थान-पतन, जातियों के संघर्षों के भीतर प्रतिष्ठित उन विशेष व्यक्तियों का सुख-दुख हमें और भी अधिक प्रभावित करने की क्षमता रखता है। हम जानते हैं आखिर ये भी हम जैसे मनुष्य थे जो हमारी तरह ही जीवित थे। इतिहास के विशाल रंग-मंच की पृष्ठिभूमि देकर वैयक्तिक सुख-दुःख को विराट बना देना—यही ऐतिहासिक उपन्यासकार की सफलता का रहस्य है। नए अनुसंधान भी उस सत्य को बदल नहीं सकते जो मनोविज्ञान पर आश्रित हैं, भले ही उनसे दो-चार नाम बदल जायें या किन्हीं एक-दो पात्रों का अस्तित्व ही संकट में पड़ जाये।

दूसरी बात यह है कि ऐतिहासिक उपन्यास में उपन्यासकार कितना सत्य ले, कितनी कल्पना उसमें मिलाए। ऐतिहासिक उपन्यास के एक ओर इतिहास है, दूसरी ओर कथा। दोनों नावों पर एक ही साथ चढ़े कैसे ? सर फ्रांसिस मार्लोव का कहना है कि ऐतिहासिक उपन्यास इतिहास और कथा दोनों का शत्रु है। मतलब यह है कि उपन्यासकार कथा के लिये इतिहास को विकृत कर देने के लिये लाचार है और इतिहास के ढाँचे में कथा को ढालने से उसके स्वाभाविक प्रवाह में बाधा पड़ती है। इस सम्बन्ध में हमें यह कह देना है कि पाठक विशुद्ध इतिहास के लिए ऐतिहासिक उपन्यास को नहीं पढ़े, इसके लिए तो इतिहास ही ठीक होगा। कथाकार से हम यही कहेंगे—जहाँ तक हो सके, ऐतिहासिक सत्य का अनुशीलन करो परन्तु अपनी दृष्टि ऐतिहासिक रस की उपलब्धि पर रखते हुए भी साहित्य के रस

को ही अपना लक्ष्य बनाओ। हो सके तो दोनों को ठीक-ठीक मात्रा दो।

परन्तु यहाँ एक बात और भी जान लेना है। साहित्य के रूप में जो इतिहास प्रचलित हो चुका है, उसका विरोध नया अनुसंधान भी नहीं कर सकता। रावण सदा रावण रहेगा। उसे इतिहास कितना ही भला प्रमाणित कर दे, वह राम नहीं हो सकता। "प्रचलित इतिहास" के विरुद्ध जाने से काव्यरस नष्ट हो जाता है, अतः कल्पना को इतिहास का रूप देते हुए इतिहासकार को अत्यन्त सचेष्ट रहना होगा। वह ऐतिहासिक सत्य पर आघात न करे, प्रचलित सत्य की अवहेलना न करे और काव्यरस से भी उसे पुष्ट करे। इस प्रकार तीन-तीन मान्यताओं को साथ लेकर चलना कठिन है, यह हम मानते हैं।

ऐतिहासिक उपन्यास में लेखक यह प्रयत्न करता है कि वह किसी ऐसी विगत पीढ़ी के वातावरण, धारणा विश्वास, मान्यताओं, विचारों और मनोविज्ञान का पुनर्निर्माण करे जिसके सम्पर्क में वह स्वयम् नहीं आया है। उपन्यासकार स्वयम् जिस पीढ़ी में चलता होता है उसकी विशेषताओं से वह पूरा-पूरा परिचित होता है। पग-पग पर वह उस युग की परीक्षा करता है अथवा कर सकता है। अतीत के युग को चित्रित करते हुए उसे एक अपरिचित प्रदेश की यात्रा करना होती है जहाँ कदम-कदम पर गड्ढे हैं, जहाँ उसे प्रत्येक दिशा में सचेष्ट रहना होगा। यह सचमुच कठिन काम है। उसे युगविशेष के कपड़े-लत्ते, मकानों रहने के ढङ्ग, भोजन, वार्तालाप के विषय और भाषा, उपार्जन के साधन सभी के विषय में जानना आवश्यक हो जाता है। वह स्वयम् नास्तिक हो सकता है उसे एक धार्मिक आन्दोलन के बीच से गुजरना पड़े, स्वयम् प्रजातंत्रवादी हो और एकतंत्र के

वातावरण और मनोविज्ञान का उद्घाटन करे। उसे अपने वर्त्तमान रूप को एकदम उतार फेकना है और एक अपरिचित रूप धारण कर लेना है। वह अपने युग से हट कर पीछे चला जाय। साथ ही उसे यह भी देखना है कि जो कुछ कहे वह स्वयं उसके युग की अनुभूतियों से इतना दूर नहीं जा पड़े कि लोग उसका पुर्ननिर्माण न कर सकें या उसमें दिलचस्पी न ले सकें। सच तो यह है, उस वर्त्तमान को दृष्टि में रखते हुए अतीत के मुख पर से अवगुंठन उठाना होता है।

उपन्यास कितनी ही बातों के लिए अतीत की ओर मुड़ सकता है।

एक—वह वर्त्तमान् की वीथिका देकर उसके उज्ज्वल अथवा कुत्सित पक्ष को प्रकाश में लाना चाहता है;

दो—इसलिए कि वह किसी प्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्ति या किसी ऐतिहासिक आन्दोलन व घटना से आकर्षित हुआ है;

तीन—वह अतीत के द्वारा मनोविज्ञान की कोई समस्या आँकना चाहता है;

चार—वह आदर्शमूलक तथ्यों को संघर्ष करते हुए देखता है जैसे वह "एकतन्त्रवादी समाज", "धनी समाज" आदि के द्वारा वर्गविभेद के किसी रूप को सामने रख रहा हो;

पाँच—जातियों के मिश्रण एवं संघर्ष का अध्ययन करना चाहता है;

छः—इतिहास के प्रवाहमान रूप में नित्य सत्य को स्थापित करना चाहता है;

सात—किसी युग, देश, समाज, कुटुम्ब या तीनों को जैसे वे किसी समय होंगे चित्रित करना चाहता है;

आठ—उसमें "रोमांस" की भावना है या वह वर्त्तमान् से क्षुब्ध होकर उससे पलायन करता है।

और भी कितने ही कारण हो सकते हैं परन्तु प्रमुख रूप से उसे यही देखना है कि प्राचीन ऐतिहासिक वातावरण का निर्माण और ऐतिहासिक रस की प्रतिष्ठा करते हुए उसे न पूर्ण रूप से पुरातन का ज्ञान हो सकता है, न वह उसका ठीक-ठीक पुनर्निर्माण कर सकता है। अतः उसे अपना कथानक नित्य सत्यों के आधार पर चलाना होगा। माँ का बच्चे के प्रति स्नेह और वात्सल्य, देश के प्रति बलिदान की भावना, प्रेमी का प्रेमिका के केशों को सुगंध से भरना और उसकी मृत्यु पर उसके लिये बिलखना, हत्या के बदले में हत्या की भावना--ये कुछ नित्य सत्य हैं। इतिहास को इनके बीच में ही लिखना होगा। यही नित्य तत्त्व उसे जीवित रखेंगे। ऐतिहासिक उपन्यासकार को कल्पनात्मक ऐतिहासिक पुनर्निर्माण करना होता है, विशुद्ध ऐतिहासिक पुनर्निर्माण उसकी परिधि के बाहर है। वह हो भी सकता है, यह कहना भी कठिन है।

१३. कहानी

(१) कहानी की परिभाषाएँ, (२) प्राचीन कहानी का इतिहास (३) आधुनिक कहानी का इतिहास, (४) कहानी के तत्त्व—बीज, वस्तु, कथा, चरित्रचित्रण, मनोविज्ञान, कथोपकथन, वर्णन, (५) कहानी का अपना मौलिक क्षेत्र, (६) कहानी-लेखन की विभिन्न शैलियाँ।

एक शब्द में "कहानी" की परिभाषा देना कठिन है परन्तु कहानी क्या है, कौन चीज कहानी है, कौन चीज कहानी नहीं है, यह बात हम-आप सब पहचानते हैं, भले ही यह नहीं समझ

सकें कि साधारण कहानी और कलापूर्ण कहानी में क्या भेद है। प्रेमचन्द कहते हैं—"आख्यायिका केवल घटना है"। मोटे रूप से यह बात ठीक है, परन्तु कितनी ही कहानियाँ ऐसी हैं जो पात्र या परिस्थिति का विश्लेषण करके या चित्र देकर ही रह जाती हैं। इनमें घटना का अभाव है। फिर भी ये कहानियां हैं। प्रेमचन्द्र इस बात को जानते थे, इसीलिये उन्होंने कहा है—"वर्त्तमान आख्यायिका" (या उपन्यास) का आधार ही मनोविज्ञान है। घटनाएँ और पात्र तो उसी मनोवैज्ञानिक सत्य को स्थिर करने के निमित्त ही लाये जाते हैं। उनका स्थान बिल्कुल गौण है। उदाहरणतः मेरी 'सुजान भगत', 'मुक्तिमार्ग' 'पञ्च-परमेश्वर', 'शतरंज के खिलाड़ी' और 'महातीथ' नामक सभी कहानियों मे एक न एक मनोवैज्ञानिक रहस्य को खोलने की चेष्टा की गई है।" इन दो कथनों को मिलाना हो तो यों कह सकते हैं—कहानी एक घटना, मनः स्थिति या वाह्यपरिस्थिति है। जिसमें मनोवैज्ञानिक सत्य या मनोवैज्ञानिक रहस्य का उद्घाटन संभव हो। फिर भी हम "कहानी" को बाँध नहीं पाते। ऐसी सैकड़ों मनोरञ्जक कहानियाँ हैं जिनमें किसी विशेष मनोवैज्ञानिक सत्य या मनोविज्ञान का उद्घाटन नहीं हुआ है। कितनी ही कहानियों का लक्ष्य धर्म, नीति या व्यवहार लाभ होता है, कितनी ही कहानियों का कोई लक्ष्य नहीं होता। फिर भी वे कहानियाँ ही हैं, इसमें संदेह नहीं। आज यदि यह आग्रह है कि कहानी का मनोविज्ञान से कोई न कोई सम्बन्ध अवश्य हो तो कल यह आग्रह था कि उसका धर्म या नीति से कोई न कोई सम्बन्ध हो ही। वास्तव में, कहानी के उद्देश्य, विषय या "टेकनीक" को लेकर उसकी परिभाषा नहीं बन सकती। कहानी का क्षेत्र इतना विस्तृत है, विषय और शैली दोनों की दृष्टि से,

कि हम किन्हीं दो-चार वाक्यों को कहानी की परिभाषा के रूप में नहीं गढ़ सकते।

कहानी साहित्य की दृष्टि से ऋग्वेद की अपाला की कथा, ब्राह्मणों की वामदेव और रोहित की कथाएँ और उपनिषदों के जाबालि और नचिकेता के उपाख्यान अत्यन्त प्राचीन हैं। पिछले काल के दार्शनिकों ने भी न्याय और दर्शन के सिद्धांतों को ग्राह्य बनाने के लिए इस प्रकार की आख्यायिकाओं का प्रयोग किया है। कहानी की इस गम्भीर विषयों को समझाने की उपादेयता का बराबर प्रयोग होता रहा है। इसका एक स्पष्ट फल यह हुआ है कि पशु पक्षी, चेतन-अचेतन, भूत-प्रेत और मानव-अमानव सभी कहानी के पात्र बनने लगे। इन पात्रों की स्वाभाविकता-अस्वाभाविकता तब कथाकार के चिन्तन का विषय नहीं थी। कालांतर में जातक कथाएँ लिखी गई बौद्ध भिक्षुओं के द्वारा ये कथाएँ संसार में समीपवर्ती और दूरवर्ती भागों में पहुँची। इन जातक कथाओं का प्रचार और प्रभाव अत्यन्त व्यापक था। मध्य एशिया, योरोप, अरब, मिश्र, आदि भूखंडों में इन कथाओं ने पहली बार कहानी नाम की वस्तु को जन्म दिया। यूनान में इन्हीं जातक कथाओं का रूपान्तर किया हुआ संग्रह ३००० ई० पू० के समीप डेमोट्रोमिस कोलिरीयस ने किया। यही संग्रह बाद को "ईसप की कहानियाँ" नाम से प्रसिद्ध हुआ। इन ईसप की कहानियों का जो जातक कथाओं का रूपान्तर मात्र थीं, योरोप के साहित्य पर किसी न किसी रूप में सत्रहवीं शताब्दी तक प्रभाव रहा। बुद्ध की जातक कथाएँ पाली और प्राकृत में थीं, परन्तु बाद को ब्राह्मणों ने प्रचार का अच्छा साधन देखकर इन्हें स्वतंत्र रूप से अपना लिया। पंचतन्त्र, हितोपदेश आदि ग्रंथों में इस प्रकार की कथाएँ हैं। संस्कृतभाषा में ही नहीं,

अपभ्रंश और पैशाचिक भाषाओं में भी इन जातक कथाओं के आधार पर कथा साहित्य की सृष्टि हुई गुणाढ्य की 'बृहत् कथा" कदाचित् पैशाचिक भाषा में ही थी। वह संभवतः ६०० ई० पूर्व में लिखी गई होगी। अब ग्रंथ लुप्त हो चुका है परन्तु इसकी अनेक कथाएँ "बृहत् कथा मंजरी" और "कथा-सरित्सागर" के रूप में अब भी संस्कृत में उपलब्ध हैं। कथा-सरित्सागर के आधार पर ही प्रसिद्ध "अलिफलैला" की रचना हुई। उपदेश के उद्देश्य से आरम्भ होकर यह बराबर मनोरंजन की ओर बढ़ती गई। यह तो अवश्य है कि समाज के धर्म प्रधान होने के कारण प्राचीन कहानियों का प्रधान उद्देश्य धार्मिक अथवा नैतिक शिक्षा रहा है, परन्तु "दशकुमार चरित्र" के समय तक लौकिकता और सांसारिकता की शिक्षा की ओर कहानी का झुकाव स्पष्ट दिखाई देता है।

परन्तु हमारी वर्तमान कहानी पश्चिम की उपज है और उसे जन्म लिए १२५-१५० वर्ष से अधिक समय नहीं हुआ है। वह १९वीं शताब्दी से पहले इस रूप में हमारे सामने नहीं थी। इसीलिए जनता रोमांस, उपन्यास, नाटक Tale जैसी चीजों से मनोरञ्जन करती थी। ये सब चीजें ऐसी थीं जिनमें कहानी के तत्त्व वर्त्तमान् थे। वर्तमान कहानी ने धरोहर के रूप में इनसे बहुत कुछ प्राप्त किया है। नाटक से कथोपकथन और नाटकीयता। उपन्यास से चरित्रचित्रण, काव्य से प्रकृतिचित्रण और रसात्मकता। आज यदि आप कहानियों का कोई संग्रह देखें तो उसमें देवकथात्मक कहानियाँ और रूपकात्मक कहानियाँ भी मिल सकती हैं और ऐसी कहानियाँ भी मिल सकती हैं जिसका उद्देश्य और ढंग जातक कथाओं का होगा। इस प्रकार आज की कहानी का क्षेत्र साहित्य के किसी भी अंग-नाटक, उपन्यास, कविता—

से अधिक विस्तीर्ण है। उसने पूर्ववर्त्ती सभी साहित्यिक उपादानों से अपने निर्माण में सहारा लिया है परन्तु आज उसका रूप, सौष्ठव, शैली सब उसकी निजी व्यक्तिगत सम्पत्ति हैं।

अच्छी कहानी के लिए प्रभाव की एकता, समय और स्थान की एकता और चरित्रचित्रण की एकता अधिक से अधिक होना आवश्यक है। इन सब का सम्बन्ध मूलतः बीजवस्तु और कथानक से है। प्रभाव की एकता के लिए यह आवश्यक है कि कहानी किसी एक विशेष दृष्टिकोण, परिस्थिति या उद्देश्य को लेकर चले और उसी विशेष दृष्टिकोण परिस्थित या उद्देश्य को लेकर समाप्त हो जाय। अतः कहानी की बीजवस्तु एक ही हो, और वह बीजवस्तु स्पष्ट हो। कहानीकार क्या चाहता है, कहानी क्या बने, इस सम्बन्ध में उसे अपने मन में स्पष्ट होना चाहिये। जब वह कहानी लिख रहा हो तो उस मूल उद्देश्य (बीजवस्तु) पर उसकी दृष्टि रहनी चाहिये जिससे वह इधर-उधर बहक न जाय। कथानक में बीजवस्तु अथवा कथाकार के उद्देश्य का विस्तार होता है, अतः कहानी में कथानक का सौष्ठव भी आवश्यक है। कथानक जितना हो, स्पष्ट हो, केन्द्रवर्ती हो। यह आवश्यक नहीं कि कथा का विभाजन सदैव ही आरम्भ, आदि और अन्त में हो सके, परन्तु यह अवश्य आवश्यक है कि कथा संगठित हो। कहानी में कई घटनाओं का समावेश हो तो उनके भीतर किसी एक अटूट सूत्र का होना आवश्यक है। यह उचित नहीं है कि कथाकार किसी अनर्थक घटना या किसी अनावश्यक पात्र को कहानी में स्थान दे या एक दो पर अनर्गल प्रलाप भर दे। कहानी में उच्छृङ्खलता को थोड़ा भी प्रश्रय नहीं मिलना चाहिये। कथावस्तु स्वाभाविक, मनोरंजन और सरल हो। वह प्रवाहयुक्त हो। हो सके तो वह सांकेतिक हो। कहानी

पढ़ कर पाठक को मनोरंजन से कुछ अधिक मिल जाय। रूपकात्मक कहानी की तो विशेषता ही यही है कि वह इस प्रकार वस्तु से बाहर संकेत करती है, परन्तु अन्य कहानियों में भी बहुत कुछ पाठक के मन और कल्पना के लिए छोड़ा जा सकता है। कहानी इतिवृत्तात्मक कथामूलक निबन्ध नहीं है, वह कला है। कला का सर्वोच्च रूप वह है जहाँ वह प्रतिपादित वस्तु से आगे बढ़कर अप्रतिपादित वस्तु या लक्ष्य की ओर संकेत करती है।

कथानक के बाद मनोविज्ञान आता है और मनोविज्ञान के सहारे पात्र अवतीर्ण होते हैं। मूलतः चरित्रचित्रण उपन्यास का विषय है कहानी का विषय नहीं है। परन्तु जहाँ कथानक केवल कथानक के लिए नहीं है, वहाँ पात्र का चरित्र थोड़ा-बहुत विकसित ही होगा। पात्र-प्रधान कहानियों में पात्र का विश्लेषण या विकास ही कहानीकार का ध्येय होता है। परन्तु अन्य प्रकार की कहानियों में भी जब तक वे एकदम "टाइप" को चित्रित नहीं करती हैं, शतप्रतिशत रूपकात्मक नहीं हैं, कहानी चरित्र के विश्लेषण, विकास, नहीं तो "निर्माण" में दत्तचित्त होती ही हैं। परन्तु मनोवैज्ञानिक कहानियों और पात्रप्रधान कहानियों में अन्तर है। इसे समझ लेना चाहिये। मनोवैज्ञानिक कहानियों में मूल समस्या मनोविज्ञान के सिद्धान्तों का प्रस्फुटन है, पात्रप्रधान कहानियों में विशेष पात्र के व्यक्तित्व का निर्माण एवं विकास ही मन्तव्य है। यद्यपि दोनों चीजों का निकट का सम्बन्ध है, परन्तु जहाँ बीजवस्तु मनोविज्ञान से सम्बन्ध नहीं रखती, वहाँ भी चरित्रचित्रण महत्त्वपूर्ण होता है, मनोविज्ञान उसे पुष्ट कर सकता है। पात्रप्रधान या चरित्रचित्रण प्रधान कहानियों को छोड़कर शेष कहानियों में पात्रों का स्थान गौण है।

कथानक और पात्रों के बाद शैली का नाम आता है। वस्तु-

वर्णन, कथोपकथन, दृश्य चित्रण, संबोधन अनेक शैलियों द्वारा कहानी की कथावस्तु चलाई जाती है। कोई-कोई कहानी (जैसे कौशिक की कुछ कहानियाँ) केवल कथोपकथन के आधार पर चलती हैं। इस प्रकार की कहानी कथोपकथन प्रधान कहानी कही जाती है, परन्तु नामों से कुछ आता-जाता नहीं। अधिकांश कहानियों में वस्तुवर्णन और कथोपकथन का इस प्रकार संतुलित प्रयोग होता है कि कहानी में दोनों का यथा-आवश्यकता प्रयोग होता है। वस्तुवर्णन भी कई प्रकार का हो सकता है—आत्म-कथात्मक (मैं-शैली), परकथात्मक (वह-शैली), संबोधनात्मक (तुम-शैली)। उसका रूप साधारण इतिवृत्तात्मक हो सकता है, या मनोवैज्ञानिक या कलात्मक। प्रायः इनमें से कोई अकेला नहीं चलता। कहानीकार कहानी को कह सकता है, या पात्र कह सकता है, या कहानी समाचारों, पत्रों, डायरी के पन्नों अथवा इसी प्रकार की चीजों के सहारे गढ़ी जा सकती है। कहने वाला प्रधान पात्र हो सकता है या गौण पात्र। कभी-कभी कई-कई पात्र बारी बारी से कहानी कह सकते हैं। संक्षेप में जितने कलाकार हैं, कहानी लिखने की उतनी ही शैलियाँ हैं।

१४. कहानी और जीवन

(१) कहानी और जीवन के सम्बन्ध में जन-धारणा, (२) कहानी जीवन का यथार्थ चित्र नहीं है, कल्पनामूलक कलात्मक चित्र है, (३) यथार्थवादियों और कलावादियों के कहानी के प्रति दृष्टिकोण, (४) कहानी में यथार्थवाद आदर्शवाद के सामञ्जस्य की चेष्टा (५) उपसंहार।

कुछ लोग कहानी को वास्तविक जीवन से बिल्कुल भिन्न और कुछ उसका विरोधी भी समझते हैं। वे कहते हैं जीवन

सत्य है, कहानी झूठी है। संसार के साहित्य में एक समय जो कहानियाँ लिखी जाती थीं उनमें सत्य की अपेक्षा झूठ की ही अधिक मात्रा थी। पाठक वास्तविक जीवन की कटुता से बचने के लिए उसे पढ़ता था। उसके जीवन में जो असंभव था उसे वह कहानी में सम्भव बना लेना चाहता था। इस प्रकार की कहानियों का चलन शताब्दियों तक रहा। उन्नीसवीं शताब्दी में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास हुआ और इस प्रकार की सामाजिक क्रांतियाँ हुइ जिन्होंने जनविशेष की अपेक्षा जन-साधारण का महत्त्व अधिक बढ़ाया है। फल यह हुआ कि पिछली सब कहानियों को मनुष्य ने वास्तविकता से दूर पाया। इसलिए वह कहने लगा—कहानी असत्य है, जीवन सत्य है।

परन्तु बात ऐसी नहीं है। अन्य कलाओं की तरह कहानी भी एक कला है और अन्य कलाओं का जीवन से जो सम्बन्ध है वही सम्बन्ध कहानी का भी है। जो आलोचक कहानी में जीवन का जैसा का तैसा रूप चाहते हैं उनके लिए यही कह देना उचित होगा कि कहानी जीवन का फोटू नहीं लेती, वह एक कुशल चित्रकार की तरह चित्र बनाती है। किसी चीज के वास्तविक रूप और उसके फोटू में बहुत अन्तर नहीं होता परन्तु किसी भी चीज और कुशल चित्रकार द्वारा बनाए हुए उसके चित्र में बहुत अंतर रहता है। फोटू निःसन्देह जीवन है, न कम न अधिक। इसके विपरीत चित्र जीवन है, परन्तु कुछ कम, कुछ अधिक। फोटू जीवन की वास्तविकता के ऊपर आश्रित है परन्तु चित्र जीवन की वास्तविकता को छूता हुआ भी उससे ऊपर है। चित्रकार के मन पर वास्तविक जीवन का जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह उसके दृष्टि-कोण द्वारा कुछ यहाँ, कुछ वहाँ बदल जाता है। चित्रकार जो

हमारे सामने रखता है वह वास्तविक जीवन नहीं होता। वह वास्तविक जीवन से कुछ अधिक भिन्न भी नहीं होता परन्तु उसकी विशेषता यह होती है कि वह जीवन के साथ-साथ देखने वाले के दृष्टिकोण को भी हमारे सामने रखता है। जो परिस्थिति चित्र की है वही परिस्थिति कहानी की भी है। इसीलिये चित्र में चित्रकार के व्यक्तित्व का जो स्थान होता है, वही कहानी में कहानीकार के व्यक्तित्व का। कहानीकार और चित्रकार दोनों ही जीवन को कैमरे की ताल के सामने नहीं रख देते। उनका व्यक्तित्व उनकी रचना और जीवन के बीच में आ जाता है जीवन का जो भाग उनके व्यक्तित्व में छन कर जिस प्रकार उनके सामने आता है उस प्रकार वे उसका चित्रण करते हैं।

इसीसे यथार्थवादियों की माँग हमें खटकती है। यथार्थवादी कहते हैं—"हमें जीवन दो। तुम जो लिखो उसमें सच्ची घटनाओं का प्रतिबिम्ब हो। अपनी तरफ से न कुछ घटाओ, न बढ़ाओ, एक बात करो। कहानी में असम्भव बात कोई न हो। बेकार जीवन की साधारण बातें उसमें हों उसमें रोमांस न हो। बेकार और बेमतलब चीजें उसमें न भरो और न कल्पना से ही उसे भरो। यदि तुम कोई कपोलकल्पित घटना नहीं लिख रहे हो तो तुम्हारे हाथ-पैर जीवन से बँधे हुए हों।" सच तो यह है कि यथाथवादी जीवन के सत्य पर प्रत्येक वस्तु का बलिदान करना चाहते हैं। उनके लिये कहानी वास्तविकता और वास्तविकता कहानी है। दोनों में कोई अन्तर नहीं।

ऊपर हमने एक दृष्टिकोण दिया है। दूसरा दृष्टिकोण उन लोगों का है जो कहानी को कला का अंश समझते हैं। वे कहते हैं—"यह जो तुम जीवन में अपने चारों ओर देखते हो, यही

क्या अनुभव है ? क्या जीवन का सत्य मनुष्य के सत्य से बड़ा है ? क्या मन स्वयम् निर्माण नहीं करता ? और क्या वह जो निर्माण करता है वह सत्य नहीं है ?" इस श्रेणी के आलोचकों की दृष्टि में सत्य को उसी रूप में उपस्थित करने में कोई भी कला नहीं है। उनके निकट उनके अपने दृष्टिकोण का मूल्य अधिक नहीं है। उनका तर्क कहता है कि जीवन के सत्य के ऊपर एक दूसरा सत्य है। कहानीकार का सम्बन्ध इसी सत्य से है। इसे वे "कवि का सत्य" कहते हैं.।

सच तो यह है कि हमें इन दोनों दृष्टिकोणों में मेल बिठाना है। अनुभव को परिभाषा में जकड़ा नहीं जा सकता और उसकी सीमाएँ भी नहीं बनाई जा सकतीं। हम जो अपनी वहिर्न्द्रियों से ग्रहण करते हैं वही सब अनुभव नहीं है। वह तो अनुभव का एक अंश है। साहित्य में जिस अनुभव का हम प्रयोग करते हैं उसकी सीमाएँ कहीं अधिक बड़ी हैं। हमारा मन बाहर के अनुभवों से ग्रहण किये हुये सत्य पर चिन्तन करता है। और अन्य अनुभवों से उन्हें ।रंग कर उसे एक नया रूप दे देता है। हमारी इन्द्रियों ने जो अनुभव किया था उससे मन का यह अनुभव भिन्न हो सकता है। परन्तु इसीलिये असत्य नहीं हो जाता।

अपनी इन्द्रियों के द्वारा हम बाहर की वस्तुओं से पहचान करते हैं। यह अनुभव की पहली सीढ़ी है। हम नीले आकाश में काले-काले बादलों को उमड़ते देखते हैं। अपने इस अनुभव को हम सत्य मानते हैं परन्तु यदि हम एक कविता में यह अनुभव ज्यों का त्यों रख दें तो उससे दूसरे व्यक्ति (पाठक) में हम अनुभूति किस तरह जगा सकेंगे ? हमने बादल को अपनी आँखों से देखा और उन्हें अपने मन में स्थान दिया। हमारे मन ने इस अनुभव को अपने लिये सत्य बनाने की चेष्टा

की। उसने पहले के अनेक अनुभवों से उसका मेल बैठाया। सच तो यह है उसने अपने लिए सत्य की एक नई भूमि तैयार की। हमारे मन ने बादलों में एक नये सत्य को स्थापित किया। उसने कहा—"आकाश के नीले जल में एक तरुणी नहाने उतरी है और उसके केशपाश खुल कर जल के तल पर बिखर गये हैं।" अब उसके लिये बादलों का यह रूप भी उतना ही सत्य है जितना पहला रूप। मन सतत प्रगतिशील है। वह अनेक वस्तुओं को अनेक प्रकार से ढालता है और सच्चे अनुभवों की नीवों पर अनेक बालू के महल उठाता है। पूर्व अनुभवों के अनेक तत्वों से इन महलों का निर्माण होता है। इस प्रकार कवि-सत्य का जन्म होता है।

मन का विषय कल्पना है। सत्य और कल्पना का आधार लेकर मायावी मन अनेक खेल खेलता है जो उसके लिये सत्य है। मनुष्य का मन जहाँ-कहीं है वहाँ वह उसके लिए सत्य है क्योंकि सभी मन एक ही तत्व के बने हैं। हम कैसे कह दें कि बाहर जो है सत्य है और अन्दर जो है झूठा है। बाहर का अनुभव जिस प्रकार से सत्य है उस प्रकार भीतर का अनुभव भी सत्य होगा। जब तक मन की बात एक दम असम्भव न हो तब तक हम उसे सम्भव मान ले सकते हैं।

ऊपर के तर्क से हमने यह सिद्ध किया कि तब तक हम किसी कहानी को झूठा नहीं कह सकते जब तक वह हमारे आदर्श जगत में सम्भाव्य हो सकती है। यदि कहानी किसी भी परि-स्थिति में किसी तरह सम्भव हो सकती है तो हमारे लिये सत्य है।

ऊपर हमने जो तर्क दिया है उस पर चल कर ऐसे आलो-चक जो कला को महत्व देते हैं आदर्श और रोमांस को भी

उतना ही सत्य समझते हैं जितना यथार्थ जीवन को। कहानी की दुनिया में यथार्थ, आदर्श और रोमांस की सीमाएँ मिल जाती हैं और हम इन तीनों को एक दूसरे से अलग नहीं कर सकते। यथार्थ और कला का रूप देने में हमें आदर्श की सहायता की जरूरत होती है और रोमांस अतिशयोक्ति न हो जाय इस भय से उसमें यथार्थ का पुट देना होता है। सच तो यह है कि कहानी में हमें कहानी की कला और कवि-सत्य पर अधिक ध्यान देना होता है। इसलिये हम यथार्थ और रोमांस को इन दोनों से अलग नहीं कर सकते। इन दोनों तत्वों की सहायता से ही हम यथार्थ को मनोरंजक बना सकते हैं। इसके लिये हमें कल्पना का थोड़ा आश्रय लेना पड़ता है। इसके सिवा हम प्रत्येक अतिप्राकृतिक और अलौकिक को यथार्थ घटना के समीप ला सकते हैं यदि हम उस घटना के साथ ऐसी घटना भी जोड़ दें जो मानव-मनोविज्ञान पर आश्रित है।

अन्त में हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि कहानी में यथार्थ और अनुभव को विस्तृत अर्थों में लेना चाहिये। यथार्थवादी इन दोनों शब्दों के बहुत संकीर्ण अर्थ लगाते हैं। वे कहानी में वैज्ञानिक नपी-तुली सच्चाई चाहते हैं परन्तु उनको याद रखना चाहिये कि कहानी को कलात्मक और प्रभावशाली बनाने के लिये यह आवश्यक है कि उसे साधारण जीवन से ऊपर उठाया जाय।

साहित्य में सब से महत्वपूर्ण वस्तु कल्पना है। मनुष्य जहाँ प्रत्येक वस्तु को विचार में जानना चाहता है वहाँ वह यह भी चाहता है कि इस प्रकार का ज्ञान उसे सरलता से मिल जाय। वह फूल की पंखुड़ी नोच कर उसके प्रत्येक भाग से परिचित होने की चेष्टा करता है परन्तु साथ ही वह यह भी

चाहेगा कि उसका मन फूल की पूर्णता को भी ग्रहण कर सके। कहानी मन की अपेक्षा हृदय को अधिक स्पर्श करती है। अतः उसमें चुनाव की बड़ी आवश्यकता है। अधिक चुनाव से मन संतुष्ट हो जाता है, हृदय ऊब जाता है। वह प्रत्येक वस्तु जो हमारे मनोभाव और हमारी मनोभावनाओं पर प्रभाव डालती है, और उसमें रसात्मक भ्रांति उत्पन्न करती है, वह प्रत्येक वस्तु जो थोड़ी देर के लिये पृथ्वी के समतल से ऊपर उठा कर एक दूसरी अधिक सुन्दर और कम परिचित पृथ्वी पर स्थापित करती है--वह प्रत्येक वस्तु हृदय को ग्राह्य है। इसलिये कहानीकार वस्तुओं के विस्तार में न जाकर उनकी कुछ विशेषताएँ चुन लेता है और उन थोड़ी विशेषताओं को कहानी में इस तरह जोड़ता है कि उस थोड़े वर्णन के द्वारा ही पूरी वस्तु की व्यंजना हो जाती है। पाठक जब थोड़े से वर्णन में पूरी वस्तु से परिचित हो जाता है तो वह यह क्यों चाहेगा कि वह उसके विस्तार में जाय? यथार्थवादी और आदर्शवादी कलाकार के दृष्टिकोण में केवल यह अन्तर है कि जहाँ यथार्थवादी प्रत्येक वस्तु को विस्तार में देखता रहता है और सब कुछ बता देना चाहता है, वहाँ आदर्शवादी कलाकार हमारे सामने वस्तु की विशेषताएँ रखता है, इस तरह की जिन चीजों को उसने स्थापित नहीं किया है, मन उनकी स्वयम् कल्पना कर लेता है। आदर्शवादी कलाकार अपनी चुनी हुई चीजों का यों ही वर्णन नहीं कर देता। वह उसमें अपने मनोभावों की व्यजंना भी रखता है। और वह उन चीजों को अपनी आत्मा के रस में लपेट कर पाठक के सामने रखता है। वह यथार्थवादी की तरह शुष्क दार्शनिक नहीं है भावप्रधान कवि है।

संक्षेप में, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कहानी में

यथार्थ जीवन का चित्रण आवश्यक है। न होने से कहानी कपोल कल्पना मात्र रह जायगी। हम किसी भी ऐसी वस्तु को स्वीकार नहीं कर सकते जिसके लिए हमारा अनुभव हमें तैयार नहीं कर देता या जो हमारे मनोविज्ञान से मेल नहीं खाती। परन्तु इसके साथ ही हमें कला का मुख भी देख कर चलना पड़ता है। हम जीवन का सत्य तो अवश्य उपस्थित करें परन्तु वह सत्य वैज्ञानिक सत्य पर न आश्रित होकर कला के सत्य पर आश्रित हो। कहानी का जो उद्देश्य रहे वह कलापूर्ण ढङ्ग से स्थापित किया गया हो। पाठक उसे कहानी के भीतर से पाये। कहानीकार कोई पुरोहित नहीं है जो शिक्षा देता फिरे। हो सकता है कि कहानी की नींव किसी ऊँची नैतिक शिक्षा पर रखी गई हो, हो सकता है कि कहानीकार ने कोई नैतिक दृष्टिकोण उपस्थित किया हो। परन्तु उस नैतिक शिक्षा अथवा नैतिक दृष्टिकोण को शुष्कवर्णनात्मक ढंग पर उपस्थित करना भूल होगी। कला का काम पाठक की सम्वेदना उभारना और उसे सत्य में सौन्दर्य का दर्शन कराना है। कहानी यह काम करे तब वह सफल कहानी है।

१५. नाटक

(१) परिभाषा; (२) नाट्य-रचना की प्राचीन परम्परा; क. भारतीय, ख, यूरोपीय। (२) नाटक का नवीन युग। (३) नाट्य-रचना की नवीन मान्यताएँ। (४) नाटक के नवीन भेद।

बन्दर का वंशज मनुष्य भी उसी की तरह अनुकरणप्रिय प्राणी है। बच्चा अपनी शैशवावस्था से ही अनुकरण करने लगता है। यही अनुकरण वह मनोवृत्ति है जो नाटक के मूल

में काम करती है। प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में नाटक के लिए प्रयुक्त शब्द 'रूपक' से यह बात और स्पष्ट हो जाती है। रूपक का अर्थ है रूप का आरोप। अर्थात् अपने से इतर व्यक्ति के रूप का अपने ऊपर आरोप कर उसका कायिक, वाचिक और मानसिक अनुकरण ही रूपक या नाटक है।

भारतीय आचार्यों ने काव्य को साहित्य के अर्थ में प्रयोग करते हुए उसके श्रव्य काव्य और दृश्य काव्य दो भेद किए हैं। दृश्य काव्य ही नाटक या रूपक है। दृश्य काव्य के रूपक और उपरूपक दो भेद होते हैं। आगे रूपक के नाटक, प्रकरण, भाण प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथी, अंक और इहामृग, ये दस तथा उपरूपक के नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्य-रासक, प्रस्थानक, उल्लाप्य, काव्य, प्रेंखण, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणिका, हल्लीश और भाणिका, ये १८ उपभेद होते हैं। ये भेद-विभेद वस्तु, नायक और रस पर आधारित हैं। वस्तु नाटक की कथा का नाम है। इसे कथानक भी कहते हैं। वस्तु के दो भेद होते हैं। प्रधान कहानी या कथानक को 'मुख्य' 'मूल' या 'आधिकारिक' वस्तु कहते हैं। छोटे मोटे कथानक जो मूल की सहायता करते हैं 'प्रासंगिक' कहे जाते हैं। वस्तु या कथावस्तु के इन दो भेदों के अतिरिक्त उनके स्वभाव के अनुसार ३ और भेद किए जाते हैं। पुराण या इतिहास प्रसिद्ध कथावस्तु को 'प्रख्यात' कहते हैं। आद्यन्त कल्पित कथा वस्तु 'उत्पाद्य' कहलाती है। तीसरी कथावस्तु वह होती है जिसमें प्रख्यात' तथा 'उत्पाद्य' का मिश्रण होता है। मिश्रण के कारण ही इसका नाम 'मिश्र' है। कथावस्तु जहाँ से आरंभ होती है उसे 'बीज' कहा गया है तथा जहाँ उसकी समाप्ति होती है उस स्थल की 'कार्य' संज्ञा दी गई है। इन दोनों के बीच में विंदु पताका,

और प्रकरी आते हैं। इन पाँचों का शास्त्रीय नाम अर्थ प्रकृति है। अर्थप्रकृतियों के साथ-साथ कथा वस्तु की पाँच अवस्थाएँ मानी गई हैं जिन्हें आरंभ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम कहते हैं। पाँच अर्थप्रकृतियों तथा पाँच अवस्थाओं के कारण नाटक का कथानक पाँच भागों में बँट जाता है। इन भागों के आरम्भ में संधियाँ आती है जो जोड़ने का काम करती हैं। संधियों की भी संख्या पाँच है जिनके क्रमशः मुख संधि, प्रति मुख संधि, गर्भ संधि, विमर्श संधि तथा निर्वहण संधि, ये पाँच नाम हैं। आचार्यों ने इस पाँचों संधियों के भी क्रम से १२, १३, १२, १३ तथा १४ भेद किए हैं। अभिनय की दृष्टि से कथा वस्तु के दो भेद होते हैं। वाच्य या दृश्य उन्हें कहते हैं जो रंगमंच पर दिखलाए जाते हैं और जिनके विस्तार को ऊपर हम लोग देख चुके हैं। सूच्य कथावस्तु के उस अंश को कहते हैं जिसकी केवल सूचना दी जाती है और जो रंगमंच पर दिखलाया नहीं जाता। भारतीय परंपरा में युद्ध, बध, भोजन, वस्त्र पहनना आदि कुछ दृश्य वजित कहे गए हैं। ये भी सूक्ष्म के ही अंतर्गत आते हैं। यह तो रही कथावस्तु की बात। नायक के विषय में प्रायः आदर्शवादी होना उचित माना गया है। उसके लिए लोक-प्रिय, प्रियभाषी, विनय-विवेक सम्पन्न, युवा तथा शास्त्रज्ञ होना आवश्यक है। स्वभाव के अनुसार नायक के धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशांत ४ भेद किए गए हैं। कहना न होगा कि भारतीय परंपरा के अनुसार नायक का धीर होना अनिवार्य है। रसों के आधार पर नायक के और भी भेद मिलते हैं। गणना के लिए नायक के कुल १४८ भेद होते हैं। इसी प्रकार नायिका के भेदों की संख्या भी कम नहीं है। कथावस्तु और नायक के बाद नाटक में महत्त्वपूर्ण स्थान रस का है। यों तो

सभी रसों के नाटक हो सकते हैं पर शृंगार, वीर या करुण का होना अधिक शास्त्रीय माना गया है। रसों के उचित संपादन के लिए नाटक में वृत्तियों की उद्भावना की गई है। वृत्ति का सीधा अर्थ बरताव, काम या ढंग है। वृत्ति के अर्थ और शब्द दो भेद हैं और फिर अर्थ के कैशिकी, सात्वती और आभटी तीन उपभेद तथा शब्द का भारती—कुल ४ भेद होते हैं। आगे इनके भी भेद किए गए हैं। भारती वृत्ति करुण और अद्भुत के अनुकूल, कैशिकी शृंगार और हास्य के अनुकूल, सात्वती वीर और रौद्र के अनुकूल तथा आरभटी भयानक और वीभत्स के अनुकूल मानी गई हैं। नाटक के मूल तत्त्वों में अति महत्त्वपूर्ण चीज कथोपकथन है। अपने यहाँ कथोपकथन गद्य तथा पद्य दोनों में होता रहा है। इसके मूलतः ३ भेद हैं। श्राव्य या प्रकाश उस कथोपकथन को कहते हैं जो मंच के सभी पात्रों के सुनने के लिए हो। अश्राव्य या स्वगत कथोपकथन एक प्रकार का मुखर विचार (Lond thinking) है, जिसे अंग्रेजी में सालीलाकी कहते हैं। इसे कोई पात्र नहीं सुनता और प्रायः रंगमंच पर जब अकेले कोई पात्र रहता है तो उसकी मनःस्थिति को स्पष्ट करने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। तीसरा कथोपकथन नियतश्राव्य है, जिसके अपवारित और जनांतिक दो भेद होते हैं। इन तीन के अतिरिक्त एक चौथा कथोपकथन 'आकाशभाषित' भी मिलता है पर इसका प्रयोग नहीं के बराबर मिलता है। नाटक नांदीपाठ तथा पूर्व रंग से आरंभ होकर भरतवाक्य से समाप्त होता है। नाटक चाहे कैसा भी हो अन्त में मंगल आवश्यक है। पश्चिमी परंपरा के दुखान्त नाटक हमारी शास्त्रीय दृष्टि से निंदनीय है। भारतीय दृष्टिकोण से नाट्य-रचना के विषय में ये प्रधान बाते हैं पर सत्य यह है कि यह विवेचन केवल लक्षण ग्रंथों में मिलता हैं। किसी

भी नाटक या रूपक में इन सबका प्रयोग नहीं मिलता और मिलना संभव भी नहीं।

नाटक की पाश्चात्य परंपरा का आरम्भ ग्रीकों से होता है। उनमें भारत जैसा सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्गीकरण तथा विश्लेषण तो नहीं मिलता पर आवश्यकतानुसार साधारणतः आवश्यक बातें मिल जाती हैं। भारतीय पद्धति के लिए जैसे प्रथम ग्रंथ भरत का नाट्य शास्त्र है, यूरोपीय पद्धति के लिए उसी प्रकार अरस्तू का पोयटिक्स (Poetics) है। हमारी कथावस्तु, नायक तथा रस की तरह वहाँ भी 'प्लाट', हीरो और इमोशन हैं। अरस्तू भी हीरो को उच्च गुणों वाला चाहते हैं। पश्चिमी नाटकों के दुखांत (Tragedy) और सुखांत (Comedy) दो भेद होते हैं। कहना न होगा कि यह अपनी परंपरा के सर्वथा प्रतिकूल है। साधारण कथोपकथन के अतिरिक्ति स्वगत (Soliloquy) तथा नियतश्राव्य (Aside) भी वहाँ मिलते हैं। इमोशन में प्रधानतः करुण (दुखांत) तथा हास्य (सुखांत) का उल्लेख मिलता है। पश्चिमी परंपरा म संकलन-त्रय भी प्रमुख चीज है जिसका उल्लेख आगे मिलेगा।

पूरब और पश्चिम में नाट्य रचना की प्राचीन परंपरा के इस सक्षेप चित्र से हम अनुमान लगा सकते हैं कि प्राचीन नाटक कृत्रिमता के अधिक समीप थे। आधुनिक नाटयकीय परंपरा के सूत्रों के लिए हमें शेक्सपीयर तक जाना पड़ता है। शेक्सपीयर और मोलियर ने ही यूरोप में सर्वप्रथम ग्रीक परंपरा को तोड़कर नाटक को स्वाभाविकता की ओर अग्रसर किया। पर वे अपने प्रयास में बहुत अधिक सफल नहीं हुए। पूर्ण स्वाभाविकता के लिए नारवे के प्रसिद्ध नाटककार इब्सन को आना पड़ा। इब्सन ने सारी रूढ़ियों को चकनाचूर कर जीवन और उसकी

आवश्यकता के अनुकूल नवीन परंपरा चलाई जिसका इंग्लैंड में शा तथा गाल्सवर्दी, रूसमें शिकाव, जर्मनी में हाप्टमैन तथा फ्रांस के ब्रूइक्स आदि ने अनुकरण किया और नाट्य-साहित्य के नवीन युग का आरम्भ हुआ। इब्सन की परंपरा को भारत में चलाने वाले श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र हैं।

योरोपीय और भारतीय नवीन तथा प्राचीन सारी परंपराओं के आधार पर नाट्य रचना की कला के संबंध में निचोड़ रूप में कुछ प्रमुख मान्यताएँ यहाँ देखी जा सकती हैं। कहना न होगा कि ये मान्यताएँ मूलतः इब्सन की आत्मजा हैं यद्यपि कुछ हिन्दी के विद्वान इसे स्वीकार करने में हिचकते हैं। नाटक में मूल वस्तु कथावस्तु है। कथावस्तु जीवन की किसी समस्या से संबद्ध होनी चाहिए। आरंभ से ही कथावस्तु के विकास के लिए संघर्ष (Conflict) होना चाहिए, संघर्ष वाह्य और आतरिक दो प्रकार का होता है। वाह्य संघर्ष नाटक और खलनायक, व्यक्ति और समाज, वर्ग और वर्ग, धनी और गरीब, स्त्री और पुरुष आदि का हो सकता है। आंतरिक संघर्ष किसी व्यक्ति के मस्तिष्क या हृदय में समय समय पर परिस्थिति-जन्य समस्याओं के कारण एक भाव का दूसरे भाव के साथ होता है। इस प्रकार संघर्षों में होता कथानक आगे बढ़ता है। प्रारम्भ में स्थिति का स्पष्टीकरण रहता है जिसे परिचय या व्याख्या (Exposition) कहते हैं। उसके बाद संघर्षों का आगमन होता है और कार्य आगे बढ़ने लगता है जिसे अंग्रेजी में (Rising action) कहते हैं। संघर्ष जब अंतिम सीमापर पहुँचता है तो चरमसीमा (Crisis) आती है। यहाँ से कथानक। आगे बढ़ता है तो एक दल (संघर्ष के एक पक्ष) की अवनति दिखाई पड़ने लगती है और कथानक तेजी से आगे बढ़ता है। अंत में अंतिम अवस्था आती है और

नाटक खतम हो जाता है। कथा-वस्तु के सिलसिले में ही संकलनत्रय का उल्लेख भी समीचीन होगा। संकलनत्रय मूलतः तो यूनानी चीज है पर स्वाभाविकता की दृष्टि से इसका ध्यान नाटक को उत्तम बना सकता है। इसके वस्तु, या कार्य (action) काल (time) तथा स्थान (place) तीन भेद हैं। कार्य संकलन का अर्थ यह है कथावस्तु कसी हो। इधर उधर के व्यर्थ के कार्य न दिखलाए जाँय जो उसे आगे बढ़ाने तथा संघर्ष को तीव्र करने में कार्य न करते हों। काल संकलन का अर्थ यह है कि नाटककार का प्रयास यह होना चाहिए कि यथासाध्य कम समय की घटनाओं को नाटक में स्थान दे। सुन्दर तो यह माना गया है कि नाटक जितनी देर या जितने घन्टे में संपन्न हो, प्रायः उतने ही घन्टों का कार्य रखना चाहिए। इससे स्वाभाविकता बढ़ जाती है। स्थल संकलन तो संभवतः रंगमंच की असमर्थता के कारण रक्खा गया है। इसके अंतर्गत नाटक में कम से कम स्थल परिवर्तन होने चाहिए। कथावस्तु के बाद चरित्र-चित्रण को ले सकते हैं। नाटक में प्रधान ध्यान इस पर दिया जाना चाहिए। चरित्र सजीव और स्वाभाविक हों तथा नाटक में उनका अकृत्रिम विकास हो। चरित्र-चित्रण के लिए उपन्यासकार की भाँति नाटककार स्वयं तो कुछ कह सकता नहीं अतः उसे कथोपकथन, स्वगत कथन, व्यापार आदि के ही सहारे इसे पूरा करना पड़ता है, इसी कारण इसमें बड़े कौशल की आवश्यकता है। कथोपकथन नाटक में प्रधान चीज है। साधारण बातचीत ही अब ठीक मानी जाती हैं। स्वागत का कभी-कभी पर बहुत कम प्रयोग किया जा सकता है। आकाशभाषित या नियत श्राव्य आदि पूर्णतः अस्वाभाविक लगते हैं अतः उनका प्रयोग नहीं होना चाहिए। पात्रों की भाषा तथा विचार शृंखला उनकी योग्यता के अनुकूल होनी

चाहिए। बात के बीच में पद्य या गीत-नृत्य आदि का भी अब स्थान नहीं रहा, क्योंकि साधारण जीवन में उनका दर्शन नहीं होता। कथोपकथन के विषय में अंतिम बात यह कही जा सकती है कि वे बहुत लंबे न होने चाहिए। साधारण जीवन में हम भाषण नहीं देते अपितु बातचीत करते हैं। कथोपकथन के बाद देश काल का आता है। नाटककार को इसका भी ध्यान रखना चाहिए। इसके लिए तौर-तरीका वेश-भूषा, बातचीत सभी को सँवारना होता है। नाटक पढ़ने के लिए न होकर देखने के लिए होता है अतः कथावस्तु, पात्र, कार्य, कथोपकथन, देशकाल आदि सभी कुछ रंगमंच का ध्यान रखते हुए निश्चित करना चाहिए। समवेत रूप से वही नाटक सफल है जो रंगमंच के योग्य हो साहित्य के अन्य अंगों की भाँति नाटक का भी उद्देश्य होता है। हाँ कला कला के लिए मानने वालों की बात दूसरी है। यों तो जीवन की आलोचना, नीति, शिक्षा, मनोरंजन आदि इत्यादि इसके कितने ही उद्देश्य कहे जाते हैं पर जीवन के देखने योग्य क्षणों को अधिक तीव्र करके स्वाभाविक रूप में रख देना ही नाटक का सबसे बड़ा उद्देश्य है।

आवश्यकतानुसार इधर नाटकों में कुछ नए प्रयोग भी हुए हैं। नया होने पर भी पुरानी चीज एकांकी नाटक है। यों तो संस्कृत में भी अंक व्यायोग, भाण आदि एक अंक के नाटक थे पर आज का एकांकी पूर्णतः पश्चिमी देन है, जिसमें एक अंक और एक से लेकर प्रायः ५ तक दृश्य होते हैं। इधर रेडियो रूपक फीचर, गोष्ठी नाट्य (Drawingroom one act play) मूक नाटक (पेन्टोमाइम) गीति नाट्य (opera) तथा नृत्य नाट्य (बैले Ballet) आदि भी प्रचलित हुए हैं पर इनकी टेकनिक पर अभी निश्चय पूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता।

हिन्दी साहित्य

१७. हिन्दी साहित्य

(१) हिन्दी साहित्य में भारतवर्ष की प्रमुख आध्यात्मिक साधनाएँ, (२) हिन्दी साहित्य में हिन्दू जातीयता और राष्ट्रीयता, (३) हिन्दी साहित्य में कुटुम्ब की संस्था, (४) हिन्दी साहित्य को परतन्त्र साहित्यिक की उपज होने के कारण लांछित नहीं होना; होगा, (५) हिन्दी साहित्य में परतन्त्रता से पहले चली हुई परम्पराएँ, (६) हिन्दी साहित्य और जनता, (७) हिन्दी साहित्य मूलतः हिन्दू-संस्कृति की उपज है।

हिन्दी साहित्य में पिछले एक हजार वर्ष की भारतीय साधना, चिन्ता और संस्कृति सुरक्षित है।

इन एक सहस्र से ऊपर वर्षों में भारतवर्ष की प्रमुख साधना आध्यात्मिक रही है। यह आध्यात्मिक साधना दो प्रमुख धाराओं में हमारे सामने आती है। एक धारा ऊपर के समाज (सवर्ण) को लेकर बढ़ती है और प्राचीन हिन्दू पौराणिक धर्म-भावना पर आश्रित है। वह दूसरे वर्ग की साधना से बहुत कम प्रभावित होती है, परन्तु अपने ही वर्ग में उसके कई आलम्बन हैं—कृष्ण, राम, अन्य अवतार, देवी-देवता। यह साधन वैष्णव काव्य में प्रकाशित हुई है। १६वीं शताब्दी से चलकर आधुनिक काल तक वह धारा अटूट चली आती है। इस साधना का रूप भक्ति है।

दूसरी साधना-धारा विशेषतः निचले वर्गों में बही है। वह एक प्रकार से सवर्णों के आध्यात्मिक अधिकारों के प्रति प्रतिक्रिया है। यह धारा अवतारवाद का विरोध करती है। जनता के अनेक विश्वासों को पकड़ती है। हठयोग में इसे विश्वास है। प्रारम्भ में इसने नैतिकता की उपेक्षा की है परन्तु धीरे-धीरे कट्टर नैतिकता का समावेश इसमें हो गया है। यह साधना-धारा लोकपक्ष को अपने सामने रखती है। इसका दृष्टिकोण यथार्थवादी है। इसने मध्ययुग की जातीय भेद समस्या और हिन्दू-मुस्लिम समस्या को हल करने की चेष्टा की है। जनता के नैतिक बल को ऊपर उठाया है।

मुसलमानों के एक वर्ग—सूफी-संतों की आध्यात्मिक साधना भी एकांश में हिन्दी सूफी काव्य में प्रकाशित हुई परन्तु वहाँ उसका मौलिक रूप से बहुत कुछ बदला मिलता है।

हमारे हिन्दी साहित्य में इन मुख्य आध्यात्मिक साधनाओं के अतिरिक्त अनेक लौकिक भावनाओं और चिन्तनाओं के भी दर्शन होते हैं। परन्तु उनका सम्बन्ध विशेष वर्गों से है।

प्रारम्भिक काल की वीरगाथाओं में शासक वर्ग (क्षत्रिय, राजपूत) के शृङ्गारमूलक वीरत्व का सुन्दर चित्रण है। इसमें जातीय या राष्ट्रीय भावना नहीं। सत्रहवीं शताब्दी के वीरकाव्य में यह भावना पर्याप्त मात्रा में मिलती है। हिन्दू जातीयता मुसलमान जातीयता के विरोध में उठ खड़ी हुई है। १९वीं शताब्दी के आरम्भ तक देश के शासक और उसके सम्पर्क में आने वाले वर्ग में शृङ्गार भावना की प्रधानता थी। १९वीं शताब्दी में विलास और कला कृत्रिमता को प्रधान स्थान मिला। १९वीं शताब्दी के बाद हमारा साहित्य पहली बार जनपेक्षित हुआ, अतः उसमें सच्चे रूप में जन भावनाएँ प्रस्फुटित हुईं।

साथ ही उसका स्वर आध्यात्मिकता एवं अति-शृङ्गारप्रियता से उतर कर लौकिक हुआ और अनेक आरोह-अवरोहों में फूटा। अब से साहित्य के विषय हुए—देशप्रेम, जातिप्रेम, लोक-सेवा, आशा और निराशा, सामाजिक, अर्थनैतिक और राजनैतिक संघर्ष और व्यक्ति पर इनकी प्रतिक्रियाएँ।

भारतीय संस्कृति का आधार कुटुम्ब है। सूफियों के कथा-चरित्र, रामचरितमानस और उपन्यास साहित्य को इसी का आधार मिला है। कुटुम्ब और उसकी संस्था से विकसित अनेक प्रसंगों ने हिन्दी साहित्य को रसपूरित किया है।

परोक्ष रूप से चाहे हिन्दी साहित्य के पीछे परतन्त्रता का स्वर बजता हो, परन्तु वह परतन्त्र साहित्यिकों की उपज होने के कारण लाञ्छित हो यह बात नहीं। परतन्त्रता के कारण हमारी भाषा और हमारे साहित्य पर शासक जातियों की भाषा और उनके साहित्य के प्रभाव पड़े और उनके स्वतंत्र विकास में बाधा पड़ी परन्तु इस मत को बहुत दूर तक नहीं बढ़ाया जा सकता। हो सकता है स्वतंत्र होने पर कुछ नये उपकरण होते, कुछ नहीं स्वरों का नाद तीव्र होता, परन्तु परिस्थिति मूलतः बदल जाती यह सोचना भूल है।

हमारा वैष्णव साहित्य पौराणिक साहित्य का आधार लेकर चलता है और साथ ही उसे संस्कृत काव्यों और काव्य शास्त्रों का सहारा भी मिला है। हम देखते हैं कि बौद्ध धर्म के ह्रास के बाद देश में सगुणोपासना के आधार पर वैष्णवमत का पुनरुत्थान हो रहा था। हिन्दी साहित्य में वही प्रस्फुटित हुआ है। सम्भव है कि विदेशी शासन ने कवियों की दृष्टि कृष्ण और राम तक ही सीमित कर दी और उनके स्वर को 'रुष्ट' नहीं होने दिया। परन्तु मूल रूप में मध्य युग का वैष्णव पुनरुत्थान एवं

बराबर गंभीर और व्यापक होती हुई धारा का अंतिम परिच्छेद है। उसमें हमारी संस्कृति की सुन्दरता नैतिक भावनाएँ सुरक्षित हैं। सूफी साहित्य में भी बहुत कुछ भारतीय हैं, उनके आध्यात्मिक अर्थों को हटा कर लगभग सब भारतीय हैं और आध्यात्मिक अर्थ भी भारतीय वेदांत के आधार पर अवस्थित भक्तिमत से अधिक दूर नहीं पड़ते।

शृङ्गार साहित्य के मूल में भी एक परंपरा है। इस परम्परा की ओर कवि क्यों बहे, इसका उत्तर सामयिक परिस्थिति और आश्रय-दाताओं की रुचि भले ही हो, परन्तु प्राचीन प्राकृत और संस्कृत मुक्तककारों, काव्याचार्यों और महाकवियों के काव्य हिन्दी के शृङ्गार साहित्य को पल-पल पर बल देते रहे हैं वास्तव में संस्कृत शृगांर साहित्य ने वैष्णव धर्म भावना को भी प्रभावित किया और उसके साहित्य को भी। राधाकृष्ण के आलम्बन के कारण इस प्रभाव पर दृष्टि नहीं जाती परन्तु जब युग की विशेष परिस्थिति के कारण आलम्बनों का स्वरूप अस्पष्ट हो गया अथवा काव्य उनसे स्वतंत्र हो गया, तो हमें हिन्दी के रीतिकाव्य के दर्शन हुए।

परन्तु १८वीं शताब्दी तक के हिन्दी साहित्य में कई अभाव खटकते हैं। वह अधिकतः ऊर्ध्वमूल हैं। वह या तो परलोक पर आश्रित हैं या असाधारण शासकवर्ग पर। उसमें जनसाधारण के प्रतिदिन के सुख-दुख और आशाकांक्षा के नाम पर कुछ भी नहीं। इस बड़े काल में जन-समाज क्या केवल भक्त था? या इन्द्रियजन्य वासनाओं में ही लिप्त था? क्या उस समय हिन्दू नारियाँ आत्मोसर्ग नहीं करती थीं? पुरुष अपने सम्मान और स्वतंत्रता के लिये सुख की बलि नहीं देते थे?

क्या कुटुम्ब इसी प्रकार नहीं चल रहे थे जिस प्रकार आज चल रहे हैं ? परन्तु ये सब हमारे काव्य में कहाँ ?

बात यह है कि उस समय साहित्य का मुख जनता की ओर नहीं था। काव्यपरिपाटी में जनता का कोई स्थान नहीं था। जनता अपना अलग साहित्य बना रही थी। यह साहित्य लोकगीत साहित्य है जिसका केवल कुछ अंश सुरक्षित रह सका है। सूक्ष्म अध्ययन से यह अवश्य पता चलता है कि हमारा साहित्य और जनसाहित्य बराबर एक दूसरे से प्रभावित होते रहे हैं परन्तु उनमें एक दूसरे का स्थान नहीं ले सका। आधुनिक काल में भी साहित्य जनसाहित्य के समीप नहीं आया है, न भाषा की दृष्टि से और न भाव की दृष्टि से। अभी भाषा और भावप्रकाशन-सम्बन्धी प्राचीन रूढ़ियाँ कड़ी हैं, टूट नहीं पाती। परन्तु अब उसका मुख जनता की ओर हो गया है। उसमें जनसाधारण की आशा-निराशा के स्वर बजने लगे हैं।

हिन्दी साहित्य को हमें एक दूसरी दृष्टि से भी देखना होगा। वह मूलतः हिन्दू संस्कृति की उपज है। इस संस्कृति को पिछले एक सहस्र वर्षों में दो विदेशी संस्कृतियों से मोर्चा लेना पड़ा है। दोनों बार उसने अपनी स्वतंत्रता की रक्षा की है। जहाँ एक वर्ग विदेशी संस्कृति से सामञ्जस्य स्थापित करने की समन्वय-भावना लेकर चला, वहाँ दूसरा प्रतिरोध-भावना लेकर चला, प्राचीनकाल में पहले वर्ग ने संत काव्य की रचना की, दूसरे वर्ग ने वैष्णव साहित्य की। जो वर्ग प्रतिरोध भावना लेकर चला उसने प्रत्येक बार प्राचीन सांस्कृतिक व्यवस्था को समझकर उसे नवीन परिस्थिति के अनुसार नया रूप देने की चेष्टा की। फलतः वह पौराणिक विषयों की ओर मुड़ा और उसकी भाषा में तत्समता बढ़ी। इसीलिए सोलहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों

में हमें एक बड़ी संख्या में उन स्मृति ग्रन्थों और पुराणों का अनुवाद होता हुआ दिखलाई पड़ता है जो हमारी संस्कृति के आधारस्तम्भ हैं। वास्तव में हमारा वैष्णव साहित्य मध्ययुग के पुनरुत्थान मूलक साहित्य का केवल एक अंश है। उसे व्यापक क्षेत्र में रख कर ही उसका ठीक-ठीक मूल्य आँका जा सकेगा। इसके साथ ही कहीं-कहीं थोड़ी बहुत वर्ग भावना के भी दर्शन होते हैं परन्तु उसका रूप कहीं भी सुस्पष्ट नहीं हो सका है।

१८. हिन्दी नाटक और रंगमंच

(१) नाटक के लिये रंगमंच की आवश्यकता—"साहित्यिक नाटक" न साहित्य है, न नाटक (२) हिन्दी नाटक का इतिहास, (३) हिन्दी प्रदेश के रंगमंच का इतिहास (४) रंगमंच के अभाव के कारण अनुवादित और साहित्यिक नाटकों का आविष्कार (५) हिन्दी नाटक और पारसी रंगमंच (६) स्वतन्त्र हिन्दी रंगमंच के स्थापना की आवश्यकता (७) हिन्दी रंगमंच का रूप क्या होना चाहिये (८) कुछ आधुनिक प्रयत्न।

नाटक और रंगमंच का अत्यन्त निकट का सम्बन्ध है। नाटक नहीं है तो रंगमंच क्या होगा और बिना रंगमंच के नाटक क्या! नाटक साहित्य का एक ऐसा अंग है जिसका प्रदर्शन रंगमंच पर ही हो सकता है। नाटक पढ़ा भी जा सकता है, पढ़ कर सुनाया भी जा सकता है, परन्तु उसकी सार्थकता इसी में है कि वह रंगमंच पर खेला जाय। हमारे कुछ नाटककार कहते हैं—"हमें रंगमंच से क्या? हम तो साहित्यिक नाटक लिखेंगे। उन्हें पढ़ो। काव्य-रस लो। हो सके तो खेल लो, नहीं हो सके तो, बाबा, रहने दो" परन्तु यह दृष्टिकोण ही गलत है। "साहित्यिक नाटक" न साहित्य है, न नाटक। नाटक में नाट-

कत्व का होना आवश्यक है और इस नाटकत्व या नाटकीयता को परखने के लिये रंगमंच चाहिये।

हिन्दी नाटक आधुनिक वस्तु है। यों हिन्दी का साहित्य एक सहस्र वर्ष पुराना है परन्तु उसमें कविता-ही-कविता है। नाटक के लिये गद्य चाहिये। गद्य १६ वीं १७ वीं शताब्दी में पहली बार हमारे सामने आया। तब मुसलमानों का राज्य था। मुसलमान स्वयं मूर्त्तिकला के विरोधी, संगीत और चित्रकला के विरोधी, किसी भी प्रकार के अनुकरण के विरोधी थे। उनके यहाँ "नाटक" जैसी कोई चीज नहीं थी। यहाँ उनके आने से पहले ही यह चीज समाप्त हो गई थी। पराजित हिन्दू जनता उसका उद्धार भी नहीं कर सकी। फल यह हुआ कि मुसलमानी राज्य में न नाटक लिखे गये, न रंगमंच की आवश्यकता पड़ी। कुछ नाटक अनूदित अवश्य हुए—हृदयराम ने संस्कृत हनुमन्नाटक का अनुवाद किया, नेवाज ने शकुन्तला का अनुवाद किया, ब्रजवासी लाल ने प्रबोधचन्द्रोदय का अनुवाद किया। देव का माया प्रपंच नाटक आध्यात्मिक कविता-मात्र है, यही हाल प्रबन्धचन्द्रोदय और समयसार का है जिनमें धैर्य, दया, पाप पाखण्ड, ईर्ष्या आदि को पात्रों के रूप में उपस्थित किया गया है। आनन्द रघुनन्दन प्रभृति कुछ मौलिक नाटक लिखे भी गए तो आद्यांत छन्द में और पात्रों के प्रवेश, प्रस्थान, दृश्य परिवर्तन इन जैसी नितान्त आवश्यक बातों का कहीं पता नहीं। होता भी कैसे, रंगमंच तो था ही नहीं। नाटक के नाम पर सम्वादशैली में कविता ही लिख दी जाती थी।

जिस हिन्दी नाटक में सबसे पहले पात्रों के प्रवेश आदि का ध्यान रखा गया है और नाटकीय नियमों का पूर्णतः पालन किया गया है, वह "नहुष" नाटक है। इसके लेखक भारतेन्दु

बाबू हरिश्चन्द्र के पिता श्री गिरधरदास थे। इस नाटक के बाद राजा लक्ष्मणसिंह के "शकुन्तला" अनुवाद का नाम आता है। फिर बाबू हरिश्चन्द्र के मौलिक और अनूदित नाटक आते हैं। हरिश्चन्द्र ने नाटक ही नहीं लिखे, रंगमंच का भी आयोजन किया। काशी में नाटक मण्डली की स्थापना हुई जिसमें भारतेन्दु के कुछ नाटक सफलतापूर्वक खेले गए। सत्य हरिश्चन्द्र, मुद्राराक्षस, नीलदेवी, भारत दुर्दशा, अन्धेरनगरी—इन कुछ नाटकों ने रंगमंच पर भी अच्छी सफलता पाई। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक हिन्दी में नाटक-साहित्य प्रचुर मात्रा में उपस्थित हो चुका था और कलकत्ता, काशी तथा प्रयाग की रंगशालाओं में खेला भी जा चुका था। नाटकों के विषय पौराणिक अथवा सामाजिक होते थे। उस समय की जनता की अभिरुचि को इन नाटकों में अच्छी चीजें मिलीं जिनसे उसका मनोरंजन हुआ। रंगमंच ने नाटकों के विकास में सहायता की। अंग्रेजी शिक्षा द्वारा सद्यः परिमार्जित अभिरुचि के नित नवीन सम्पर्क में आने के कारण देवता, राक्षस, यक्ष, गन्धर्वादि दैवी पात्र कम होते गए, दैवी चमत्कारों और आश्चर्य घटनाओं की ओर से नाटककारों और प्रेक्षकों की दृष्टि हटी और भावों के संघर्ष की ओर बढ़ी।

परन्तु तभी हिन्दी प्रदेश का रंगमंच पारसी थियेटर कम्पनियों के हाथ में चला गया। अभी साधारण जनता का पूरा-पूरा रुचि-परिष्कार भी न हो पाया था कि यह घटना घटी। थियेटर के उर्दू लेखकों के लिखे नाटकों की अति-नाटकीयता, तड़क-भड़क, गद्य-पद्य मिली चलती भाषा और पौराणिक तथा रोमांचक कथानक ने हिन्दी रंगमंच और मौलिक हिन्दी नाटक का अंत कर दिया। राजा और मंत्री से लेकर भृत्य तक पद्य

में बोलते थे, पुरुष स्त्रियों का पार्ट करने थे जड़ाऊ जेवरों और रंगबिरंगे रेशमी कपड़ों में सिर से पैर तक लदे हुए पात्र भँड़ेती करते हुए आते, भँड़ेती करते हुए चलते जाते, परन्तु कहीं परदों की फड़फड़ाहट के बीच कोई दैवी पात्र आकाश से उतरता, कहीं कोई पृथ्वी में समा जाता। जनता ताली पीटती। उसकी कुतूहलवृत्ति को प्रदीप्त करने वाले इस पारसी थियेटरों ने भाव प्रधान हिन्दी नाटकों के लिए न रंगमंच छोड़ा, न जनता। तब से अब तक हिन्दी नाटक को रंगमंच नहीं मिला है।

रंगमंच नहीं रहा परन्तु नाटक लिखने की परम्परा बनी रही। कुछ दिनों तक मौलिक नाटक नहीं लिखे गये। अनुवादों की धूम मची। कालिदास, भवभूति, द्विजेन्द्रलाल राय और शेक्सपियर से अनुवादों के हिन्दी नाट्य साहित्य का भंडार भरा गया। अनुवादों की यह परम्परा अब तक चली आती है। गैल्सवर्दी, मोलियर और इब्सनप्रभृति विदेशी नाटककारों की बहुत-सी रचनायें अनुवाद रूपमें हिन्दी साहित्य में आ गई हैं समय-समय इनमें से कुछ को विद्यार्थी लोग छोटे-मोटे रंग मंचों पर खेलते भी रहे हैं, परन्तु इन अनुवादों को भी अलमारी तक ही अधिक सीमित रखा गया है। फल यह हुआ है कि आज नाटक "पाठ्य" हो गया है। वह विश्वविद्यालयों, कालेजों और पुस्तकालयों के बाहर आना नहीं चाहता।

जिस युग में हिन्दी का नाट्य भंडार विभिन्न साहित्यों के नाटकों से भरा जा रहा था उसी युग में कुछ हिन्दी प्रेमी पारसी थियेटरों के लिये हिन्दी भाषा में नाटक भी लिख रहे थे। ये नाटक पारसी स्टेज पर खूब प्रसिद्ध हुये। छपकर प्रकाश में भी आये। इन थियेटरी नाटककारों में पं० राधेश्याम और श्री नारायणप्रसाद बेताब प्रमुख हैं। इनका नाट्य साहित्य भी

आज हिन्दी की सम्पत्ति है परन्तु वह नाटक के ऊँचे मापदंडों पर पूरा नहीं उतरता। वह पारसी थियेटर का प्रतिबिम्ब है। हिन्दी प्रदेश की जनता अथवा हिन्दू संस्कृति को उसमें ढूंढ़ना मूर्खता होगी। उसमें साहित्यिकता की मात्रा भी बहुत कम है। फलस्वरूप, पारसी रंगमंच के बहुमूल्य उपकरणों के साथ चाहे वह कितना ही सफल रहा हो, लिखे हुये रूप में उसमें कोई भी आकर्षण नहीं। विषय वही है, सामाजिक और पौराणिक एवं धार्मिक कथायें।

नाटक-साहित्य की इस दुर्दशा को देख कर कुछ ऊँची कोटि के साहित्यिकों का ध्यान उनकी ओर गया। इनमें बाबू जयशंकरप्रसाद अग्रगण्य हैं। इन्होंने अजातशत्रु, जनमेजय का नागयज्ञ, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, विशाख आदि कई उच्च कोटि के नाटक लिखे। परन्तु भाषा क्लिष्ट है, कथानक भी रङ्गमचोपयोगी नहीं। चरित्रचित्रण अवश्य अच्छा हुआ है परन्तु रङ्गमंच के नाटकों में नाट्योपयोगिता की ओर जो ध्यान रखा जाता है, उसका नितांत अभाव है ऐसा होना आवश्यक था। प्रसाद बाबू रङ्गमंच से परिचित नहीं थे। एक दो अवसरों के अतिरिक्त उनके नाटक उनके सामने खेले भी नहीं गये; अतः उन्होंने रङ्गमंच की एकदम उपेक्षा की। आलोचकों की चिल्लाहट से चिढ़ कर जैसे उन्होंने नाटक और रङ्गमंच के सम्बन्ध के विषय में एक विशेष मत ही गढ़ लिया—वह नाटक लिखेंगे, रङ्गमंच वाले रङ्गमंच को उनके नाटकों के लिये तैयार करें। उनके आलोचकों एवं समर्थकों ने भी आखिर यही निश्चय किया है—"प्रसादजी के नाटकों की सर्वाङ्ग समीक्षा बिना हिन्दी के स्वतंत्र रङ्गमंच की स्थापना नहीं हो सकेगी। उसका नाट्य-

चमत्कार तो हम तभी देख सकेंगे। उद्योग उसी के लिये होना चाहिये।"

परिस्थिति सचमुच विचित्र है। हिन्दी के नाटककार नाटक लिखते हैं, वर्ष भर में दस-बीस नाटक प्रकाशित हो ही जाते हैं। परन्तु हिन्दी का कोई अपना रङ्गमंच नहीं है। इसलिये वे पुस्तकालयों में स्थान पाते हैं या कोर्स बुक (पाठ्यग्रन्थ) बन कर समाप्त हो जाते हैं। उनका अभिनय नहीं होता। फलतः लेखक यह नहीं जान पाता कि अभिनय की दृष्टि से वह कहाँ सफल है, कहाँ असफल। कुछ मण्डलियाँ वर्ष में एकाध बार यहाँ-वहाँ से परदे जुटा कर कोई अभिनय भी कर लेती हैं तो दर्शक इकट्ठे नहीं होते। भारतेन्दुकाल में रङ्गमंच धीरे-धीरे पनपने लगा था इतने में पारसी स्टेज आ गया। हिन्दी के नाटककार बँगला रङ्गमंच की सफलता को देख कर हाथ मलते ही रह गये। आपसे कुछ करते धरते नहीं बना तो बँगला के अनुवादों से हिन्दी का भंडार भर दिया। फिर जब इन अनुवादों की बहुलता ने हिन्दी नाटककारों को जन्म दिया तो सस्ती भावुकता लेकर वर्त्तमान सिनेमा के सवाक् चित्र-पटों का अभ्युदय हो गया। फलतः हिन्दी के नाटक के लिये अभिनय का स्वाँग भर रह गया। फिर वह भी समाप्त। जो नाटककार स्वतंत्र रूप से नाटक लिखने लगे थे, उन्होंने रङ्गमंच के पुनरुत्थान के लिये कोई प्रयत्न नहीं किया। वे रङ्गमंच के ज्ञान और अभिनय के अनुभव से शून्य रहे परन्तु नाटक लिखते गये। इस प्रकार "दृश्यकाव्य" नाटक हिन्दी में "पाठ्यकाव्य" मात्र रह गया।

यह हम जानते हैं कि पारसी थियेटर और आज के सिनेमा-भवन ने जनता की अभिरुचि बिगाड़ दी है। वह कथानक चाहती है, रोमांच चाहती है। कौतूहलवर्द्धक घटनायें एक-एक

कर मंच पर आती जायें। कुछ चमत्कार हो। दृश्यों की जगमगाहट और परदों की फटफटाहट से उसकी आँखों को चौंध लगे, कान बहरे हो जायँ। ऐसा नाटक चाहिये! ऐसा रङ्गमंच हो। तब वह करतल ध्वनि करती हुई कहेगी—'Splendid', "Superb", "Excellent" "खूब-खूब" "Once more" परन्तु इलाज क्या है? क्या हाथ पर हाथ रख बैठ जाना श्रेष्ठ होगा? जानते हैं जनता की रुचि बिगड़ी है, परन्तु सँभालेगा कौन? सुधरेगी कैसे? यह तो साहित्य-प्रेमियों का ही काम है कि जनता में नाटक के लिए अभिरुचि उत्पन्न करे। उसकी रुचि का मार्जन करें। नहीं तो, जनता और उनमें सम्पर्क ही कैसे होगा? नाटक किसके लिये लिखे जायेंगे। आवश्यकता इस बात की है कि हिन्दी प्रेमी संस्थाएँ इस काम को अपने हाथ में लें। कलकत्ता, काशी, प्रयाग, आगरा, दिल्ली जैसे बड़े-बड़े नगरों में एक-एक हिन्दी रङ्गमंच अवश्य स्थापित हो। इनमें साहित्यिकों के लिखे हुए नाटक अभिनीत हों। जनता के मनोरंजन के लिए भी ध्यान रखा जाय। उसे ऐसा प्रलोभन दिया जाय कि वह अधिक से अधिक संख्या में इन नाटकों का अभिनय देखे। नाटककार को भी जनता और रङ्गमंच का अध्ययन करने का मौका मिले परन्तु ऐसा हो इसके साथ ही हमें नाटक-सम्बन्धी अपनी बहुत-सी धारणाएँ भी बदलनी होंगी।

हमारे नाटक बड़े-बड़े होते हैं। छोटे-छोटे नाटक लिखने होंगे जो सिनेमा से अधिक समय न लें। १००-१२५ पृष्ठों का नाटक २ घन्टों में अभिनीत हो सकता है। इससे अधिक बड़े नाटक आधुनिक मंच के लिए उपयोगी सिद्ध नहीं होंगे। सब नाटक गंभीर भी नहीं हों। कुछ प्रहसन हों। कुछ ऐतिहासिक। कुछ रोमांचक। कुछ यथार्थवादी। उनमें स्वगतकथन—जैसे

पुराने भद्दे प्रयोग न हों जो आज के युग में अस्वाभाविक लगें। नाटककारों के लिखे हुए संकेतों के अनुसार ही नाटकों का अभिनय किया जाय। उधर नाटककार भी रङ्गमंच का अधिकाधिक ज्ञानार्जन करें और धीरे-धीरे संकेत लिखने में पटु हो जायें। पश्चिमी देशों में नाटककार ने ही निर्देशक का स्थान ले लिया है। पात्र की क्या आयु हो, क्या कपड़े पहने, किन हाव-भावों का प्रदर्शन करे--इन बातों की योजना नाटककार ही करता है। वही संकेतलेखन एक विशिष्ट कला हो गया है। भाषा की दृष्टि से भी हमें कुछ आगे बढ़ना होगा। हमें अपने नाटकों के लिए ऐसी भाषा का निर्माण करना होगा जो साहित्यों की रक्षा करे परन्तु जनसाधारण के लिए दुरूह न हो जाए। काव्यपूर्ण भाषा, छन्द और गीतों का युग गया। अब तो नाटक सारे-का सारा गद्य में ही होगा। हो सकता है, अवसरानुकूल कुछ गीत रहें, परंतु एक-दो, अधिक नहीं।

इस नए रंगमंच से हमें सब प्रकार की अस्वाभाविकताओं को दूर रखना पड़ेगा। इस समय स्त्रियाँ रंगमंच पर नहीं आतीं। परदे की प्रथा और शिक्षा का अभाव यह दो मुख्य कारण हैं जिनके कारण ऐसा होता है। जब स्त्रियाँ अपनी कला से हिन्दी रंगमंच को गौरवान्वित करेंगी तब हमारी नाट्यकला इतनी अस्वाभाविक और अरुचिकर नहीं रहेगी।

हर्ष की बात है हमारे साहित्यकों का ध्यान इस ओर गया है। समस्यामूलक नाटकों की सृष्टि हुई है। "एकांकी" लिखे जा रहे हैं। विश्वविद्यालयों और कालेजों के लड़कों ने कितने ही एकांकियों का अच्छा अभिनय किया है। इन अभिनयों की संख्या प्रति वर्ष बढ़ रही है और इनके द्वारा हमारे नाटककार धीरे-धीरे मंच की आवश्यकताओं से परिचित हो रहे हैं। आलो-

चकों का ध्यान भी इस ओर गया है। हिन्दी नाटक की आवश्य-कताओं के विषय में एक नाटककार आलोचक ने कुछ ही समय पहले लिखा है—"हमें हिन्दी में ऐसे नाटकों की सृष्टि करनी है जो वास्तव में जीवन की प्रतिकृति होते हुए भी रंगमंच की सुविधानुसार पूरे उतरें। उनमें साहित्य की व्यंजना भी यथेष्ट हो और रंगमंच की आवश्यकताओं की सामग्री भी पूर्ण रीति से हो। जिस समय हिन्दी में ऐसे नाटकों की सृष्टि होगी उस समय हमारा हिन्दी नाट्य साहित्य अन्य उन्नत भाषाओं के नाट्यशास्त्र से समानता कर सकेगा।"

१९. हिन्दी का वैष्णव साहित्य

(१) भूमिका (२) वैष्णव साहित्य में भारतीय संस्कृति और परम्परागत आचार-विचार की रक्षा (३) इस साहित्य में काव्य और आध्यात्म का अनुपम समन्वय (४) वैष्णव साहित्य का समसामयिक और परवर्ती युग को सन्देश (५) वैष्णव साहित्य में शाश्वनैतिक आदर्श (६) कृष्णकाव्य के प्रति उपस्थित की हुई लांछना का खंडन।

हिन्दी साहित्य में से यदि वैष्णव कवियों के काव्य को निकाल दिया जाय तो जो बचेगा वह इतना हलका होगा कि हम उस पर किसी भी प्रकार गर्व नहीं कर सकेंगे। लगभग ३०० वर्षों की इस हृदय और मन की साधना के बलपर ही हिन्दी अपना सिर अन्य प्रांतीय साहित्यों के ऊपर उठाये हुए हैं। तुलसीदास, सूरदास, नन्ददास, मीरा, रसखान, हितहरिवंश, कबीर—इनमें से किसी पर भी संसार का कोई साहित्य गर्व कर सकता है। हमारे साहित्य में ये सब हैं। ये वैष्णव कवि हिन्दी भारती के कंठमाल हैं।

वैष्णव कवियों के काव्य का जन्म परिस्थितिवश हुआ,

परन्तु उसमें भारतीय संस्कृति और परम्परागत आचार-विचार की पूर्णत: रक्षा हुई। उसकी एक बात ऐसी है जो अन्य स्थान पर नहीं मिलेगी। वह जहाँ उच्चतम धर्म है वहाँ उच्चतम कोटि का काव्य भी है। उसकी आत्मा भक्ति है, उसका जीवन-स्रोत रस है, उसका शरीर मानवी है। जैसी भक्ति इस साहित्य में है वैसी बाइबिल के कुछ गीतों को छोड़ कर पश्चिमी साहित्य में कहीं नहीं मिलेगी। नवधा भक्ति के प्रकारों में से प्रत्येक प्रकार की भक्ति इसमें है। रस की दृष्टि से भी यह साहित्य अमूल्य है। रसराज शृंगार का इतना सुन्दर और सांगोपांग चित्रण कहीं नहीं हुआ, विरह की आकुलता और मिलन के उल्लास को इतनी पूर्णता से कहीं भी चित्रित नहीं किया गया। मनुष्य के स्वभाव और उसके अंतर्द्वन्द के सुन्दरतम चित्रण हमें रामचरितमानस में मिलेंगे। राधाकृष्ण और राम-सीता के रूप में स्त्री-पुरुष के सौन्दर्य के इतने अमोल चित्र इतनी अधिक परिस्थितियों में यहीं मिल सकते हैं।

इस साहित्य की यह खूबी है कि इससे हृदय, मन, आत्मा तीनों पुष्ट होते हैं। इसे काव्यानन्द का विषय बनाइये। रसों, अलंकारों, व्यंगपूर्ण स्थलों, भावपुष्ट संवादों, उत्तमोत्तम चरित्रों का आनन्द लीजिये। इसे अध्ययन का विषय बनाइये। संसार के सन्तों और पैगम्बरों के कहे हुए उत्तमोत्तम सिद्धान्त इसमें हैं, ढूँढ़ने के विशेष चेष्टा की आवश्यकता नहीं। चाहो तो मन उन दार्शनिक और आध्यात्मिक गुत्थियों में उलझा लो जो कबीर और तुलसी के साहित्य उपस्थित करते हैं। आत्मा को उच्च बनाने के लिए इसे साधना का विषय बनाइये। इतिहास साक्षी है कि यही साहित्य पिछली कई शताब्दियों से हमारी

आध्यात्मिक साधना को प्रगट करता रहा है और आध्यात्म साधकों की भूख मिटाता रहा है।

हिन्दी का वैष्णव साहित्य लोकपरलोक को एक साथ स्पर्श करता है। वह काव्य के पंखों पर स्वर्ग और मोक्ष तक उड़ता है परन्तु उसके पैर लोकहित के कठोर धरातल पर भी रहते हैं। सभी कवियों के विषय में यही बात नहीं कहीं जा सकती परन्तु सामान्यतः यह बात सत्य से बहुत नहीं है। संतों, रामभक्तों और कृष्णभक्तों ने शील, दया, क्षमा, आत्मावलंबन, पर-दुख, कातरता, सन्तोष, दम, शम आदि महान् वैयक्तिक गुणों की प्राप्ति को मनुष्य के लिए आवश्यक बताया है। उन्होंने अपने जीवन को इन्हीं गुणों पर खड़ा किया था और उनका काव्य इन्हीं संदेशों के कारण लोकपरिष्कार करता रहा है। जिस युग में नैतिक आदर्शों की मर्यादा नितांत जाती रही थी, जो उच्छृ-ङ्खलता का अंधकारयुग था, उसमें उन्होंने ब्रह्मचर्य, संयम और महान् नैतिक गुणों की स्थापना करने की चेष्टा की। इसी कलिभ्रष्टयुग में तुलसी ने हिन्दू-मात्र को विजयरज दिया। आत्मनिर्भरता और अपरिग्रह का संदेश तो इनमें से प्रत्येक कवि का जीवन ही देता है—"सन्तन को कहाँ सीकरी सों काम"। यह उस समय की बात है जब आत्माभिमानी राजपूत क्षत्रिय महाराज शस्त्र धारण करते हुए भी मुगल सम्राट् को अपनी बेटियाँ दे रहे थे और उसकी कोर्निश पर गर्व करते थे। इस वैष्णव साहित्य को छोड़ कर इन नैतिक आदर्शों की पुष्टि हमें कहाँ मिलेगी? जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कौन साहित्य हमारा मार्ग प्रदर्शित करेगा?

वैष्णव काव्य के कुछ आलोचक कृष्णकाव्य पर जनता को पथभ्रष्ट करके वासना और पापाचार के कर्दम में गिराने का

लाञ्छन देते हैं। परन्तु वे इस साहित्य को कुछ मुट्ठी-भर राजामहाराजाओं की भूमिका में रखकर देखते हैं और भूल करते हैं। वे जनसमाज को देखें। राधाकृष्णकाव्य ने क्या जनसमाज को व्यभिचारी बनाया है? उसके लिए राधा राधा हैं, कृष्ण कृष्ण हैं। वे दोनों उसके लिए पूजनीय हैं। हाँ, वह उनके प्रेमचरित्र के द्वारा रसपरिष्कार का आनन्द लेता है। वह स्वयम् राधा बनता है, न कृष्ण। कृष्ण काव्य ने हिन्दी प्रदेश को वात्सल्यरस की अनुभूति दी, शृंगार को संयमित किया उसने घर-घर में यशोदा-सी माताएँ दीं। पति-पत्नी के सामने राधाकृष्ण प्रेम का आदर्श रखा। साहित्य में राधा परकीया रही हो या स्वकीया, लोक के जीवन में तो वे सदैव स्वकीया रही हैं। उन्होंने तरुण-तरुणियों के स्वप्नों को चमकीले रंगों से रंगा है, उनके जीवन को रस से सिंचित किया है। पश्चिमी प्रदेश का गृहस्थ बालक को कृष्ण मानकर आकुल होता है कि उसे चौखट लाँधते हुए चोट न लगे, तरुण पति-पत्नी को राधा रूप में देखता है। यदि जीवन में कृष्णराधा के चरित्र को लिया गया तो इतना। राधाकृष्ण की आड़ लेकर पुष्टिमार्ग के मन्दिरों में व्यभिचार की जो लीला हुई वह बहुत बाद की बात है। उसके मूल में जनसमाज का घोर अज्ञान और अंधभक्ति है। कृष्ण साहित्य ने न उसे प्रेरणा दी है, न उसे विकसित किया।

२० हिन्दी कविता में रहस्यवाद

(१) "रहस्यवाद" का इतिहास (२) हिन्दी साहित्य में रहस्यवाद सिद्धों का रहस्यवाद, सन्तों का रहस्यवाद, सूफियों का रहस्यवाद (३) सगुणकाव्य में रहस्यवाद के अभाव के कारण (४) अर्वाचीन कविता में रहस्यवाद और प्राचीन कविता के रहस्यवाद से उसका भेद (५) आधु-

निक आलोचना में रहस्यवाद की परिभाषा का विस्तार (६) आधुनिक रहस्यवाद के विषय और उनकी कल्पनाश्रियता।

भारतीय ईश्वरविषयक चिन्तन और तत्सम्बन्धी साधना की एक प्रमुख धारा "रहस्यवाद्" रही है। हमारे प्राचीनतम संस्कृत साहित्य में ईश्वर, जीव प्रकृति एवं दृष्ट और अदृष्ट सत्ताओं के सम्बन्ध में अनेक रहस्यमूलक बातें कही गईं हैं। ऋग्वेद के "नासिदेय सूत्र" और पुरुष-बलि की कथा में आदि रहस्यवाद के दर्शन होते हैं। उपनिषदों में इस प्रकार की उक्तियाँ बहुत बड़ी मात्रा में पाई जाती हैं। इनमें से अधिकांश अज्ञात चिद्शक्ति के रूप-गुण के सम्बन्ध में कही गई हैं।

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्य रूपं,
सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति।
दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च
पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्॥
(मुण्डकोपनिषद्)

यही ईश्वरी-जीव-सम्बन्धी रहस्यवादी चिन्तन हमारे रहस्यवादी साहित्य का प्रधान अंग है। इस चिन्तन का एक स्वरूप वह है जो हमें उपनिषदों में मिलता है, दूसरा वह जो भागवत् आदि रूपक-प्रधान धर्मग्रन्थों में। एक में ज्ञान का आश्रय लिया गया है, दूसरे में ज्ञान को पीछे छोड़ कर प्रेम को ग्रहण किया गया है। हमारे हिन्दी साहित्य में दोनों प्रकार के रहस्यवादी उद्गार मिलेंगे।

हिन्दी के रहस्यवादी साहित्य को हम अर्वाचीन और प्राचीन दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। यह विभाजन उपयुक्त भी है क्योंकि प्राचीनकाल का रहस्यवाद आधुनिककाल के रहस्यवाद से अनेक बातों में भिन्न है।

प्राचीनकाल में हमें उपनिषदों के रहस्यवाद की धारा हिन्दी के सिद्ध साहित्य में पहली बार मिलती है और फिर नाथ साहित्य में होकर निर्गुण और निरंजन सम्प्रदाय में प्रवाहित होती है। इस साहित्य के सबसे महत्वपूर्ण कवि कबीर और दादू हैं। इसका बीज सिद्धान्त अद्वैतवाद है। रहस्यवादी सांत और अनन्त के अद्भुत सम्बन्ध पर चकित हैं। वह दोनों के आकर्षण का अनुभव करता है। जीव और ईश्वर वास्तव में अभिन्न हैं। माया के कारण भेद जान पड़ता है। इस भेद की बात जान लेने पर यह भेद स्वतः मिट जाता है। ईश्वर जीव हो जाता है, जीव ईश्वर। कबीर कहते हैं—

जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना, यह तथ कथौ गियानी॥

(कबीर)

इसे रहस्यवादी यों भी कहते हैं—नदी समुद्र में जा मिली अथवा समुद्र नदी में आ मिला। सन्तों ने दूसरी बात को उलटवासियों में प्रकाशित किया।

सूफियों का रहस्यवाद सन्तों के रहस्यवाद से कुछ भिन्न है। वह भागवत के प्रेममूलक रहस्यवाद जैसा है। उसका आरम्भ वहाँ होता है जहाँ जीव और ईश्वरविषयक गवेषणा का अन्त हो जाता है और वह सम्बन्ध मस्तिष्क से नीचे उतर कर हृदय की वस्तु हो जाता है। उस समय जीव ईश्वर के सम्बन्ध में एक मधुर भावना की सृष्टि होती है। इस भावना में परस्पर का आकर्षण और तीव्र मिलनाकांक्षा है। इस आकर्षण को स्त्री-पुरुष के पारस्परिक आकर्षण के रूपक द्वारा उपस्थित किया गया है। सन्तों के रहस्यवाद में भी इस रूपक को स्थान मिला है। कबीर अपने को राम की बहुरिया कहते हैं—

हरि मोर पिउ मैं राम की बहुरिया।
राम बड़े मैं छुटुक लहुरिया॥

अथवा

वे दिन कब आवेंगे माइ।
जा कारन हम देह धरी है मिलिवौ अंग लगाइ॥

भागवत में इसी को असंख्य गोपियों के रूपक-द्वारा वेद व्यास ने प्रकाशित किया है। सूफियों का ढंग दूसरा है। बात वही है। हमारे यहाँ स्त्री पुरुष के प्राप्त करने को सचेष्ट है। हमारे साहित्य में स्त्री ही मुखर है। परन्तु सेमेटिक भाषाओं के साहित्य में प्रेम-निवेदन में और प्रेमपात्र की प्राप्ति की चेष्टा में पुरुष स्त्री से अधिक आकुल दिखलाई पड़ता है। इसी पद्धति पर सूफी कवियों ने भारतीय लोक-कथाओं को लेकर रूपकमय कथानक (पद्मावती, इन्द्रावती आदि) खड़े किए हैं। सूफी काव्य में रहस्योन्मुख सौन्दर्य और प्रेम को लेकर स्थान-स्थान बड़ी मार्मिक व्यंजना उपस्थित की गई हैं। "पद्मावती" के सौन्दर्य को जायसी इस रूप में देखता है—

नयन जो देखा कँवल भा निरमल नीर सरीर।
हँसन जो देखा हंस भा दसनजोति नगहीर॥

उसे सारा संसार ही किसी अज्ञात प्रेमपात्र के विरह में व्याकुल जान पड़ता है—

उन बानन्ह अस को जो न मारा।
बेधि रहा सगरो संसारा॥
गगन नखत जो जाहिं न गने।
वै सब बान ओहि के हने॥

प्रेमात्मक रहस्यवाद-काव्य में सूफियों का साहित्य बेजोड़ है।

हिन्दी सगुण भक्तकाव्य में रहस्यवाद को स्थान नहीं मिला

है यहाँ तक कि कृष्ण काव्य में उतनी रहस्यात्मकता भी नहीं जितनी भागवत में है। सूरदास के काव्य में कुछ स्थल (जैसे रास, राधा का कृष्ण के हृदय में अपनी छाया देख कर मान, करना, कृष्ण का बहुनायकत्व आदि) ऐसे अवश्य हैं जहाँ प्रतीक के रूप में वही बात कही गई है जो रहस्यकाव्य का मूल है, परन्तु उसमें अनुभूति की वह गहराई नहीं है। सच तो यह है कि सगुणोपासक भक्तों को इष्टसत्ता के सामने रहस्यसत्ता का भरोसा क्यों होता? परन्तु भक्तों के काव्य में अनेक स्थल ऐसे हैं जो अपनी भावोच्चता और अनुभूति की सच्चाई के कारण रहस्य प्रधान हो गए हैं जैसे सूरदास की हंस-चकई वाली अन्योक्तियाँ--

चकई री चल चरन सरोवर जहाँ न मिलन विछोह

तुलसी की चातक-प्रेम की अनुभूति रहस्यवादी कवियों की विरहानुभूति की तीव्रता तक पहुँच गई है।

सत्रहवीं शताब्दी में रहस्यवाद की धारा क्षीण हो गई। जिस धर्मप्राणता पर उसका आधार था वह लौकिकता की चोट से चूर-चूर हो रही थी। साहित्य की चिन्ता लोकोन्मुख हो गई। कवि नारी को केन्द्र बना कर दीपशलभ की भांति उसके चारों ओर घूमने लगे। अठारहवीं शताब्दी का साहित्य पूर्ण रूप से लौकिक रहा। अध्यात्म के छींटें ही शेष रहे।

उन्नीसवीं शताब्दी में हमारा परिचय अंग्रेजी साहित्य से हुआ परन्तु उसका प्रभाव श्रीधर पाठक के काव्य को छोड़ कर और अधिक नहीं पड़ा। बीसवीं शताब्दी के पहले दशाब्द के बाद अंग्रेजी के उन्नीसवीं शताब्दी के रोमांटिक काव्य के अनुकरण होने लगे। उस काव्य के रहस्यवाद की ओर भी कवियों का ध्यान गया। परन्तु वह उस प्रकार की कविता लिखने का प्रयास

नहीं करते थे। इसी समय कवीन्द्र रवीन्द्र की "गीतांजलि" प्रकाशित हुई थी। इस पर कबीर, वैष्णव-भक्ति, पश्चिमी साहित्य और उपनिषदों का प्रभाव था। यह रचना पूव और पश्चिम में सम्मानित हुई। हिन्दी के कवियों ने भी रवीन्द्र की शैली को पकड़ा और इस प्रकार अर्वाचीन काल में रहस्यवादी कविता का सूत्रपात हुआ।

प्राचीन और अर्वाचीन रहस्यवाद काव्य में महान् अन्तर है। प्राचीन काव्य के मूल में धार्मिक अनुभूति और साधना थी। स्वयम् कवि के लिये उस काव्य का मूल्य इतना ही था कि वह उसके द्वारा कम अधिक अपनी रहस्यानुभूति को प्रकाश में लाता था। उसके अपने प्रतीक थे। इनमें बहुत से किसी-न-किसी भाँति जनसमाज से परिचय प्राप्त थे। फलतः यह रहस्यवाद अत्यन्त ऊँचे आध्यात्मिक धरातल पर उठा हुआ होता भी साधारण पाठक के लिए अगम्य नहीं था। अर्वाचीन रहस्यवाद काव्य का आधार अधिकतः कल्पना है। उसके पीछे धार्मिक अनुभूति तो है नहीं जहाँ है वहाँ अधिक गहरी नहीं है। वह साधना का न फल है, न उसका विषय ही हैं। उसे हम काव्य शैली मात्र भी कह सकते हैं। उसके प्रतीक भी नए हैं और भारतीय रहस्यवाद की परंपरा से मेल नहीं खाते। इसी कारण आधुनिक रहस्यवाद काव्य को पाठक नहीं मिल सके। जहाँ भाषा की अप्रौढ़ता और छन्दों की नवीनता भी इसके साथ सम्मिलित हो गई, वहाँ वह एक काव्य होकर रह गया। इस प्रकार के कूटों को "छायावाद" नाम दे दिया गया है।

आधुनिक रहस्यवादी काव्य के साथ "रहस्यवाद" शब्द की परिभाषा भी विस्तार पाती है। उसमें प्रकृति, सौन्दर्य, प्रेम (विरह और मिलन) को भी रहस्यानुभूति माना गया, केवल

इन्द्रियानुभूत नहीं। वास्तव में धार्मिक रहस्यवाद इस धर्महीन युग की विशेषता नहीं हो सकता था। भिन्न-भिन्न रहस्यवादी कवियों की भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों के कारण भी रहस्यवाद काव्य में शैली के अन्तर हो गए, परन्तु ये अधिक नहीं हैं। हमें यह भी न समझना चाहिये कि हिन्दी रहस्यवाद काव्य किसी भी काल में बाहरी प्रभावों से अछूता रहा है। वास्तव में वह कई स्थलों पर अन्य प्रवृत्तियों से इतना मिला चलता है कि उसे उनसे अलग कर स्वतन्त्र रूप देना असम्भव है। भारतीय चिन्तन-धाराएँ सब कुछ समेट कर चलती हैं। रहस्यवाद भी धर्म को समेट कर चला। आधुनिक रहस्यवाद भी वैष्णव भक्ति के प्रभाव से मुक्त नहीं हुआ है यद्यपि उस पर अंग्रेजी की रोमांटिक काव्यधारा का प्रभाव ही प्रधानतः लक्षित है। रोमांस काव्य की मूल विशेषता है करुणा। आधुनिक रहस्यवाद को करुणा से भी प्रेरणा मिली है। आधुनिक रहस्यवाद के विषय हैं—मिलनानंद, प्रतीक्षा, वियोग, विराट और सूक्ष्म (अनन्त और साँत) का सम्बन्ध; प्रकृति में विराट अज्ञात शक्ति की कल्पना, अज्ञात शक्ति में नारी (प्रेयसी) की कल्पना, करुणा के प्रति मोहमय आकर्षण, वेदना की व्यापक-रहस्यमय अनुभूति। जैसा हमने देखा हैं आज का रहस्यवाद कल्पना प्रधान है, अनुभूति प्रधान नहीं। कवि ने उसे अपनी गहनतम सहानुभूति नहीं दी है। उसका कवि के जीवन से अन्यतम सम्बन्ध नहीं।

२१. प्राचीन हिन्दी कविता में प्रकृति चित्रण

(१) वाल्मीकि और कालिदास, माघ और भवभूति के काव्यों में प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण (२) हिन्दी प्रकृति में परम्परा और स्वतन्त्र चेतना (३) सिद्धों और सन्तों की कविता में प्रकृति (४) भक्तसाहित्य में प्रकृति (५) रीतिकाव्य में प्रकृति (६) हिन्दी कविता में प्रकृति

चित्रण का विश्लेषण (७) प्रकृति से लिए हुए उपमानों का परम्परागत प्रयोग और उसका हमारे प्रकृति सम्बन्धी काव्य पर प्रभाव।

हिन्दी प्रदेश सदैव से सुन्दर-सुन्दर प्रकृतिखण्डों से भरा-पुरा रहा है। उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्याचल, पूर्व और मध्य के विस्तृत रम्य प्रवेश, दक्षिणपूर्व का वन्यखंड, दक्षिण-पश्चिमी का झाड़खंड और मरुस्थली। सब ओर छोटी-बड़ी नदियाँ, निर्झर, जलस्त्रोत। यही प्रदेश आर्यभूमि का हृदय है। आदि कवि बाल्मीकि और महाकवि कालिदास का काव्य इसी प्रदेश की प्रकृति से रमणीय बना है। आदि-कवि पंचवटी का वर्णन करते हैं—

अवश्यामनिप्रातेन किंचित्प्रक्लिन्नशाद्वला।
वनानां शोभते भूमिर्निविष्ट तरुणातपा॥
स्पृशस्तु विपुल शीतमुदकं द्विरदः सुखम्।
अत्यन्त तृषितो वन्यः प्रतिसंहरते करम्॥
अवश्याय तमोनद्धा नीहारतमसावृताः।
प्रसुप्ताइव लक्ष्यंते विपुष्प वनराजयः॥
बाष्पसंछन्नसलिला रुतविज्ञेय सारसाः।
हिमार्द्रबालुकैःस्तीरैःसरितो भांति सांप्रतम्॥
जराजर्जरितै पद्मैः शीर्णकेसरकर्णिकैः।
नालशेषैहिंमध्वस्तैर्न भांति कमलाकराः॥

[बन की भूमि। जिसकी हरी-हरी घास पाला गिरने से कुछ कुछ गीली हो गई है, मई धूप पड़ने से कैसी शोभा दे रही है। अत्यन्त प्यासा जंगली हाथी शीतल जल के स्पर्श से अपनी सूँड सिकोड़ता है। बिना फूल के बनसमूह कुहरे के अंधकार में सोये-से जान पड़ते हैं। नदियाँ जिनका जल कुहरे से ढका हुआ है और जिनमें के सारस पक्षी केवल शब्द से जाने जाते

हैं, हिम से आर्द्र बालू के तटों से ही पहचानी जाती हैं। कमल जिनके पत्ते जीर्ण होकर झड़ गए हैं, जिनकी केसर और कर्णिका टूट-फूट कर छितरा गई है, पाले से ध्वस्त होकर नोल-मात्र खड़े हैं।]

तो कालिदास हिमालय के चिरअभिनव सौन्दर्य को अपरता देते हैं--

आमेखलं संचरता घनानां।
छायामधः सानुगतां निषेव्य॥
उद्वेजिता वृष्टि भिराश्रयंते।
शृंगाणि यस्यातपवंति सिद्धाः॥
कपोलकंडूः करिभिर्विनेतुं।
विघट्टितानां सरलद्रुमाणाम्॥
यत्र स्रुतक्षीरतमा प्रसूतः।
सान्दूनि गंधः सुरभी करोति॥
भागीरथी निर्झरसीकराणां।
वोढ़ा मुहुः कंपित देवदारुः।
यद्वायुरन्विष्ट मृगैः किरातै।
रासेव्यते भिन्नशिखंडिवर्हः॥

[मेखला तक घूमने वाले मेघों के नीचे के शिखरों में प्राप्त छाया को सेवन करके वृष्टि से कँपे हुए सिद्ध लोग जिसके धूप-वाले शिखरों का सेवन करते हैं। जिस (हिमालय) में कपोलों की खुजली मिटाने के लिए हाथियों के द्वारा रगड़े हुए सरल (सलई) के पेड़ों से टपके हुए दूध से उत्पन्न सुगंध शिखरों को सुगंधित करती है। गङ्गा के झरने के कणों को ले जाने वाला बार-बार देवदारु के पेड़ों को कँपानेवाला, मयूरों की पूँछों को छितरानेवाला जिसका पवन मृगों के ढूँढ़नेवाले किरातों द्वारा सेवन किया जाता है।]

इन कवियों में पग-पग पर हमें प्रकृति के सुन्दर संश्लिष्ठ चित्र मिलेंगे जिनमें हमें भारतवर्ष की प्रकृतस्थली के प्रति गूढ़ अनुराग के दर्शन होंगे। भवभूति के नाटकों में वन्य दृश्यों के सुन्दरतम चित्र इंगित हैं।

आगे चल कर संस्कृत काव्य में ही प्रकृति के साथ अन्याय होने लगा। कवियों ने संश्लिष्ट दृश्यखंड उपस्थित करना छोड़ दिया, उसका प्रयोग केवल उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टांत आदि की उद्भावना के लिए ही किया गया। जहाँ प्रकृति के वस्तुचित्र भी उपस्थित किए वहाँ कवि की दृष्टि अलंकार-योजना एवं चमत्कार-प्रदर्शन के लिए ही अधिक मुड़ी। माघ के इस चित्र से कौन सूर्योदय का आनन्द ले सकेगा—

> अरुणजलजराजीमुग्धहस्ताग्रपादा
> बहुलमधुपमाला कज्जलेंदीवराक्षी।
> अनुपतति विरावैः पत्रिणां व्याहरंती
> रजनिमचिरजाता पूर्वसंध्या सुतेव॥
> वितत पृथुवरत्रातुल्यरूपै-र्मयूखैः
> कलशइव गरीयान् दिग्भिराकृष्यमाणः।
> कृतचपल विहंगालापकोलाहलाभि —
> र्जलनिधि जलमध्यादेस उत्तार्यतेऽर्कः॥

[अरुण कमल रूपी कोमल हाथ-पैरवाली, मधुपमाला-रूपी कज्जलयुक्त कमल नेत्रवाली, पक्षियों के कलरव-रूपी रोदनवाली यह प्रभातवेला सद्योजात बालिका के समान रात्रिरूपी अपनी माता की ओर लपकी आ रही है। जिस प्रकार घड़ा खींचते हुए स्त्रियाँ कुछ कोलाहल करती हैं, उसी प्रकार पक्षियों के कोलाहल से पूर्ण दिशारूपी स्त्रियाँ दूर तक फैली हुई किरण-रूपी रस्सियों

से सूर्यरूपी घड़े को बांध कर बड़े भारी कलश के समान समुद्र के भीतर से खींच कर ऊपर निकाल रही है।]

ऋतु-वर्णन के लिए तो यही काफी समझा जाने लगा कि उद्दीपन के रूप में उसका वर्णन किया जाय और कुछ इनी-गिनी निश्चित वस्तुओं का कथनमात्र कर दिया जाय। छःहों ऋतुओं को एक साथ, क्रमानुगत, वर्णन करने की प्रथा कालिदास के समय में ही चल पड़ी होगी, उनके ऋतुसंहार से ऐसा ही सूचित होता है। यहीं से "षटऋतुवर्णन" काव्य का आरंभ होता है। प्रकृति के संबन्ध में कविप्रसिद्धियों और कविपरपरा का पालन ही सब कुछ हो गया, प्रकृति पर्यवेक्षण बन्द हो गया। सैकड़ों ऊहापोही चमत्कारी उक्तियाँ कही जाने लगीं जो प्रकृति-काव्य न होकर काव्य की विडंबनामात्र थीं। कवियों ने प्रकृति को काव्यशास्त्र और काव्यग्रन्थों के भीतर से देखा, बाहर के प्राकृतिक ऐश्वर्य की ओर आँखें बन्द रखीं। कालांतर में हिन्दी कविता का जन्म हुआ और वह प्रकृतिसम्बन्धी संस्कृत काव्य के इस दाय की स्वामिनी हुई।

अन्य परिस्थितियों ने भी हिन्दी कविता को प्रभावित किया। उसका जन्म ऐसे समय में हुआ जब हिन्दू संस्कृति और हिन्दी साहित्य अवनति की ओर उन्मुख हो रहे थे। आदि युग के कवियों का ध्यान स्त्री-पुरुष-विषयक रति और आध्यात्मिक साधना के विकृत रूपों की ओर रहा। उनकी दृष्टि मनुष्य के लौकिक जीवन और उसके आध्यात्म जगत तक ही सीमित रही। वह प्रकृति की ओर नहीं उठी। सिद्धों की कविता में हम प्रकृति का केवल एक ही प्रयोग पाते हैं—उन्होंने अपनी अन्तर साधना को प्रकृति की परिभाषा में प्रगट किया है। उन्होंने साधन के भीतर बाह्य जगत की सारी प्राकृतिक वस्तुओं और सारे प्राकृतिक दृश्यों को स्थापित किया है। साधक यह अनुभव करता है कि वह

स्वयम् ब्रह्मांड है और उसके भीतर प्रकृति की नाना लीलाएँ चल रही हैं। प्रकृति के इस रूप के दर्शन हमें संतों के काव्य में और भी अधिक मात्रा में मिलते हैं। कबीर और दादू के सारे साहित्य में आध्यात्मिक होली, चाचर, वर्षा; फाग वंसत आदि प्राकृतिक दृश्यों और उत्सवों की प्रधानता है। मीरा के काव्य में भी ऐसे अनेक पद मिलते हैं जिनमें प्रकृति का ऐसा प्रयोग किया गया है।

इसके बाद हम भक्त साहित्य की ओर आते हैं। भक्तों की कविता में प्रकृति का स्थान गौण है। उनके मुख्य विषय राम-कृष्ण के चरित्रगान और प्रेम की मानवी भावनाएँ हैं। उन्होंने प्रकृति का चित्रण स्वतन्त्र रूप में बहुत कम किया है। भक्तिकाव्य का अधिकांश प्रकृति-चित्रण भावों के उद्दीपन के लिए अथवा उपमान के रूप में हुआ है। भावों के उद्दीपन रूप में जो प्रकृति-चित्रण हुआ है उसे अधिकतः शृंगाररस के उद्दीपन के रूप में ग्रहण किया है। साथ ही, पौराणिक प्रकृति चित्रण का प्रभाव भी उस पर थोड़ा नहीं है। पुराणों में वर्षा-शरद-वर्णन की शैली बराबर विकसित होती चली आती है। तुलसी ने मानस में भागवत की इसी पौराणिक नैतिकता-प्रधानशैली को कुछ परिवर्तित रूप में हमारे सामने रखा है। रीति काव्य की कविता में भी कवियों की दृष्टि प्रकृति की ओर नहीं गई। कृष्णभक्ति साहित्य में शृंगाररस के उद्दीपन के रूप में प्रकृति का जो चित्रण हुआ था उसे ही उन्होंने आगे बढ़ाया। उन्होंने नायिका के अभिसार को अग्रभूमि में रख कर प्रकृति को पीछे देखा। वियोगिनियों की ऋतुचर्या के लिए उन्होंने षटऋतुवर्णन को एक विशिष्ट रूप दिया। अब "षटऋतु वर्णन" सम्बन्धी एक बड़ा साहित्य ही रचा जाने लगा। "बारहमासे" लिखने की प्रथा कदाचित् लोकगीतों से

प्रभावित होकर वीसलदेव रासो के समय से ही चल पड़ी थी। जायसी के पद्मावत में उसे स्थान मिला। मूल रूप से इसमें और षटऋतुवर्णन-शैली में कोई अन्तर न था। रीतिकाल में इस वर्णन शैली को भी प्रश्रय मिला। सारी प्रकृति को स्त्री अंगों के उपमान के लिए खोज डाला गया। रीतिकाल के कवि के लिए प्रकृति का अस्तित्व वहीं तक था जहाँ तक वह उसे नायिका के सौन्दर्य के लिए उपमान दे सकती थी या उसके विरह-रुदन और प्रतीक्षा को प्रभावशाली बना सकती थी। उनके लिए प्रकृति नारीमय थी। वह नायिकाओं के इंगित पर नाचने लगी—

नील पटतन पर घन से घुमाय राखौं
दन्तन की चमक छटा-सी विचरति हौं।
हीरन की किरनें लगाई राखौं जुगनूसी
कोकिल-पपीहा-पिक बानी सों भरति हौं॥
कींच अंसुवान के मचाय कवि देव कहै
बालम विदेस को पधारिबों हरति हौं।
इन्द्र कैसो धनु साज वेसर कसत आजु
रहु रे बसन्तु, तोहिं पावस करति हौं।

(देव)

शब्दानुप्रास का इतना प्राचुर्य हुआ कि प्रकृति का कोई भी रूप सामने नहीं आ पाता। पद्माकर के इस पद में प्रकृति ढूंढ़े नहीं मिलेगी—

कूलन में, केलि में, कछारन में, कुंजन में
क्यारिन में कलिन कलीन किलकन्त है
कहै पद्माकर परागन में पानहू में
पानन में, पीक में, पलासन पगंत है

द्वार में, दिसान में, दुनी में, देश देशन में,
देखो दीप दीपन में दीपत दिगंत है
वीथिन में, ब्रज में, नवेलिन में, बेलिन में,
बनन में, बागन में बगरयो बसन्त है

महाकवि केशवदास ने तो श्लेष की स्थापना करके प्रकृति के प्रति अपनी संकीर्णता का परिचय ही दे डाला है—

ताका

अति सुन्दर अति साधु। थिर न रहति पल आधु॥
परम तपोमय मानि। दंड धारिणी जानि॥

पंचवटी

बेर भयानक सी अति लगै। अर्क समूह जहाँ जगमगै॥
पांडव की प्रतिमा सम लेखौ। अर्जुन भीम महामति देखौ।
है सुभगा सम दीपति पूरी। सिन्दूर औ तिलकावलि रूरी॥
राजति है यह ज्यों कुलधन्या। धाम विराजति है सग धन्या॥

जहाँ इस प्रकार का चमत्कार विधान है, वहाँ आलंबन की शुद्धता, सूक्ष्म दर्शन आदि के लिए स्थान कहाँ! सारे रीति काव्य में हमें सेनापति और बिहारी ही ऐसे कवि मिलते हैं जिनके प्रकृति-वर्णन में थोड़ी मौलिकता देखी जा सकती है। उन्होंने नायिका के दृष्टिकोण से प्रकृति में ऊहापोह दृश्यों की कल्पना नहीं की है। स्वतन्त्र वर्णन इन्हीं दो कवियों में मिलेंगे—

कातिक की राति थोरी थोरी सियराति
'सेनापति' को सुहाति सुखी जीवन के गन हैं
फूले हैं कुमुद, फूली मालती सघन बन
फूलि रहे तारे मानों मोती अनगन हैं
उदित बिमल चन्द चाँदनी छिटकि रही
राम कैसो जस अधऊरध गगन है

तिमिर हरन भयो, सेत है बरन सब
मानहुँ जगत छीरसागर मगन है
(सेनापति)

रनित भृङ्ग घंटावली झरत दानु मधुनीर।
मन्द मन्द आवत चल्यो कुञ्जर कुंज समीर॥
चुवत स्वेद मकरंद कन तरु तरुतर विरमाय!
आवत दच्छिण देस ते थक्यो बटोही बाय॥
लपटीं पहुप-पराग पट सनी सेद मकरंद।
आवति नारि नवोढ़ लौं सुखद बाय गति मन्द॥
रुक्यो साँकरे कुञ्ज मग करत झांझ झुकरात।
मन्द मन्द मारुत तुरंग खूंदित आवत जात॥
(बिहारी)

संक्षेप में प्राचीन हिन्दी कविता में प्रकृति का चित्रण प्रायः कुछ बँधे ढंग पर हुआ है :—

१—उपमान के रूप में।

२—भावों के उद्दीपन स्वरूप, विशेषतः रतिभाव के।

३—साधारण स्वतन्त्र वर्णन जिसमें वस्तु-नामावली ही की प्रधानता है। संश्लिष्ट योजनावाले चित्र गोस्वामी तुलसीदास के एकाध पद को छोड़कर बहुत कम हैं। मानव-हृदय के अनेक भावों के साथ प्रकृति को मिलाकर नहीं देखा गया। स्वतन्त्र चित्रण वीरकाव्य को छोड़ कर अन्य स्थान पर बहुत थोड़ा मिलता है, यहाँ भी प्रकृति निरीक्षण का लगभग अभाव है। जायसी के काव्य में प्रकृति के रोमांटिक चित्र मिलते हैं और प्रकृति को आध्यात्म चित्तत्त्व की प्राप्ति में तत्पर एवं साधक के लिए साधनारूप चित्रित किया गया है। इनसे सिवा जो कुछ है वह अलंकार-प्रतिष्ठा और चमत्कार-विधान के लिए है

जिसे हम किसी भी प्रकार महत्त्वपूर्ण नहीं कह सकते। वास्तव में, हिन्दी कविता का प्रारम्भ विदेशी संघर्ष की गोद में हुआ। उस समय कवियों को इतना समय नहीं था कि वे प्रकृति के सौन्दर्य की ओर मुड़ते। इसके बाद का जितना भी साहित्य है नैतिकता के रंग से रंगा हुआ है। संत साहित्य प्रकृति की उपेक्षा करता है। वह आत्मा के द्वन्द और नैतिकता एवं नैतिक आदर्शों के आलोक में लौकिक व्यवहार के प्रश्न सामने रख कर चला है। उसका भौतिक सौन्दर्य के प्रति दृष्टिकोण ही दूसरा है। यह संसार जब माया है तो प्राकृतिक सौन्दर्य भी छलावा है। इसमें भूल जाना आत्मा का नाश करना है। अलबत्ता, सूफी कवियों का प्रकृति के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण है और उसने उनके काव्य में एक महत्वपूर्ण स्थान पाया है। ये कवि रहस्यवादी थे। इनकी दृष्टि में प्रकृति परमात्म सत्ता की ही अभिव्यक्ति है। वह दर्पण है जिसमें "पुरुष" का चित्र पड़ता है। इसी से उन्होंने उसे चिदात्म की प्राप्ति का एक माध्यम माना है। उन्होंने प्रकृति का जो चित्र उपस्थित किया है, वह उनकी रहस्यानुभूति से रंगा होने के कारण अतिरंजित (Romantic) है। साथ ही, वह जीवित, स्पंदित और सहानुभूतिशील है। साधक के सुखदुख के साथ प्रकृति भी सुखदुख का अनुभव करती है। उसके उतने ही भाव हैं जितने मनुष्य के। सूफियों ने विरह को प्रेम की चरम अभिव्यक्ति माना है, इससे उनकी प्रकृति भी क्रन्दनशीला, पुरुष-परित्यक्ता आजीवन विरहिणी है। भक्ति-काव्य की दृष्टि भी अपने आदर्शों के कारण संकीर्ण हो गई। हाँ, उसकी कृष्णशाखा ने अपने आराध्य के सौन्दर्य और प्रेम की अन्यतम विभूति मान कर उसकी उपासना की। स्वयम् कृष्ण-चरित्र का सम्बन्ध ब्रज से

था, इसलिए लोकनायक के चरित्र-चित्रण के प्रसंग में ब्रज-भूमि की प्रकृति के दृश्यों के भी चित्रण हुए। ब्रजकाव्य की प्रकृति गोपियों के हृदय की परछाईं है। उसके दर्पण में उनके हृदय के अनुभाव-विभाव प्रतिबिंबित होते हैं। उसमें प्रकृति और मनुष्य की अन्यतम भावनाओं का इतना एकात्म्य है कि हम चकित हो जाते हैं। रीतकाल की तुलना अँग्रेज़ी के पोप और ड्राइडन के काल की कविता से की जा सकती है। उस समय को कविता हुई वह पूर्णतयः नागरिक थी। उसका विकास नगरों में हुआ। उसमें या तो प्रकृति को कोई स्थान ही नहीं मिला या उसका परम्परा से आया रूप, अनुभूति न होने पर भी, स्वीकार किया गया। वह भी शृङ्गार के भावों, अनुभावों और विभावों के उद्दीपन के लिए। रीतकाल की प्रकृति स्वतन्त्र नहीं है उसकी बाढ़ रुकती गई है। वह कवि की दासी है और उसके बुलाने पर वेश्या की तरह अनैसर्गिक शृंगार करके उसके सामने आती है। गृहिणी जैसा सरल, निश्छल और पातिव्रत्य-पूर्ण व्यवहार उसका नहीं है।

एक कठिनाई प्रकृति से लिए हुए उपमानों के सम्बन्ध में सदा से हमारे कवियों के आगे उपस्थित रही है। संस्कृत काव्य में जो उपमान प्रकृति से लिये गये थे, वे अब हमारे प्रतिदिन के व्यवहार में नहीं आते, वे उस समय ग्रहण किये गये थे जब नागरिक जीवन प्रकृति से इतनी दूर नहीं चला गया था जितनी दूर वह आज है। इस कारण वे उपमान आज प्रभावहीन हैं। कमल, मृग, करि, खंजन, लता, ये आज कल्पना की वस्तुएँ हैं, परन्तु हमारा साहित्य युगों से इनमें सोचता रहा है। इसका फल यह हुआ कि हमारे सारे प्राचीनकाल में कवियों ने प्रकृति

को पूर्ववर्ती साहित्य के भीतर से देखा, फिर चाहे वे सूरदास की तरह प्रकृति के बीच में ही घिरे क्यों न रहे हों।

२२. वर्तमान हिन्दी कविता में प्रकृति-चित्रण

(१) भारतीय प्रकृति की कुछ विशेषताएँ और उनका प्रकृति-चित्रण पर प्रभाव (२) आधुनिक युग में प्रकृति का स्वतन्त्र स्थान (३) आधुनिक हिन्दी कविता में प्रकृति चित्रण का इतिहास (४) द्विवेदीयुग की कविता में प्रकृति (५) छायावादी काव्य में प्रकृति (६) प्रकृति का यथातथ्य चित्रण (७) आधुनिक काव्य के प्रकृति-चित्रण का विश्लेषण।

हमारी भारतीय प्रवृत्ति अमानवीय को मानवीय के और चेतन को जड़ के ऊपर स्थान देती है। यही कारण है, कि हमारे कवियों ने प्रकृति को पश्चिम के कवियों की भाँति आगे की पटभूमि में नहीं रखा। प्रकृति इन्हें परमात्मा की श्रेष्ठतम सृष्टि मनुष्य के समझने में सहायता देती है या परब्रह्म-प्राप्ति अथवा एक महान् सत्ता के अनुभव का उपादान बन सकती है। इनसे अलग प्रकृति जो है, माया है, भ्रम है। हमारे कलाकारों ने मनुष्य और उसके भावों को सामने रखकर उसके चित्रण को उत्तेजना और स्पष्टता देने के लिये ही प्रकृति का आह्वान किया है। महाकवि तुलसीदास प्रकृति के परिवर्तन-पर्यावर्तन की उपमाएँ देने के लिये मनुष्य के अन्तर और उसके मनोभावों तक जाते हैं।

परन्तु आधुनिक युग में प्रकृति को काव्य में स्वतन्त्र रूप से स्थान मिला। उसकी एक अपनी अलग सत्ता प्रतिष्ठित हुई। आधुनिक युग में प्रकृति को काव्य परिपाटी से उन्मुक्त करने-वाले पहले कवि पं० श्रीधर पाठक हैं जिन्होंने गोल्डस्मिथ की

पुस्तकों से प्रेरणा प्राप्त की। उनकी काश्मीर-सुषमा आदि कविताओं ने हिन्दी कविता को एक नई दिशा दिखाई—

चहुँदिसि हिमगिर सिखा हरि मनि मौलिक अवलि मनु,
स्रवत सरित सितधार प्रवत सोई चन्द्रहार जनु।
फल फूलनि छवि छटा छुई जो बन उपवन की,
उदित भई मनु अवनिउदर सो निधि रतनन की॥

हिन्दी कविता के द्विवेदी युग के कवि पाठक जी की रचनाओं से प्रभावित रहे परन्तु उनमें से अधिकांश प्राकृतिक वस्तुओं के परिगणनि से आगे नहीं बढ़ पाये। इन कवियों में पं० लोचनप्रसाद पांडेय और पंडित रूपनारायण पांडेय प्रभृति हैं। परन्तु इस समय भी कवियों का अधिकांश वर्ग काव्य-परिपाटियों के भीतर से देख रहा था एवं संयोग और विप्रलंभ शृङ्गार के उद्दीपन के रूप में ही उसका वर्णन कर रहा था। इसी समय कुछ कवियों ने प्रकृति का अच्छा अध्ययन किया और अपने निरीक्षण के अधार पर उसका रूप स्थिर किया। ये कवि हैं—पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय (हरिऔध), पं० रामचन्द्र शुक्ल और श्री मैथिलीशरण गुप्त। इन तीनों कवियों की रचनाओं में बड़ा अन्तर है। उपाध्याय जी प्राचीन परिपाटी के कुछ अधिक निकट हैं। वे प्रकृति के दृश्यों के संस्कृत एवं अलंकृत रूप को ही काव्य में स्थान देते हैं। संस्कृत शब्दों और वृत्तों का सहारा लेने से उनके प्रकृति-चित्रण में पौराणिकता एवं अलौकिकता आ जाती है। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दी में प्रकृति का विस्तृत, अलंकृत चित्रण पहले-पहल हरिऔध जी ने ही किया। उनका महाकाव्य प्रिय प्रवास प्रकृति के अत्यन्त सुन्दर चित्रों से भरा पड़ा है। उनके प्रकृति चित्रण की एक शैली है—

दिवस का अवसान समीप था,
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरुशिखरों पर थी अब राजती,
कमलिनी-कुल वल्लभ की प्रभा।

जिसका अन्यतम रूप यह हो गया है—

प्रफुल्लता कोमल पल्लवांचिता,
मनोज्ञिता-मूर्ति नितांत रंजिता।
वनस्थली थी मकरंद मोदिता,
अकीलिता कोकिल काकिली नथी।

परन्तु उनके जिन चित्रों में भाषा संस्कृत गर्भित नहीं है। वे इधर के कवियों के किन्हीं बड़े चित्रों से सफलतापूर्वक स्पर्द्धा कर सकते हैं--

तार डूबे, तम टल गया; छा गई कोमलाली,
पंछी बोले, तमचुर उगे, ज्योति फैली दिशा में।
शाखा डोली सकल तरु की, कंज फूले सरों में,
धीरे धीरे दिनकर कढे, तामसी रात बीतीं।
लोनी लोनी सकल लतिका वायु में मन्द डोलीं,
प्यारी प्यारी ललित लहरें भानुजा में विराजीं।
सोने की सो कलित किरणों मेदनी ओर छूटीं,
कूलों-कुंजों, कुसुमित बनों-क्योरियों ज्योति फूटी।

नवें सर्ग में ऐसे कितने ही चित्रण हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल को प्रकृति के प्रति तन्मयतापूर्ण अनुराग है। "उन्हें गुलाब भी प्रिय है, कटीली झाड़ियाँ भी। प्रकृति के सामान्य रूपों को चित्रित करने में वे सिद्धहस्त हैं। उनकी निरीक्षण शक्ति अत्यन्त सूक्ष्म है। उन्होंने ही पहली बार प्रकृति के अंततम सौंदर्य का उद्घाटन किया और प्रकृति के रसबोध का शास्त्रीय विश्लेषण

भी किया। उनकी निरीक्षण शक्ति इतनी तीव्र है कि प्रकृति के प्रसंगों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म बात उनसे छूट नहीं पाती। उनके "बुद्धचरित्र" काव्य से कितने ही उदाहरण उपस्थित किए जा सकते हैं। श्री मैथिलीशरण गुप्त की पंचवटी आदि पुस्तकों में प्रकृति के सुन्दर चित्र मिलेंगे। उनके महाकाव्य "साकेत" में उनकी प्रकृतिचित्रण-कला स्पष्ट होकर पूर्ण उतरती है। साकेत-पुरी के प्रभाव का चित्रण है—

सूर्य का यद्यपि नहीं आना हुआ,
किन्तु समझो रात का जाना हुआ।
क्योंकि उसके अंग पीले पड़ चले,
रम्य रत्नाभरण ढीले पड़ चले।

× × ×

नींद के भी पैर हैं कँपने लगे,
देख लो लोचन कुमुद मुँदने लगे।
वेष भूषा साज ऊषा आ गई,
मुख कमल पर मुस्कुराहट छा गई।
पक्षियों की चहचहाहट हो उठी,
चेतना की अधिक आहट हो उठी।
स्वप्न के जो रङ्ग थे वे घुल गये,
प्राणियों के नैन कुछ कुछ खुल गये।
दीपकुल की ज्योति निष्प्रभ हो गिरी,
रह गई अब एक घेरे में घिरी।

प्रकृति और मनुष्य के समय-समय के भावों का जो अस्पष्ट, किन्तु गहन, संबन्ध है, उस पर भी उनकी कलम खूब चली है। उर्मिला के प्राण श्री रामचन्द्र जी के साथ बनवास को

चले गये। सूने प्रासाद-कोष्ठ में वह विरहिणी बाला आकाश की ओर ताकती है--

नभ ओर उर्मिला ने देखा, थी ईर्ष्या भरी दृष्टि रेखा
तब नभ भी मानों धधक उठा, सन्ध्यारुणिमा मिल भभक उठा
रोता दिन बीता रात हुई, ज्यों-त्यों वह रात प्रभात हुई
फिर सूनी संध्या बांझ हुई, मानों सब बेला सांझ हुई

उर्मिला कभी तो रोती थी, फिर कभी शांत-सी होती थी। कहीं-कहीं उनके चित्रण विशाल भी बन पड़े हैं। साकेत के अंतिम छंद में प्रकृति का सुन्दर परिपूर्ण चित्र देखते ही बन पड़ेगा--

स्वच्छतर अम्बर में छन कर आ रहा था
स्वाद मधुगंध से सुवासित समीर सोम।
समुदित चन्द्र किरणों का चौर ढारता था,
आरती उतारता था दिव्य दीप वाला व्योम।

छायावादी कवियों ने प्रकृति को देखने का दृष्टिकोण ही बदल दिया। रंगों में, तूलिका में, अन्य उपादानों में बाहुल्य और बहुमूल्यता का समावेश हुआ। अंग्रेजी कविता के रोमांटिक कवियों (वर्डसवर्थ, शैली, कीट्स) की भाँति उनकी पुकार थी--"प्रकृति की ओर लौटो।" अंग्रेजी रोमांटिक काव्य-धारा की एक विशेषता आश्चर्य-भावना है। इसने हमारे कवियों को प्रकृति की ओर विशेषरूप से खींचा। प्रकृति को उनकी कविताओं में कितना महत्व मिला है, यह इसी से प्रगट होता है कि उनके तीन प्रमुख संग्रहों के नाम "लहर", "पल्लव" और "परिमल" हैं। प्रकृति और उसके कार्य-व्यापारों के प्रति आश्चर्य (पंत), प्रकृति को विशद वृहद् चित्रपट अंकित करने का प्रयास (निराला), मीनाकारी के सुन्दर सफल चित्र (प्रसाद, पंत),

प्रकृति में रहस्यमय शक्ति का अनुसंधान एवं आरोप (रामकुमार वर्मा, महादेवी) सहज सरल परिचित नागरिक एवं ग्रामीण चित्रण (भक्त, नैपाली)--ये उनके केवल कुछ प्रयोग हैं। सारे छायावाद काव्य में प्रकृति को मनुष्य की वीथिका में रखा गया है, उस पर मानवीय व्यवहारों का आरोपण किया गया है, उसका नारी रूप में चित्रण किया गया है और उसको मनुष्य के प्रति कभी सहानुभूतिपूर्ण दिखाया गया है, कभी उपेक्षापूर्ण। वास्तव में आधुनिक काव्य में प्रकृति को जो स्थान मिला है वह पहले नहीं मिला था। इसका कारण यह नहीं है कि कवि प्रकृति को अत्यन्त निकट से देखने लगा है। कारण बहुत कुछ—कम से कम जहाँ तक अधिकांश कवियों की बात है—इसके ठीक [विपरीत है। हमारे अधिकांश कवि नागरिक हैं। उनका जीवन प्रकृति से दूर है। प्रतिक्रिया स्वरूप वे प्रकृति की ओर खिचते हैं। उनका दृष्टिकोण रोमांटिक है। वे प्रतिदिन के कार्य-व्यवहारों से हट कर नवीन सृष्टि करना चाहते हैं। इसीलिये हमारे युग में प्रकृति-सम्बन्धी अनेक "वाद" उठ खड़े हुये हैं। जो हो, हमने आज मनुष्य के साथ प्रकृति को देखना आरम्भ किया है।

आधुनिक काव्य के अधिक प्रकृतिचित्र मनुष्य-सापेक्ष चित्र हैं, जैसे 'प्रसाद' का यह प्रभात चित्र—

बीती विभावरी जाग री
अम्बर पनघट पर डुबा रही ताराघट ऊषा नागरी
खग कुल कुल कलकल बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा,
लो, वह लतिका भी भर लाई
मधु-मुकुल नवल रस गागरी

अथवा 'निराला' का संध्या-चित्र।

> दिवसावसान का समय
> मेघमय आसमान से उतर रही है
> वह संध्या सुन्दरी परी-सी
> धीरे धीरे धीरे
> तिमिरांचल में चंचलता का कहीं नहीं आभास
> मधुर मधुर है दोनों उसके अधर
> किन्तु जरा गम्भीर, नहीं है उनमें हास विलास
> हँसता है तो तारा एक
> गुँथा हुआ उन घुँघराले काले बालों में

परन्तु वस्तु-चित्रण भी कम नहीं हुआ हैं। पंत का पर्वत की क्षण-क्षण परिवर्तित प्रकृति का चित्र—

> मेखलाकार पर्वत अपार
> अपने सहस्र दृग-सुमन फाड़
> अवलोक रहा है बार बार
> नीचे जल में निज महाकार
> जिसके चरणों में पला ताल
> दर्पण-सा फैला है विशाल
> मोती-सी लड़ियों से सुन्दर
> झरते हैं झाग भरे निर्झर
> गिरिवर के उर से उठउठ कर
> तरुवर
> हैं झांक रहे नीरव नभ पर
> उड़ गया अचानक लो भूधर

या 'निराला' का निशागम का यह चित्र।

एकटक चकोर कोर दर्शनप्रिय
आशाओं भरी मौन भाषा बहु भावमयी
अस्ताचल ढले रवि
शशि-छवि विभावरी में
चित्रित हुई हैं देख
यामिनी - गंधा जगी
घेर रही चन्द्र को चाव से
शिशिर-भार व्याकुल कुल
खुले फूल झुके हुये
आया कलियों में मधुर
मधु-उर यौवन-उभार

परन्तु वर्त्तमान कवियों में एक वर्ग ही ऐसा है जो प्रकृति का यथातथ्य चित्रण करता है। इस वर्ग के कवि प्रकृतिवादी कहे जा सकते हैं। श्री दिनकर, श्री गुरुभक्त सिंह भक्त और गोपाल सिंह नैपाली ऐसे कवि हैं। दिनकर की एक कविता में साँझ का वस्तु-चित्र है—

स्वर्णाचला अहा खेतों में उतरी संध्या श्याम परी
रोमंथन करतीं गायें आ रहीं रौंदती घास हरी
घर-घर से उठ रहा धुँआ जलते चूल्हे बारी बारी
चौपालों में कृषक बैठ गाते कहँ अटके बनवारी

'भक्त' ने अपनी फुटकर कविताओं में और नूरजहाँ में प्रकृति का बहुत ही सुन्दर चित्रण किया है। 'नैपाली' की नौकाबिहार, धरहरा आदि कितनी ही प्रकृति-सम्बन्धी सुन्दर कवितायें हिन्दी साहित्य की विशिष्ट रचनायें हैं।

द्विवेदी काल तक प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार कर ली गई थी। पश्चिमी सभ्यता के साथ नगरों का जीवन तेजी से बदल

रहा था। प्रकृति के जो चिन्ह बिलासिता के पिछले युग में नगर में रह गये थे, वे भी नष्ट हो रहे थे। आर्थिक संघर्ष ने जीवन को और भी जटिल और नीरस बना दिया था। इससे कवियों की दृष्टि प्रकृति की ओर गई। वे नगर के रहने वाले थे। उनकी भावुक सहानुभूति कभी काश्मीर की सुषमा पर जाती, कभी ग्राम्य जीवन की सरलता की ओर, कभी ग्राम प्रकृति की ओर। जो हो, उन्होंने प्रकृति की ओर देखा, चाहे उनका दृष्टिकोण उनके उस आदर्शभाव से प्रभावित होकर निरर्थक ही क्यों न हो गया है जिससे प्रेरित होकर बाद में प्रेमचन्द गाँवों पर मोहित हो गये थे। नवयुग के कवियों ने जीवन की इतिवृत्तात्मकता, यथातथ्यता और कटुता के प्रति भावुक विद्रोह किया और अपनी भावनाप्रिय प्रकृति के कारण उसकी उपेक्षा कर उन्होंने उसे आँख की ओट करना चाहा। उन्होंने Back to Nature की पुकार लगाई परन्तु वह "अति" की ओर झुक चुके थे, अतः उनके प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण में एक आसक्तिपूर्ण भावुकता ने प्रवेश कर लिया। शीघ्र ही वे प्रकृति-रहस्यवादी हो गये। कितने ही कवियों के प्रकृतिचित्र उनके रहस्यवाद या उनकी रोमांटिक भावनाओं के कारण अतिरंजित है। उनमें न प्रकृति की स्वाभाविकता है, न उसकी विशदता। उनकी प्रकृति उनकी कल्पना में रहती है, यद्यपि कहीं-कहीं वस्तुवर्णन भी बड़े सुन्दर मिलते हैं। नवीनतम कवियों ने प्रकृति के प्राकृतरूप की ओर दृष्टिपात किया है। वे प्रत्येक दिन के दृश्यों में सौन्दर्य भरने में सफल हुए हैं। उन्होंने उपेक्षित क्षेत्रों में प्रवेश किया है और उन्हें साहित्य-प्रेमियों के सामने रखा है यद्यपि उनका दृष्टिकोण आदर्शवाद से प्रभावित है। फिर भी वे प्रकृति के बहुत समीप हैं। महादेवी वर्मा के शब्दों में "छायावाद ने मनुष्य के हृदय

और प्रकृति के उस सम्बन्ध में प्राण डाल दिये जो प्राचीनकाल से बिब-प्रतिबिंब के रूप में चला आ रहा था और जिसके कारण मनुष्य को अपने दुःख में प्रकृति उदास और सुख में पुलकित जान पड़ती थी। कविता में यथार्थवाद की जो नई लहर आ रही है, उसने प्रकृति के अन्यतम प्रदेशों में प्रवेश किया है।

२३. संत काव्य

(१) संत काव्य की परम्परा (२) संत धारा की मूल भावनाएँ (३) सत काव्य केवल आध्यात्म का काव्य ही नहीं है, उसमें युग की साधना है, अपने युग की सामाजिक समस्याओं को हल करने की चेष्टा है (४) सन्तों निर्गुण में रूपगुण के अस्पष्ट आरोप का रहस्य (५) सन्तों का रहस्यवाद (६) सन्त और उनका समाज से आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक निरोध (७) सन्त का वातावरण (८) सन्तों के काव्य में आध्यात्मवाद और लोकसंग्रह (९) संतकाव्य में सूफी धारणाओं का प्रवेश (१०) संत काव्य का विश्लेषण।

निर्गुण भावना की एक परम्परा उपनिषदों के समय से चली आती है। उसमें रूपों के पीछे अव्यक्त सत्ता की स्थापना की गई है और अन्तस्साधना को उसकी प्राप्ति का साधन माना गया है। यह भावना ही बौद्ध साधकों (सिद्धों) और नाथपंथियों में होती हुई अधिक बलवती रूप में संतकाव्य में प्रकाशित हुई है।

अन्तरसाधना पर बल सन्तधारा की मूल भावना समझी जानी चाहिये। जिस युग में रामानन्द, कबीर आदि हुये उस युग में आचार्य और सवर्ण सन्त महात्मा वैष्णव पुनरुत्थान की ओर सचेष्ट थे। भागवत और रामायणों को लेकर राम और कृष्ण अवतारों की पूजा चली। देवी भागवत आदि के आधार पर आदि शक्ति के रूप चंडी आदि देवियों की कल्पना की गई। नीचे वर्गों के लोग सामाजिक दृष्टि से अस्पर्श्य थे, अतः सवर्णों

के मन्दिरों और पूजा-स्थानों में उनका प्रवेश निषिद्ध था। उनकी जागृति ने जातिपाँति और छूआछूत द्वारा स्थापित वर्णभावना के विरोध का रूप धारण किया।

वास्तव में सन्तकाव्य के कई पक्ष हैं। उसमें सन्तों की साधना व्यक्त हुई है। अनेक स्थानों पर इसने अध्यात्मवाद या रहस्यवाद का रूप ग्रहण कर लिया है। साधना के आरम्भ में साधक की अन्तःकरण-शुद्धि के लिये कुछ नैतिक गुणों का संग्रह आवश्यक बतलाया गया है। ये गुण हैं—अहिंसा, संतोष, दया, क्षमा, सार-संग्रह, सत्यभाषण, कामिनी-कंचन त्याग, सत्संग, विचारशुद्धि, जीवदया। सन्त साहित्य में इन सबके सम्बन्ध में सुन्दरतम विचार मिलेंगे। साधना के मार्ग में जो बाधाएँ हैं उनसे युद्ध और लौकिक पक्ष में मूर्तिपूजा; वर्णाश्रम संस्था, जाति विभेद, हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य, श्राद्ध, नमाज आदि वाह्या-डंबर का विरोध—ये बातें साधक के लिये आवश्यक हैं। इनके साथ भक्ति का सम्मिश्रण है। संत निर्गुण के उपासक हैं परन्तु निर्गुण बौद्ध साधकों के शून्य से पृथक् है। उन्होंने ज्ञान को भगवत्प्राप्ति का पहला चरण माना है। परन्तु ज्ञान से चरम शक्ति को जानने के बाद उसके पास तक पहुँचने के लिए भक्ति ही साधन है। यह भक्ति उतनी तन्मयता-प्रधान नहीं जितनी कथित भक्तों की भक्ति, परन्तु उसका रूप बहुत कुछ भिन्न भी नहीं है। इसी के कारण संतों के निर्गुण में रूपगुण का अस्पष्ट आरोप हो जाता है।

संतों के रहस्यवाद को समझाने के लिए हमें पहले यह समझ लेना होगा कि उसकी रहस्यमयता के दो कारण हैं। एक, उनके आराध्य का निर्गुण होना; दूसरे उनकी भक्तिभावना का अरूप के प्रति अर्पण होने के कारण अस्पष्ट ही रह जाना—विशेषतः

जहाँ जीवात्मा-परमात्मा के मिलन अथवा मिलनानन्द का वर्णन है वहाँ संत भावों को केवल प्रतीकों में ही अभिव्यक्त कर सके हैं। इनका एक रूप उलटवाँसियाँ है, दूसरा रूप प्रकृति के व्यापार से लिए हुए प्रतीकों के प्रयोग का है।

संतों को अपने काव्य द्वारा अपने उद्देश्यों में कितनी सफलता हुई यह विचारणीय है। वे ऊँचे दरजे के साधक थे और उनकी वाणी उनकी आध्यात्मिक साधनाओं को भलीभाँति प्रकाशित कर सकी है। आध्यात्मिक मिलन और वियोग के इतने सुन्दर चित्र इतनी सादगी के साथ संसार के किसी साहित्य में भी नहीं मिलेंगे। उन्होंने जिन शाश्वत नैतिक और आध्यात्मिक गुणों के संग्रह का आदेश किया है, वे प्रत्येक समाज के लिए प्रत्येक समय उपादेय हैं। उन्होंने साधना के बाह्य उपचारों की अवहेलना की। यह अधिकांश में उनकी सामाजिक स्थिति का फल था। उन्होंने समझ लिया था कि इन बाह्योपचारों ने आडम्बरों का रूप ग्रहण कर लिया है और ये जनता की जीवनशक्ति का शोषण कर रहे हैं। धर्म के नाते वर्ग बने जा रहे हैं। अतः उन्होंने बाह्योपचारों का विरोध कर उन मूल नैतिक एवं आध्यात्मिक तत्त्वों की ओर संकेत किया जो जब धर्मों में समान रूप से प्रशंसित थे। वह युग धार्मिक संघर्षों का युग था। दो धर्म-प्रधान संस्कृतियाँ टक्कर ले रही थीं। अतः दोनों जातियों को एक सूत्र में बाँधने के लिए यह आवश्यक था कि उन्हें समान धरातल पर लाया जाय। संतों ने यह बात चार प्रकार से की। उन्होंने पूजाराधना के बाह्योपचारों और विधिविधानों का निषेध एवं खंडन किया, समान रूप से आदर पाये हुए नैतिक तत्त्वों पर बल दिया, पारिभाषिक शब्दों की एकता की घोषणा की और अन्ततः एक सामान्य भक्तिपथ का निरूपण किया। इस सामान्य भक्तिपथ को हम निर्गुण भक्ति का

नाम दे सकते हैं जिसमें एक ओर सूफियों के सिद्धान्तो को स्थान मिला है और दूसरी ओर अद्वैत के आधार पर प्रचलित हिन्दू भक्तिवाद (वेदान्त भक्ति) को। वास्तव में इन दोनों में कोई भेद भी नहीं था। धार्मिक एकता के आधार पर हिन्दू-मुसलमानों में एकता उत्पन्न करने का ध्येय सफल नहीं हुआ। कारण था कि हिन्दू विजित थे, मुसलमान विजेता, मूल में राजनैतिक विरोध भी काम कर रहा था। शताब्दियों की संकीर्णता के कारण हिन्दुओं ने आगे बढ़ना छोड़ दिया था। एक प्रकार से वे नवागन्तुकों का सामाजिक बहिष्कार किये हुए थे। सच तो यह है कि परिस्थिति इतनी सरल नहीं थी जितनी संतों ने समझी थी परंतु इस असफलता के कारण उनके प्रयत्नों की महत्ता कम नहीं होती। इसी प्रकार अवर्ण-सवर्ण समस्या भी हल नहीं हुई। शक्ति सवर्णों के हाथ में थी। अधिकांश संत अवर्णों में हुए। सवर्णों ने उनके संदेशों को संदेह की दृष्टि से देखा और वर्ण भेद मिटाने की उनकी चेष्टा का विरोध किया। वस्तुतः रामानन्द के बाद यह विरोध अत्यन्त तीव्र हो गया। उच्च वर्णों ने इस प्रकार का कोई प्रयत्न नहीं किया। "हरि को भजै सो हरि का होई"—इस सिद्धान्त के अनुसार अछूत संत भी उनमें सामान्य रह परंतु इस भावना को अधिक विस्तार नहीं मिल सका। प्रयत्न केवल नीचे से ऊपर की ओर हुआ। संतों के मांस-मदिरा-निषेध जैसे संदेशों ने नीचे जातियों को ऊपर अवश्य उठाया परन्तु ऊँची जातियाँ संकीर्णता को छोड़कर और नीचे झुक कर उनको हृदय से लगाने के लिए तैयार नहीं थीं।

जो हो, सतों का दृष्टिकोण अत्यन्त यथार्थवादी था। वे परमार्थ तत्त्व के जिज्ञासु थे। भक्त थे। वैष्णव थे। वैष्णव सिद्धान्तों के आधार पर उन्होंने नीची जातियों के संस्कारों को

ऊपर उठाया। हिन्दू-मुसलमानों को पास लाने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया। जीवन के सामान्य सिद्धान्तो एवं नैतिक गुणों की ओर संकेत किया। 'स्वयं आध्यात्मतत्त्व को लोकतत्त्व से बड़ा मानते हुए भी उन्होंने लोकसंग्रह की भावना अपने सामने रखी। उनकी तपस्या और साधना का रूप केवल वैयक्तिक ही नहीं था। वह लोकपक्ष को लेकर चलता था। शंकराचार्य के बाद जिस विरक्ति वैराग्य ने समाज में उच्छृङ्खलता उत्पन्न कर दी थी, उसके विरुद्ध इन सन्तों ने कहा—"गृहस्थी के कर्मों को छोड़ने की आवश्यकता नहीं; मन को स्वच्छ करो। वासना से लड़ कर विजय प्राप्त करो। संघर्षों से भागो नहीं। यही सहज मार्ग है। संसार से भागजाना कायरता है।" इस प्रकार उन्होंने समाज की स्थिति को स्वीकार किया यद्यपि अपने समय के समाज के वर्ण व्यवस्था पर आश्रित रूप का उन्होंने विरोध भी किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि संतकाव्य के अनेक उज्ज्वल पक्ष हैं, वह केवल अध्यात्म या काव्य ही नहीं है, उसमें युग की साधना है, अपने युग की सामाजिक समस्याओं को हल करने की चेष्टा भी है।

१२वीं, १३वीं शताब्दी में वैष्णव भक्ति का रूप बहुत कुछ निश्चित हो चला था। इस भक्ति के अनेक आराध्यदेव थे। बंगाल में राधाकृष्ण और देवी की उपासना प्रचलित हो रही थी। दक्षिण में शिवभक्ति की धारा प्रचंड बल से बह रही थी। गुजरात में कृष्ण और विठोवा की भक्ति पर बल दिया जाता था। सारे उत्तर भारत में राम, कृष्ण, नारायण और शिव के भक्त अपने-अपने मतों के प्रचार में लगे थे। कबीर के समय तक आते-आते वैष्णव मतवाद की भक्ति का अंग इतना विकसित हो चुका था कि उसकी उपेक्षा असम्भव थी। सन्तों ने

अवतारवाद को ग्रहण नहीं किया। यह अवतारवाद ही वैष्णव भक्ति का मूल था। परन्तु वे वैष्णवों की भक्ति भावना से प्रभावित हुए बिना रह नहीं सके। उन्होंने वैष्णवों के रामकृष्ण को निर्गुण अर्थों में प्रयुक्त किया और उनकी भक्ति को नया रूप दिया। कबीर दाशरथि राम में ब्रह्म या विष्णु की सत्ता स्वीकार नही करते परन्तु अपने को निर्गुण राम की बहुरिया मान कर उनके प्रति उत्कट प्रेम का परिचय देते हैं--

१--निरगुण राम निरगुण राम जपहु रे भाई।
अविगति की गति लखी न जाई॥ टेक॥
चारि वेद जाके सुमृत पुराना। नौ व्याकरना मरम न जाना॥
सेसनाग जाके गरुण समाना। चरन कमल कवल नहिं जाना॥
कहै कबीर जाकै भयै नाहीं। निज जन बैठे हरि की छाँही॥
२—प्यारे राम मन ही मना।
कासूं कहूँ करुन कौं नाहीं, दूसर और जना॥ टेक॥

इस प्रकार सन्तों की निर्गुण भावना सगुण भक्तिधारा के प्रभाव के कारण पूर्णतः शुद्ध नहीं रह सकी। यही विरोधी भावनाएँ--एक ओर निर्गुण, दूसरी ओर भक्ति—आलोचकों को भ्रम में डाल देती हैं। वस्तुतः मध्ययुग की निर्गुण भावना को औपनिषदिक निर्गुण भावना की परिभाषा से ठीक-ठीक समझा नहीं जा सकता। वह निर्गुण इसी हद तक है कि उसमें अवतारवाद की प्रतिष्ठा नहीं हुई है, परन्तु सन्तों का निर्गुण ब्रह्म स्वरूप अव्यक्त होते हुए भी प्रेममय, भक्तवत्सल और करुणार्द्र है। उसे परिभाषित विशेषण से नहीं जाना जा सकता।

सन्तों की इस निर्गुण भक्ति भावना में और सूफियों के इश्क में इतना अधिक साम्य था कि दोनों एक दूसरे से प्रभावित हुए। सन्तों ने अपनी साधना में सूफियों की बहुत-सी

बातें अपना लीं। उनके काव्य में, विशेषकर परवर्ती सन्तों के काव्य में, सूफी पारिभाषिक शब्द बड़ी स्वतन्त्रता से प्रयोग में आते हैं। इससे एक तत्कालिक लाभ तो यह है कि सन्तों का सन्देश उस जनता में भी बड़ी शीघ्रता से पहुँच जाता था जो सूफियों को मानती थी। सच तो यह है कि सन्तों ने सूफियों के सिद्धान्तों को स्वीकार कर और उन्हीं की तरह प्रेम विरह-प्रधान भक्ति का प्रचार कर सूफियों का कार्यक्षेत्र छीन लिया।

इस प्रकार हम संतकाव्य के सम्बन्ध में विचित्र परिस्थिति पाते हैं। उसमें वैष्णव नैतिक सिद्धान्त मिलेंगे, वैष्णव भक्ति भावना मिलेगी, औपनैषदिक निर्गुणवाद मिलेगा, बौद्ध साधकों और नाथपंथियों के पारिभाषिक शब्द मिलेंगे और सूफी साधकों की साधना भी दिखलाई देगी। साथ ही संतों का आत्मानुभव रहस्यवादी उक्तियों के रूप में मिलेगा। इनके अतिरिक्त मुसलमान ऐकेश्वरवादी पैगम्बर-धर्म का मूर्ति खंडन और ऐकेश्वरवाद और हिन्दू-मुस्लिम भिन्न संस्कृतियों के संघर्ष के कारण जो विषम परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गईं थीं, उनका प्रभाव सच तो यह है कि सन्तकाव्य अपने समय का पूरा प्रतिनिधित्व करता है। उसमें बहुत कुछ पुराना है परन्तु उस पुराने को नये रूप में उपस्थिति किया गया है। निःसंदेह नया भी कम नहीं है।

२४. रामभक्ति काव्य और तुलसीदास

(१) रामभक्तिकाव्य में नैतिकता की परम्परा और हिन्दू गृहस्थ जीवन (२) उसकी पौराणिकता (३) रामभक्तिकाव्य में तुलसी के रामचरितमानस का स्थान (४) तुलसी के ग्रन्थ की विशेषता—अनेक दार्शनिक और धार्मिक मान्यताओं का समन्वय, भक्तिरस निरूपण, मर्यादा भाव की वैयक्तिक और सामाजिक संस्थापना (५) तुलसी के मानस में रामभक्ति का रूप (६) उपसंहार।

रामभक्ति काव्य वैष्णव काव्य का एक अत्यंत महत्वपूर्ण अंग है। इसके प्रधान कवि गोस्वामी तुलसीदास हैं।

रामभक्ति काव्य कई बातों में वैष्णव काव्य की दूसरी प्रधान शाखा कृष्णकाव्य से भिन्न है। कृष्णकाव्य में राधाकृष्ण को लेकर ऐसे एकांतिक प्रेम का चित्रण किया गया है जो नैतिक आदर्श एवं समाज और संयम की नितांत अवहेलना करता है, कृष्ण कविभक्त समाज 'को पीछे छोड़कर भावभूमि की ओर बढ़े हैं। रामभक्तिकाव्य में यह बात नहीं है, उसमें नैतिक आदर्शों को उच्चतम स्थान दिया गया है, समाज की कल्याण भावना को कवि सदैव अपने सामने रखता है। उसमें मर्यादा भाव की प्रधानता है। एक प्रकार से उसकी दृष्टि हिन्दू संस्कृति के अभ्युत्थान की ओर है। यहीं तक नहीं, कवि का दृष्टिकोण बहुत कुछ अतिनैतिक हो गया है जो आज के युग को अखर भी सकता है। परन्तु इसी सामाजिक कल्याण और संयम की भावना ने रामकाव्य में हिन्दू गृहस्थ जीवन और दाम्पत्य प्रेम के अन्यतम चित्र उपस्थित किये हैं। सारे हिन्दी साहित्य में प्रेम का ऐसा सुन्दर संयमित और दाम्पत्य भावमूलक चित्रण और कहीं नहीं है जैसा तुलसी के रामचरितमानस में है।

दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार इस युग का सारा काव्य पौराणिक कथाओं का आश्रय लेता है उसी प्रकार रामकाव्य भी। वह अत्यन्त बड़ी शृङ्खलाओं द्वारा संस्कृत महाकाव्यों और पुराणों से जुड़ा हुआ है। कृष्णकाव्य संस्कृत आधार पर इतना आश्रित नही है जितना रामकाव्य। तुलसी के काव्य को संस्कृत के अनेक रामकथा काव्यों ने पुष्ट किया है। उसमें पौराणिकता का एक विशिष्ट अंग उपस्थित है। सूरदास के सूर सागर के पदों का संकलन भले ही श्रीमद्भागवत की कथा को सामने

रखकर किया गया है इसमें कोई सन्देह नहीं कि उन पदों की रचना के पीछे श्रीमद्भागवत की प्रेरणा ही भर है; न उसकी कथावस्तु से सहारा लिया गया है, न वह भागवत का अनुवाद ही है। यह सच है कि सम्पूर्ण भागवत अथवा उसके कुछ भागों के अनुवाद भी कृष्णकाव्य के अंग हैं परंतु यहाँ हम उन्हीं रचनाओं की बात कर रहे हैं। जिन्होंने कृष्णकाव्य को उसका विशेष व्यक्तित्व प्रदान किया है। जो हो, कृष्णकाव्य रामकाव्य से अधिक मौलिक है। उसका आधार मध्ययुग के सम्प्रदायों की पूजा-पद्धति और धर्म भावना में हैं, पुराण कालीन धम भावना में नहीं।

हिन्दी के रामकाव्य का सर्वप्रथम कवि कौन है, यह निश्चित नहीं है। हमें दो कवियों के दो ग्रंथ प्राप्त हैं जो रामचरितमानस से पहले रचे गये हैं परंतु रामकाव्य का ठीक-ठीक स्वरूप तुलसी के रामचरितमानस में ही स्थिर हो सका है।

मानस मध्ययुग का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है। वह एक ही साथ बहुत कुछ है—धर्मग्रंथ, महाकाव्य, चरित्रकाव्य, व्यवस्थाग्रंथ (शास्त्र) भक्तिकाव्य, दर्शनकाव्य। वह गीत पाठ के लिये है यह तुलसी की इन पंक्तियों से ही स्पष्ट है—

> रघुवंसभूषन चरित यह नर कहहि सुनहिं जे गावहीं।
> कलिमल मनोमल धोइ बिनुश्रम रामधाम सिधावहीं॥

इसी से उसका निर्माण प्रचलित पुराण-पद्धति पर हुआ है। इस पद्धति में कथा की रचना संवाद-रूप में होती है। रामकथा जहाँ-जहाँ पौराणिक रूप में मिली है, वहीं-वहीं संवाद-रूप में ही हमारे सामने आई है। इसीलिए तुलसी ने भी यही रूप ग्रहण किया है।

तुलसी के ग्रंथ की विशेषता यह है कि वह किसी विशेष सम्प्रदाय के भीतर से नहीं आया है। इसी कारण उसमें किसी विशेष दार्शनिक अथवा धार्मिक सम्प्रदाय के मत का पोषण नहीं किया गया है। अनेक स्थानों पर कवि ने आश्चर्यजनक समन्वय-बुद्धि का परिचय दिया है। इन्हीं कारणों से उसका ग्रन्थ सभी सम्प्रदायों को मान्य रहा। प्रत्येक सम्प्रदाय मानस को अपने ढंग पर अपनाता और अपने मत को उस पर आरोप करता रहा है। इतना होने पर भी यह आश्चर्य की बात है कि मानस के प्रधान अर्थ में किसी प्रकार की विकृति नहीं हुई है।

यह प्रधान अर्थ क्या है? मानस का तात्पर्य है भक्तिरस निरूपण। मानस में कथा प्रसङ्ग के अंतर्गत जितने भी रस आये हैं उन सबका उपसंहार भक्तिरस में हुआ है। सारा ग्रन्थ राम की ब्रह्म भावना से भरा हुआ है। राम ब्रह्म हैं। सीता शक्ति हैं। उनका लौकिक जीवन लीला मात्र है। संसार माया है। माया राम की दासी है, उन्हीं के इङ्गित से वह मनुष्य को नचाती हैं। मनुष्य मायाजन्य भ्रम के कारण ही परिस्थितियों पर सुख-दुख का आरोप करता है। सच्ची वस्तु स्थिति को वह समझता नहीं। माया का नाश भगवान राम की कृपा से ही हो सकता है। राम की कृपा का एक मात्र साधन भक्ति है। यह तुलसी का मौलिक मत है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसी के मानस की आधार भूमि भक्ति है। उसे दर्शन से पुष्ट किया गया है। उस पर संवादों की दीवारें उठाकर कथावस्तु से राम सीता मन्दिर की स्थापना की गई है। छन्द, रस, अलंकार, संवाद, वर्णन, स्तुतियों और गीताओं का उपयोग इस विशाल मन्दिर की सामग्री के रूप में हुआ है। इसमें अंतकथाओं और कथा संकेतों के झरोखे लगे

हैं। काव्य की सुन्दर मीनाकारी से यह मन्दिर विभूषित है। प्रारम्भिक विनय चौपाइयों से पाठक भीतर प्रवेश करता है और शिव-पार्वती विवाह, नारदमोह, भानुप्रताप और स्वयंभू शत-रूपा की कथाओं की ड्योढ़ियों को पार करता हुआ रामकथा के मुख्य मूर्तिभवन में प्रवेश करता है। यहाँ उसे भगवान राम, भगवती सीता और पार्श्ववद्-स्वरूप लक्ष्मण-हनुमान की झांकी मिलती है और राम ही के समान प्रभावशाली एक तापसमूर्ति सामने आती ह। यह भरत हैं। आदर्श चरित्रों से मण्डित तुलसी की रामकथा ने जनता के लिए एक साथ प्रार्थना-भवन और शिक्षागृह का निर्माण कर दिया है।

उच्च से उच्च कल्पना के 'दर्शन करना हो तो तुलसीदास की उत्प्रेक्षायें देखिये और उनकी काव्य-प्रतिभा को देखना हो तो उनके रूपकों का निर्वाह देखिये। सीता के रूप की संयत, स्वच्छ और पुण्यमय कल्पना—

जौ पटतरिय तीय सम सीया।
जग असि जुवति कहाँ कमनीया॥
गिरा मुखर तन अरध भवानी।
रति अति दुखित अतनुपति जानी।
विष बारुनी बन्धु प्रिय जेही।
कहिअ रमा सम किमि वैदेही॥
जौ छबि-सुधा पयोनिधि होई।
परम रूप मय कच्छपु सोई॥
सोभा रजु मंदरु सिंगारू।
मथै पानि पंकज निज मारू॥

एहि विधि उपजै लच्छि जब सुन्दरता सुख मूल।
तदपि सकोच समेत कवि कहहिं सीय सम तूल॥

कवि-कल्पना की सर्वोच्च उड़ान है। इसके पश्चात् यदि तुलसी के आदर्शवाद को देखना है तो रथरूपक देखिये, उनकी भक्ति को देखना है तो सारा अयोध्याकांड उत्तरार्ध उपस्थित है। मनोविज्ञान और हिन्दू गृहस्थ-जीवन के चित्रण अयोध्याकांड के पूर्वार्ध में मिलेंगे और दार्शनिक विवेचन से तो उत्तरकांड भरा पड़ा है।

हिन्दी साहित्य में तुलसी ही ऐसे कवि हैं जिन्होंने अपने समय की दो प्रमुख काव्य भाषाओं का अत्यन्त उत्कृष्ट प्रयोग किया है, अपने समय की सभी प्रचलित शैलियों में रचना की है, अनेक छन्दों पर सरलता से लेखनी चलाई है और उनमें से प्रत्येक में रस, अलंकार और ध्वनि भरने में सफल हुए हैं। उनके रामभक्ति साहित्य में लोक और परलोक काव्य और धर्म, मृत्यु और अमृत की सीमाएँ आ मिली है।

२५. विनय पत्रिका

(१) विनयपत्रिका के अनेक महत्त्व (२) तीन साहित्यिक शैलियों का प्रयोग (३) विनयपत्रिका और तुलसी की दैन्यपूर्ण भक्ति : एक विश्लेषण (४) तुलसी की निरंतर विकसित भक्ति भावना के अध्ययन में ग्रंथ की उपयोगिता (५) विनयपत्रिका में तुलसी के भक्ति सम्बन्धी सिद्धांत (६) विनयपत्रिका में जीवन-निर्माण का उन्नत और उच्च आदर्श सन्निहित है।

विनयपत्रिका गोस्वामी तुलसीदास की अन्तिम और प्रौढ़तम रचना है। उसकी समाप्ति तक तुलसीदास जीवन के अंतिम छोर तक पहुँच गये हैं।

विनयपत्रिका का महत्त्व कई प्रकार से है। एक, वह कवि की प्रौढ़तम रचना है। उसकी शैली कवितावली के कुछ छन्दों

को छोड़ कर तुलसी के सभी ग्रंथों की शैली से अधिक पुष्ट हैं। भाव-व्यंजना में इतनी तीव्रता है कि कवि को एक से अधिक भाषाओं का सहारा लेना पड़ता है। दो, यह ग्रंथ हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ गीतिकाव्य की कोटि में रखा जा सकता है। विनय-भावना के इतने सुन्दर पद तो सूर साहित्य में भी नहीं मिलेंगे। तन्मयता, आत्मविस्मृति, भावसंगठन और गीतात्मकता गीति-काव्य के प्रधान गुण हैं और तुलसी के इस ग्रंथ में ये सब गुण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। तीन, तुलसी की भक्ति के समझने के लिये इस ग्रंथ की प्रत्येक पंक्ति महत्त्वपूर्ण है। चार, तुलसी के आध्यात्मिक विचारों के अध्ययन के लिये यह ग्रंथ एक प्रकार से नई सामग्री उपस्थित करता है। यह आवश्यक है कि इस सामग्री को रामचरितमानस की सामग्री के साथ रखा जाय। इसी सामग्री के आधार पर तुलसी के जीवन-निर्माण-सम्बन्धी सिद्धांत बनाये जा सकते हैं। पांच, कुछ सामग्री कवि के लौकिक जीवन से सम्बन्ध रखती है, यद्यपि इसमें अधिकांश से वृद्ध कवि के अन्तर्जगत का चित्र है।

विनयपत्रिका में तीन शैलियों का प्रयोग हुआ है—स्तोत्र शैली, पद शैली, कवित्त आदि छंद शैली। तुलसी के स्तोत्र साहित्य दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। उनमें कवि भक्ति ने संस्कृत स्तोत्रों का अनुकरण किया। इनमें के अधिकांश संस्कृत गर्भित हैं और साधारण हिन्दी पाठक के लिये क्लिष्ट हैं। इनमें अनेक देवी-देवताओं की लीलाओं का क्रमबद्ध वर्णन किया गया है और एक ही प्रकार की बात की बार-बार पुनरा-वृत्ति हुई है। इन स्तोत्रों से तुलसी की भक्तिभावना-सम्बन्धी एक बात पर विशेष प्रकाश पड़ता है। तुलसी ने अनेक देवी-देव-ताओं की प्रार्थना की है परन्तु उनकी भक्ति अनन्य कोटि की

है; सब देवता राम के निमित्त ही उपास्य हैं, तुलसी के लिये उनका स्वतन्त्र रूप से कोई उपयोग नहीं।

विनयपत्रिका के पदों से तुलसीदास की दैन्यपूर्ण-भक्ति पर विशेष प्रकाश पड़ता है। विनय भक्ति के से अंग माने गये हैं— (क) प्रपत्ति अथवा अनुकूल होने का संकल्प (दास्य भाव), (ख) प्रतिकूलस्यवर्जनम् (देवैच्छा के प्रतिकूल कुछ न करूँगा—ऐसा भाव), (ग) रक्षिष्यतीति विश्वासो (भगवान की रक्षा में विश्वास) (घ) गोप्तत्वा वर्णनम् (भगवान् को मुक्तिदाता और भक्त-वत्सल जानना), (ङ) आत्मनिक्षेप (समर्पणभाव), (च) कार्पण्य, (भगवान के प्रति दीनता का भाव)। विनय-पत्रिका के अनेक पद इनके उदाहरण-स्वरूप उपस्थित किये जा सकते हैं। सच तो यह है कि विनय के पदों में वैष्णव सम्प्रदाय के विनय-सन्बन्धी सिद्धान्तों का पूरा-पूरा परिचय मिलता है। वैष्णव सम्प्रदाय के अनुसार विनय की सात प्रकार की भूमिकायें होती हैं— १—दीनता, २—मान-मर्षता, ३—भयदर्शन, ४—भर्त्सना, ५—आश्वासन, ६—मनोराज्य, ७—विचारण। इन सात भूमिकाओं के अभाव में विनय अपूर्ण समझी जाती है। तुलसी के विनय के पदों में ये सातों प्रकार की भूमिकायें भी मिलती हैं। अतः साम्प्रदायिक सिद्धान्तों की दृष्टि से भी तुलसी के विनयपद उत्कृष्ट हैं।

अतः तुलसीदास के आध्यात्मिक विचारों का अध्ययन करने के लिये विनयपत्रिका बहुत महत्त्वपूर्ण है, कदाचित् रामचरित-मानस से भी अधिक। उससे तुलसीदास की वृद्धावस्था की भक्तिभावना पर प्रकाश पड़ता है और यह स्पष्ट हो जाता है कि रामचरितमानस की रचना के बाद भी तुलसी के आध्यात्मिक विचारों में बराबर विकास होता गया और विनयपत्रिका में हम

उनके पूर्ण विकसित-रूप के दर्शन होते हैं। रामचरितमानस की भक्ति ज्ञान और कर्म को साथ लेकर चलती है। उसे हम ज्ञान-कर्म-समन्वित भक्ति कह सकते हैं। विनयपत्रिका की भक्ति अनन्य भक्ति है। वह न किसी दूसरे देवता का आश्रय लेती है न किसी दूसरी उपासना पद्धति का। ज्ञान और कर्म पीछे छूट जाते हैं। तुलसी उनकी ओर मुड़ कर भी नहीं देखते। उनके लिये केवल भक्ति ही एक साधना है, जिससे वे अपने उपास्य के निकट पहुँचते हैं। यही नहीं, भक्ति उनके लिये केवल साधन नहीं, साध्य भी है। तुलसीदास प्रत्येक देवता से राम-भक्ति की याचना करते हैं। स्वयम् राम से भी वे यही याचना करते हैं कि रामचरणरति प्राप्त हो। उनका कहना है--और काहि माँगिये। इस अन्तिम समय में तुलसी ने और नाते छोड़ कर केवल राम से नाता जोड़ रखा है। उनका और उनके उपास्यदेव का सम्बन्ध इस पद में पूर्णतः स्पष्ट है--

तू दयालु, दीन हौं तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुञ्ज हारी॥
नाथ तू अनाथ को अनाथ कौन मोसों?
मो समान आरत नहिं आरतिहर तोसों॥
ब्रह्म तू, हौं जीव, तुम्हीं ठाकुर हौं चेरो।
तात, मात, गुरु, सखा तू सब विधि हितु मेरो॥

इस रामभक्ति को प्राप्त करने के साधनों के विषय में भी तुलसी को कुछ कहना है। पहला साधन है। राम के शील स्वभाव का मनन—

सुनि सीता पति सील सुभाउ
मोद न मन, तन पुलक, नयन जल सो नर खेहर खाउ

दूसरा साधन है नामस्मरण—

मति राम नाम ही सों, रति राम नाम ही सों,
गति राम नाम नाम हीं कीं विपति हरनि
राम नाम सों प्रतीत प्रीति राखे कबहुँक
तुलसी ढरैंगे राम अपनी ढरनि

तीसरा साधन आत्म निवेदन--

बलि जाउँ हौं राम गोसाईं।
कीजे कृपा आपनी नाईं॥

चौथा साधन है सत्संग--

सेवत साधु द्वैत-भय भागे।
श्री रघुवीर चरन लय लागे॥

इसी के अंतर्गत आ जाता है असाधु से असहयोग--

जाके प्रिय न राम बैदेही
सो छाँड़िए कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही

पाँचवाँ और कदाचित् सबसे महत्त्वपूर्ण साधन है हरि कृपा। हरि कृपा के बिना अन्य साधन भी नहीं सधते। उसके बिना सत्संग की प्राप्ति तो असम्भव ही है। यह कृपा तभी मिल सकती है जब राम करुणा से द्रवित हों, परन्तु राम को द्रवित करना कुछ कठिन बात नहीं है। भक्त पर कृपा करना तो राम की बानि ही है, उन्हें पता चल जाय कि उनसे प्रेम कर रहा है। परन्तु आवश्यकता यह है कि मनुष्य पहले राम की शरणागति में जाये। फिर हरिकृपा उसे अनायास ही प्राप्त होगी और उसके लिये हरिभक्त के साधन भी इकट्ठे हो जायँगे।

परंतु हरिभक्ति की आवश्यकता क्या है। इसकी आवश्यकता है इसलिये कि मनुष्य शांति चाहता है। शांति मन का विषय

है। मन को शुद्ध और संयत करने से शांति प्राप्त होती है परन्तु मन को शुद्ध और संयत रखना सरल नहीं है। इसके लिये अनेक साधन कहे गये हैं परन्तु इस कलियुग में सब व्यर्थ हैं। इसीलिये आवश्यकता है कि मन किसी एक वस्तु की ओर उन्मुख किया जाय। राम के चरणों में अनुरक्ति होने से सारे दुख दैन्य दूर हो जाते हैं और अब शुद्ध और एकनिष्ठ होकर शांति को प्राप्त करता है। मन की अशांति का कारण क्या है, इस पर तुलसीदास ने विचार किया है। यह है संसार की द्विविध सत्ता। यह संसार रमणीय दिखलाई पड़ता है परन्तु परिणाम में भयंकर है परन्तु वास्तव में यह संसार न रमणीय है, न भयंकर। यह संसार हमें भयानक लगता है इसका कारण ही भ्रम और अविवेक है। इस अविवेक और भ्रम को दूर करने के लिये क्या किया जाये? इस अविवेक और भ्रम के दूर होने पर संसार की भयंकरता भी नष्ट हो जाती है। परन्तु यह भ्रम हरिकृपा के बिना नहीं छूटता। इस प्रकार भी हरिकृपा वाञ्छनीय है।

तुलसी की विनयपत्रिका प्रतिपादित भक्ति संसार को छोड़ कर चलती हो; यह बात नहीं। उसमें जीवन-निर्माण का एक अत्यंत उन्नत और उच्च-आदर्श सन्निहित है। उसकी नींव नैतिकता में है। सन्तोष, परहित चिंतन, मृदुसंलाप, रागद्वेष-हीनता, मान-हीनता, शीतलता, सुखदुख में समबुद्धि—ये कुछ ऐसे गुण हैं जो प्रत्येक व्यक्ति के लिये उपादेय हैं, भले ही वह रामभक्ति में विश्वास करे या नहीं। तुलसी ने अपने जीवन का आदर्श यही नैतिक जीवन रखा है।

२६. सूरदास

(१) हिन्दी साहित्य में सूरदास का स्थान (२) सूरदास की रच-

नाएँ,(३) सूरसागर का एक विश्लेषण (४) सूरसागर के दशम स्कंध में सूर की मौलिकता (५) सूरदास की महानता के कुछ कारण—स्वतंत्र उद्भावना, पांडित्य, रसज्ञता, उच्चकोटि की आध्यात्मिकता (६) सूरसागर में कृष्ण कथा, मौलिक लीलाओं, रूपकों, भक्तिपूर्ण भावनाओं और शुद्धाद्वैती धारणाओं की विचित्र संघटन (७) उपसंहार।

हिन्दी काव्य साहित्य में सूरदास का स्थान बहुत ऊँचा है। "सूरसूर तुलसी ससी" वाली उक्ति प्रसिद्ध ही है। सम्भव है सूर और तुलसी की तुलना में हम किसी निश्चित सिद्धांत पर नहीं पहुंच सके या जैसा पं० रामचन्द्र शुक्ल प्रभृति विद्वानों का मत है, तुलसीदास सूरदास से बढ़-चढ़ कर हैं, परन्तु अन्य कोई कवि उनके समक्ष नहीं ठहरता, इसमें कोई मतभेद नहीं है।

सूरदास पुष्टिमार्गीय भक्त वैष्णव थे। वह सीधे पुष्टिमार्ग के प्रवर्तक श्री वल्लभाचार्य के शिष्य थे। अतः यह स्पष्ट है कि यह भक्त कवि थे। पुष्टिमाग में लीला-गान को महत् स्थान मिला था। श्री आचार्य ने स्वयं लिखा है—"लीलावत्तु कैवल्यम्"। लीला मोक्ष है। इसी से सूरदास ने आयु भर पुष्टिमार्ग के आराध्य श्री कृष्ण की लीला का गान किया। उनका सूरसागर यही लीलागान है। सूरसागर के अतिरिक सूर के दो प्रकाशित ग्रंथ है सूरसारावली और साहित्य लहरी। पहला ग्रंथ सूरसागर की सूची कहा जाता है, परन्तु सूरसागर में और इस ग्रंथ में अधिक सम्बंध नहीं है। यह एक स्वतन्त्र रचना है, और सम्भव है, जाँच होने पर सूर की रचना सिद्ध न हो। साहित्य लहरी में सूरसागर के ही उन कूटपदों का संग्रह है जो अनेक प्रसङ्गों के समय सूरसागर में विखरे पड़े हैं। आकार-प्रकार और काव्योत्कृष्ठता की दृष्टि से सूरदास की महानता सूरसागर से ही आँकी जायगी। अन्य ग्रंथ विशेष सहायक नहीं होंगे।

जिस रूप में सूरसागर उपलब्ध है, उसमें कथा श्रीमद्भागवत के अनुसार स्कंधों में बंधी हुई है। पहले नौ स्कंधों और अंतिम दो स्कंधों में लगभग वही क्रम है जो भागवत में है। यह अवश्य है कि भागवत की जितनी ही कथायें इनमें नहीं है और जो हैं भी वह बहुत ही संक्षेप में, कभी-कभी बदले हुए रूप में, मिलेंगी। इनमें नवमस्कन्ध की राम-कथा को छोड़ कर और कहीं भी उच्चकोटि के काव्य के दर्शन कभी नहीं होते। नवमस्कन्ध की रामकथा पदों में, शेष पहले स्कन्ध के कुछ सुन्दर पदों को छोड़ कर अधिक कथायें वर्णनात्मक चौपाई या चौपाई छंद में लिखी गई हैं। वास्तव में चौपाई छंद में सूर की प्रतिभा का दशमांश भी दिखलाई नहीं पड़ता। प्रश्न यह होता है कि फिर उन्हें उस सब कथाओं लिखने की आवश्यकता ही क्या थी। उत्तर हो सकता है कि पुष्टिमार्ग में श्रीमद्भागवत की मान्यता ही इसका कारण है। या तो स्वयम् सूर ने भागवत के ढाँचे पर रचना करने की बात सोची होगी या जब वे सूरसागर दशमस्कंध की कथाएँ लिख चुके तो स्वयं अपनी प्रेरणा से अथवा साथियों की इच्छा से उन्होंने भागवत के सभी स्कंधों का सार भाषा में लिख कर अपनी कथा में जोड़ दिया। परन्तु समस्या तब और भी गंभीर हो जाती है जब हम यह देखते हैं कि सूरसागर दशमस्कंध पूर्वार्द्ध में भी वर्णनात्मक छंद चल रहा है और उसके कारण उन कथाओं की पुनरुक्ति हो रही है जो अत्यन्त ऊँचे काव्य गुणों के साथ पदों में कह दी हैं। सम्भव है सूरदास ने पदों की रचना से पहले वर्णनात्मक छंद में सारे भागवत की कथा कही हो और इस प्रकार जो कथा बनी उसी में कभी बाद को उन्होंने ही या किसी दूसरे ने स्थान-स्थान विषय के अनुसार पद

भी जोड़ दिये और इस तरह सूरसागर का प्रस्तुत रूप उपस्थित हुआ। यह महत्त्वपूर्ण बात है कि सूर ने खंडिता, फाग, मान आदि जो नये प्रसंग गढ़े हैं, वे केवल पदों में, वर्णनात्मक छंदों में नहीं है।

वस्तुतः सूरसागर का मुख्य और महत्वपूर्ण भाग दशमस्कंध-पूर्वार्द्ध के पद हैं। इन्हें हम कई समूहों में इकट्ठा कर सकते हैं। पहले तो वे पद हैं जिनका सम्बन्ध कृष्ण की अलौकिक एवं असुरबध लीलाओं से हैं। पदों में विशेष प्रतिभा के दर्शन नहीं होते परन्तु कालियदमन और इन्द्रगर्वहरण-सी कुछ लीलाओं के विषय में हम यह नहीं कह सकते। उनमें हमें अत्युच्च कवि प्रतिभा के दर्शन होते हैं। साधारण आलोचक यही कहता है कि इन स्थलों में सूर ने भागवत के अनुवाद के रूप में अरुचि-पूर्वक लिख कर दिया, परन्तु अध्ययन करने से यह पता लगेगा कि सूर की इन कथाओं और भागवत की कथाओं में अनेक भेद हैं। ये भेद क्यों हैं, इसका कारण सिवा इसके और कुछ नहीं हो सकता कि सूर मौलिक होना चाहते थे। कहीं तो इस प्रकार की मौलिकता से कृष्ण-चरित्र में मानवीयता का अधिक समावेश हो गया है, परंतु अधिकांश स्थलों पर मौलिकता की कोई आवश्यकता नहीं थी। शेष पदों में कृष्ण लौकिक चरित्र का ही विकास हुआ है। बाल्य और किशोर जीवन सम्बन्धी पदों में सूरदास भागवत के लगभग बिलकुल भी ऋणी नहीं हैं। कृष्ण का बाल चरित्र और नन्द-यशोदा का वात्सल्य सूर का प्रकृतक्षेत्र है और यहाँ वे अद्वितीय हैं। किशोर कृष्ण की प्रेम-लीलाओं के सम्बन्ध में कुछ प्रसंग भागवत से लिये गये जैसे चीर-हरण परन्तु उन्हें सूरदास ने अपने ढंग पर बदल कर अपना लिया है, कुछ अन्य लीला प्रसंग सूर ने आप ही गढ़

लिये हैं जैसे दानलीला, मान, खंडिता, हिंडोला, फाग। राधा की सारी कथा ही सूर की उपज है। राधाकृष्ण के प्रथम परिचय से लेकर वियोगिनि राधा और राधाकृष्ण के मिलन की कथा तक सूर ने विस्तृतरूप से कही है। भागवत् में राधा का नाम भी नहीं है। इसी से सूर की मौलिकता पर प्रकाश पड़ जायगा। पदों का एक मौलिक समूह ऐसा भी निकल आयेगा जो शृङ्गार-शास्त्र की पद्धति पर खड़ा किया गया है—भ्रमरगीत प्रसंग। भागवत के भ्रमरगीत और सूर के भ्रमरगीत में आकाश-पाताल का अन्तर है। शृंगार-शास्त्र को ध्यान में रखते हुए ही सूरदास ने वंशी के उद्दीपन विभाव, राधाकृष्ण के पाती आदि प्रसङ्गों पर विस्तार-पूर्वक बहुत कुछ लिखा है। रूप-सौन्दर्य, उद्धव, दूसरे समूह में वाग्वैदग्ध्य की ओर ध्यान है जैसे कूट पद, नेत्रों और मुरली के प्रति कहे पद। भागवत में इन सबका अभाव है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूर के काव्य का महत्त्वपूर्ण अंश लगभग शतशः मौलिक हैं। वास्तव में मौलिकता के लिये इतना अधिक आग्रह हिन्दी के किसी कवि में नहीं मिलेगा। वल्लभाचार्य ने लीलागान को महत्त्व दिया था और, जैसी जनश्रुति है, उन्हीं के कहने पर सूरदास ने "भगवतलीला" गाई परन्तु यदि ध्यान से देखा जाय तो वह अक्षरशः लीलागान नहीं कर रहे हैं। राधा कृष्ण के प्रेम-प्रसंग को हम भले ही लीलागान के रूप में स्वीकार कर लें, परन्तु दानलीला, मान, खंडिता और हिडोला आदि में लीला से अधिक भी कुछ है। यह अधिक कुछ रूपक है। भागवतकार ने जिस उद्देश्य से "रास" के रूपक की रचना की थी, उसी उद्देश्य से सूरदास ने कई नये रूपक लिखे। दानलीला में कृष्ण गोपियों से सब अंगों का दान माँगते

हैं। भ्रमरगीत, नेत्रों और मुरली के पदों एवम् गोपी विरह वर्णन में वे धर्मभावना या लीलागान से अधिक साहित्यिक पद्धति और परम्परा से प्रभावित हैं। परन्तु सूर की महानता इसी में है कि उन्होंने विद्यापति के भाँति शृंगार-शास्त्र या रीति-शास्त्र को सब कुछ नहीं मान लिया, उससे धर्म-भावना की पुष्टि के लिए या कथासूत्र जोड़ने के लिए सहारा भर लिया। उदाहरण के लिए, नायिकाभेद, अभिसार, परकीया जैसे विषय सूरसागर में नहीं हैं। मान और खंडिता के प्रसंग भी आध्यात्मिक रूपक की सृष्टि के लिए अवतीर्ण हुए हैं। सूरदास की मौलिकता ने उन्हें रूढ़ होने से बचाया; उसी के कारण वे महान् हैं। उनके काव्य में काव्य-शास्त्र का प्रयोग भक्तिकाव्य की सृष्टि के लिए हुआ है लौकिक काव्य के लिए नहीं। यह अनुताप का विषय है कि सूरदास के लिए क्या गौण है, क्या प्रधान, यह न समझ कर आलोचकों ने उन्हें शृंगारिक कवि दिखलाने का प्रयत्न किया है। सूरसागर में राधाकृष्ण के सम्भोग, रति-विलास विपरीत और सुरतांत के जो चित्र हैं, ब्रह्मवैवर्त्त पुराण और गीति गोविन्दम् के प्रभाव को सूचित करते हैं और उनसे जीवात्मा-परमात्मा के मिलन के रूपक निर्माण करने की चेष्टा है। इन्हीं आध्यात्मिक भावनाओं के कारण सूरदास की गोपियाँ अविकसित ही रह गई हैं। शृंगार की परम्परा की दृष्टि से उनमें राधा के प्रति ईर्ष्या और असूया के भाव होना चाहिये, सूर के काव्य में वे राधा की सुरतांत छवि पर मोहित हैं।

यह नहीं समझना चाहिये कि ये मौलिक समूह एकदम अलग-अलग रखे जा सकते हैं। सच बात यह है कि प्रधान प्रसगों में चरित्र-चित्रण अथवा कथा के विकास के सूत्र इस तरह पिरो दिये गए हैं कि केवल कुछ भागों को (जैसे नेत्रों, मुरली,

मधुकर के प्रति कहे पद) छोड़कर हम शेष सब पदों को एक साथ पढ़कर ही आनन्द बनाए रख सकते हैं। इस तरह प्रबन्धात्मकता और गीतात्मकता का एक अत्यन्त सुन्दर सम्मिश्रण सूरसागर में बन पड़ा है। यहीं सूर ने बालक के रूप में शृङ्गार का आरोपण करके और गोपियों तथा बाद को राधा से प्रेम-प्रसंग चलाकर बाल्य-जीवन के पदों को भी शृङ्गार-प्रधान भाग से जोड़ दिया है। रूपक आते हैं, जहाँ भाव की गहराई है वहाँ एक ही विषय पर अनेक पद आते हैं, कवि की भक्ति भावना का प्रकाशन भी स्थान-स्थान पर मिलता रहता है और कथा का धारा भी अविच्छिन्न रूप से आगे बढ़ती है, यह सूर का चमत्कार है। वास्तव में हिन्दी संसार में एक भ्रांतिपूर्ण धारणा यह फैली हुई है कि सूर ने पदों में कोई क्रम नहीं रखा, एक लीला को अनेक बार कहा, एक प्रसङ्ग को अनेक बार गाया, परन्तु बात ऐसी नहीं। कदाचित् एक कारण यह है कि सूर को अंधा माना गया है। भला अंधा गायक कोइ क्रम बाँधकर गाता है। दूसरा कारण यह है धारणा कि सारे पद श्रीनाथ जी के मंदिर में गाने के अवसर पर ही बने। ऐसे पद बाल्य-लीला तक ही सीमित हैं। जो आलोचक यह समझते हैं कि बसन्त, हिंडोला, फाग आदि के उत्सवों पर बने पद सूरसागर में होंगे, वे भ्रम में हैं। सूरसागर के पदों में एकता सूत्रता है। सूर ने सारे सागर को एक विशेष दृष्टिकोण को सामने रखकर कहा है। उसमें फुटकर रूप में लिखे हुए पद अवश्य स्थान स्थान पर हैं, परन्तु इनका कथा से कोई सम्बन्ध नहीं और इनकी संख्या भी अधिक नहीं। यह कहना भी भ्रम है कि सारा सूरसागर तानपूरे के तारों पर बना है। वर्णनात्मक छंदों के विषय में क्या कहा जायगा ? कई बड़े-बड़े पृष्ठों तक चलती हुई कथा की इतिवृत्तात्मक धारा तानपूरे पर नहीं निकल सकती।

जो हो, सूरदास की प्रतिभा इतनी विचित्र है कि उसे कहीं एक स्थान पर पकड़ा नहीं जा सकता।

२७. सूर की विनयभावना

(१) सूर की विनयभावना का आधार (२) आलंबन के गुण (३) विनय की भूमिका—माया और तृष्णा के परिहार की प्रार्थना (४) आत्म-प्रवंचना आत्म-शुद्धि और आत्म-प्रबोध के रूपमें भक्त का प्रयत्न (५) भक्त की तीन साधनाएँ—नाम स्मरण, भगवद् कथा गान, भगवद्-स्वरूप चिंतन (६) आत्म-समर्पण और तज्जन्य गर्व (७) तुलसी सूर की विनय भावनाओं का भेद (८) सूरसागर में विनय के पदों का स्थान।

विनय के लिए सर्वप्रथम एक ऐसे आधार की आवश्यकता है जिसके प्रति विनय की जाय। सूर ने आरम्भ में ही इस विषय में अपना मत निश्चित किया है। उनकी विनय का आलंबन निर्गुण का सगुण अवतार है। "अविगति" निर्गुण के प्रति इस प्रकार की भावना रहस्यमूलक, अस्पष्ट और भ्रामक हो सकती है, अतः सूरदास ने अपना आधार सगुण माना—

अविगत गति कछु कहत न आवै
ज्यों गूँगे मीठे फ़ल कौ रस अन्तरगत ही भावै
परम स्वाद सबही सुनिरंतर अमित तोष उपजावै
मन पानी कौं अगम अगोचर सो जाने जो पावै
रूप रेख गुन जाति जुगवि बिनु निरालम्ब कित धावै
सब विधि अगम बिचारहिं तात सूर सगुन लीला पद गावै

अब प्रश्न है यह "सगुण" रूप कौन-सा है जिसके प्रति सूर की विनयभावना परिचालित है। वह है "वासुदेव" "जदुनाथ गुसाई।" परन्तु सूरदास यह जानते हैं कि सगुण

रूप कितने ही हैं यद्यपि सब एक ही हैं। निर्गुण के सगुणरूप अवतार लेने के दो कारण हैं :

१—ब्रह्म की लीला।

२—भक्तों को आनन्द देना या भक्त का दुःख से त्राण करना।

इस प्रकार भक्ति के आलम्बन के निश्चित हो जाने पर सूरदास अपनी विनय आरम्भ करते हैं।

पहले वे भगवान के स्वभाव का वर्णन करते हैं क्योंकि भक्त को उसी स्वभाव का आश्रय लेना है। यह स्वभाव ही उन्हें विशेष कर्म की ओर प्रेरित करता है। न भगवान की "करनी" की गति जानी जा सकती है, न उनके स्वभाव की। इस स्वभाव के अंग हैं—

(१) भक्त वत्सलता,
(२) भक्त की ढिठाई का सहन,
(३) भक्त का कष्ट-हरण,
(४) शरणागत-वत्सलता,
(५) दीन-ग्राहकता,
(६) गाढ़े दिन की मित्रता,
(७) अभयदान।

इस स्वभाव के विश्वास को लेकर भक्त आगे बढ़ता है। वह सांसारिक ऐश्वर्य को तिलांजलि दे देता है और भगवान की सम्पत्ति में ही अपने को धनी मानता है।

कहा कमी जाके राम धनी

मनसा नाथ मनोरथ पूरन सुख निधान जाकी मौज धनी
अर्थ धर्म अरु काम मोक्ष फल चारि पदारथ देत गनी
इन्द्र समान हैं जाके सेवक नर बपुरे की कहा गनी

यही नहीं, वह आगे बढ़ कर अपने को महाराजों का भी महाराज मानता है; भगवान ऐश्वर्य का ही उसका ऐश्वर्य है:—

हरि के जन की अति ठकुराई
महाराज, रिषिराज, राजमुनि देखत रहे लजाई

यहाँ तक मन को विश्वास करने के बाद भक्त विनय की भूमि में उतरता है। वह पहले भगवान से माया और तृष्णा के परिहार की प्रार्थना करता है। वास्तव में भगवद्-भक्ति के ये दोनों प्रबल शत्रु हैं। सारे संसार का झमेला इन्हीं के कारण है। और सच तो यह है कि ये दोनों एक हैं। माया की ओर मन का निरन्तर आकर्षित होना ही तृष्णा है। जो भगवान के लिये "माया" है, कौतुक है, वही भक्त के लिये तृष्णा का कारण बनती है। माया का ही काम है भ्रम उत्पन्न करना। भ्रम की उत्पत्ति ही दुःख का कारण है—

नारद मगन भये माया मैं ज्ञान बुद्धि बल खोयौ
साठि पुत्र अरु द्वादस कन्या कंठ लगाए जोयौ
संकर को मन हर्यौ कामिनी सेज छाँड़ि भू सोयौ
चारु मोहिनी आइ आँध कियौ तब नखसिख तैं रोयौ
सौ भैया दुरजोधन राजा पल मैं गरद समोयौ
सूरदास कंचन अरु कांचहिं एकहिं धगा पिरोयौ

इस प्रकार माया-जन्य भ्रम के कारण मन सार वस्तु (भगवान) से हटता है। कालांतर में इसी भ्रम के कारण हिंसा, मद, ममता, आशा, निद्रा, काम, तृष्णा, परनिन्दा, शरीर-सेवा, बाह्याडम्बर, विषय-मुखता, राजस;. अविहित वादविवाद का जन्म होता है। इसीलिये माया का अनिष्टकारिणी गाय का रूपक बाँध कर कवि भगवान की शरण में जाता है—

माधौ, नैकु हटकौ गाइ
भ्रमत निसि बासर अपथ-पथ अगह गहि नहिं जाइ

और अपनी निर्बलता को स्वीकार कर लेता है—

नारदादि सुकादि मुनि जन थके करत उपाइ
ताहि कहु कैसैं कृपानिधि सकत सूर चराइ

परन्तु जहाँ भक्त का अन्तिम आश्रय भगवान का अनुग्रह ही है क्योंकि वही माया-तृष्णा से उसका त्राण करेगा, वहाँ उसे भी स्वयं अपनी ओर से प्रयत्नशील होना होगा। इसीलिये भक्त का प्रधान प्रयत्न अपनो आत्म-प्रवंचना, आत्म-शुद्धि और आत्म-प्रबोध ही होता है। वह सबसे प्रथम. मन को भांति-भांति के सम्बोधन करके उसे वस्तुस्थिति से परिचित कराता है--

रे मन जग पर जनि ठगायौ
धनमद, कुलमद, तरुनी कैं मद, भवमद, बिसरायो
रे मन छांड़ि विषय कौ रंचिवौ
रे मन गोविन्द के ह्वै रहियौ

कवि मन को विश्वास दिलाता है कि वह मूलरूप से सात्त्विकी है, है, वस्तुतः उसकी प्रवृत्ति बदली नहीं है, उसे केवल सांसारिकता से ऊपर उठकर भगवान की ओर उन्मुख भर हो जाना है। वस्तुतः मन को अपना रूप पहचानना है—

रे मन आपु कौं पहचानि

इस मन की स्वच्छता के लिए हरि-कृपा तो वांछित है ही, प्रथम और अन्तिम साधन वही है परन्तु स्वयं भक्त क्या करे? सूरदास भक्त के लिए तीन साधनायें आवश्यक मानते हैं—

(१) नामस्मरण,
(२) भगवद् कथागान,

(३) भगवद्-स्वरूप चिन्तन।

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य कर्म भी विदित हैं—गुरु-भक्ति, दीनता, सत्संग। इन साधनाओं के साथ-साथ चलते रहना चाहिये आत्म-प्रताड़न (हरिजू मो सौं पतित न आन), शरणागति (अब हौं हरि शरणागति आयौ), भगवान् की अनुकंपा के प्रति आस्था (बहुत पतित उद्धार किये तुम हौं तिन कौं अनुसर तौं)। इन्हीं भावनाओं के कारण भक्त ढीठ हो जाता है। वह भगवान से कहता है—

जानहौं अब बाने की बात
मोसौं पतित उधारौ प्रभु जौ तौ बदिहौं निज तात

वह तो आत्म-समर्पण कर देता है (हमें नन्द नन्दन मौल लिये), फिर वह ढीठ क्यों न हो जाये। उसकी तो भावना है अनन्य। इसी दृढ़ता के बल पर वह कहता है—

जौं पै तुमहीं विरद बिसारौ
तौ कहौ कहाँ जाइ करुनामय कठिन करम कौ मारौ

यहाँ तक कि अंत में वह भगवान् के अनुकंपामय स्वभाव से उत्साहित होकर अड़ ही जाता है—

आजु हौं एक एक करि टरिहौं
कै तुमही कै हमहिं माधौ, अपन भरोसैं लरिहौ
हौं तौ पतित सात पीढ़िनि कै पतितै ह्वै निस्तरिहौं
अब हौं उघरि नच्यौ चाहत हौं तुम्हें विरद बिन करिहौं
कत अपनी परतीत नसावत मैं पायौ हरि हीरा
सूर पतित तबही उठिहैं प्रभु जब हँमि देहौ बीरा

यह है सूर की विनय-भावना के मूल में काम करनेवाला मनोविज्ञान। केवल एक स्थान पर वह तुलसी की तरह भक्ति की याचना करते हैं--

अपनी प्रभु भक्ति देहु जासौं तुम नाता

परन्तु अन्य सभी स्थलों पर वह भगवान से मुक्ति की ही याचना करते हैं और अपनी पतितावस्था और भगवान की "पतित-उद्धारन बानि" का सहारा लेते दिखाई पड़ते हैं यद्यपि सूरदास ने तुलसीदास की तरह विनय की शास्त्रीय-पद्धति (वैष्णव विनय-पद्धति) को अपने सामने नहीं रखा है, परन्तु विनय की समस्त भूमिकाएँ उनके पदों में मिल जाती है यद्यपि सूर के विनय पद प्रधान रूप से जिस भावना से परिचालित हैं वह है "पतित-भावना" जिसके सत्यरूप को समझने के लिये सूर की पंक्तियाँ सदैव स्मरण रखनी होंगी :

अद्भुत जस विस्तार करन कौं हम जन कौं बहु हेत
भक्त पावन कोउ कहत न कबहूं, पतित पावन कहि लेत

सूरदास की यह भक्तिभावना जिस कृष्णरूप के प्रति प्रकट हुई है, वह "निगु ण" से कम अविगत नहीं है, परन्तु सगुण रूप होने के कारण उसकी सुन्दरता भक्त के मन में समा जाती है, जिससे वह कुछ तृप्त अवश्य हो जाता है। वास्तव में सूरदास का विषय इसी अलौकिक, अविगत सगुण सौंदर्य का अवलोकन, आस्वादन और ध्यान है और विनय के पद भूमिका-स्वरूप हैं। इस रूप के चमत्कारिक वर्णन से सारा सूरसागर भरा पड़ा है, परन्तु भूमिका-रूप में यह पद दिया जा सकता है--

यहई मन आनन्द अवधि सब
निरखि सरूप विवेक नयन भरि या सुख तैं नहिं और कछू अब
चित चकोरगति करि अतिसय रति स्रम सघन विषय लोभा
चिंति चरन मृदु चारु चद्र नख, चलत चिन्ह चहु दिसि सोभा

नामस्मरण, कथा-कीर्तन और ध्यान में यह ध्यान ही सूरदास

ने सर्वश्रेष्ठ माना है। प्रमाण सूरसागर है जिसमें राधाकृष्ण का ध्यान सैकड़ों रूपों में अंतःचक्षुओं के सामने उपस्थित किया गया है। सूरदास की विनयभावना ध्यान के लिए उपयुक्त भूमि तैयार करती है।

२८. बिहारी की सतसई

(१) हिन्दी काव्य में सतसई का स्थान (२) सतसई रचना सम्बन्धी कथा (३) सतसई का विश्लेषण (४) सतसई और "शृङ्गार" (५) सतसई में प्रकृति-चित्रण (६) सतसई के काठिन्य के कुछ कारण—समास-शैली, साहित्यिक परम्पराओं का पालन, श्लेष, ध्वनि (७) बिहारी की सौन्दर्यनिष्ठता (८) बिहारी की रसिकता (९) सतसई के कुछ दोष (१०) उपसंहार।

हिन्दी काव्य-जगत में रामचरितमानस के बाद यदि कोई पुस्तक सबसे अधिक प्रिय हुई है तो वह कविवर बिहारीलाल की सतसई है। बिहारी के समय में ही इसकी इतनी प्रसिद्धि हो गई थी कि मतिराम जैसे कवि पर इसका प्रभाव पड़ा और टीकाओं की वह शृङ्खला आरम्भ हुई जो अब तक अटूट चली आती है। टीकाएँ भी एक दो नहीं, आधे शतक से ऊपर टीकाओं को तो श्री जगन्नाथ प्रसाद 'रत्नाकर' ने ढूँढ़ निकाला है, पता नहीं कितनी और कालकलवित हो गईं अथवा अभी प्रकाश में नहीं आईं। ब्रजभाषा के लगभग प्रत्येक कवि पर भाषा और भाव की दृष्टि से बिहारी सतसई का प्रभाव पड़ा है, और शृंगार के दोहों, कवित्तों, सवैयों का एक बड़ा मुक्तक-साहित्य बिहारी के काव्य को पकड़कर खड़ा हो सका है। हिन्दी-साहित्य जगत में न इतना अनुकरण सूर को छोड़कर किसी और कवि का हुआ, न किसी का इतना प्रभाव ही पड़ा।

सतसई का रचनाकाल १६६२ ई० है। इसमें ७०० दोहे हैं जो किसी एक निश्चित समय पर नहीं बने, समय-समय पर बनते रहे। बाद में बिहारी ने इन्हें संग्रहीत करके सतसई का रूप दिया जैसा अंतिम दोहे से स्पष्ट है—

हुकुमु पाइ जयसाहि को हरिराधिका प्रसाद
करी बिहारी सतसई भरी अनेक संवाद

दोहों के बनने के समय में एक जनश्रुति इस प्रकार है। आमेर नरेश मिर्जा जयसाहि (जयसिंह) नई बहू को ब्याह लाये थे। उसके ही रंग में रंग गये थे। राज-काज देखना छोड़ बैठे थे। बड़ी चौहानरानी और सारी प्रजा असंतुष्ट थी। इतने में बिहारी घूमते-फिरते उधर आ निकले। वे उधर आया ही करते थे। सब कर्मचारी उनके कविकौशल और वाग्वैदग्ध्य से परिचित थे। रानी ने कहा—कोई उपाय करो। बिहारी ने एक उपाय सोचा। एक दोहा लिखकर रनवास (अन्तःपुर) में भिजवा दिया—

नहि पराग नहिं मधुर रस नहिं विकास इहि काल
अली कलीसों ही विंध्यो आगे कौन हवाल

जयसिंह इस दोहे को पढ़कर बाहर निकल आये। बिहारी को देखकर बड़े प्रसन्न हुए। कहा, प्रत्येक दोहे पर एक अशर्फी देंगे। बिहारी दोहे लिखते, अशर्फिया ले आते। इस प्रकार सतसई के दोहे बने।

बिहारी ने जो दोहा रनवास में भेजा था उसका आधार सातवाहन की गाथा सप्तशती की एक गाथा थी—

यावन्न कोश विकासे प्राप्नोतीषन्मालतीकलिआ
मअरन्दपाणलोहिल्ल भमर तावच्चिअ मलेसि

(अभी मालती की कली में कोष का विकास भी नहीं हो पाया कि मकरन्द को पान करने के लोभी भौंरे तूने उसका मर्दन आरम्भ कर दिया ।)

परन्तु बिहारी ने थोड़ा-सा परिवर्तन करके उसे परिस्थिति पर घटा दिया है ।

"आगे कौन हवाल ?" मध्ययुग के राजनैतिक संघर्ष में रहने-वाले महाराजा के लिए कितनी सार्थक व्यंजना थी ? इसी प्रकार के कितने ही दोहे बिहारी-सतसई में हैं जिनमें बिहारी ने प्राचीन कवियों, विशेषकर सातवाहन, गोवर्धनाचार्य्य और अमरुक से लाभ उठाया है, परन्तु प्रत्येक अवसर पर उन्होंने अत्यन्त सार्थक, सफल और चमत्कारी परिवर्तन किये हैं जिन्होंने अपहरण "कविकर्म" में बदल दिया है । अमरुक का शार्दूल विक्रीड़ित छंद है--

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै
र्निद्रा व्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलका मालोक्य गण्डस्थली
लज्जा नम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता

बिहारी कहते हैं--

मैं मिसहा सोयौ समुझि, मुँह चूम्यौ ढिग जाइ
हँस्यौ खिस्यानी, गल गह्यौ, रही गरैं लपटाइ

परिवर्तन किस प्रकार का है, यह स्पष्ट है । उससे भाव की व्यंजना और मार्मिकता कितनी अधिक बढ़ गई है ।

इस प्रकार बिहारी का काव्य व्यंजना-प्रधान है । वह उस प्रकार का काव्य है जिसे मुक्तक, उद्भट काव्य, सूक्ति या सुभाषित कहा गया है । उसमें जो कुछ कहा गया है, वह चमत्कार

की दृष्टि से कहा गया है, परन्तु जो कुछ कहा गया है वह जीवन और साहित्य के पलड़ों पर पूरा उतरता है।

सतसई का मूल विषय शृङ्गार है, यद्यपि भक्ति, दर्शन, नीति और इतिहास विषयक दोहे भी मिल जाते हैं। सतसई की प्रसिद्धि ६०० के लगभग इन्हीं शृङ्गारी दोहों पर ही है। इन दोहों में नायिका के सौन्दर्य, दीप्ति, कांति, नखशिख, हावभाव, अनुभाव, केलिविलास आदि शृङ्गार की समस्त भूमि उपस्थित है। नेत्रों और अनुभावों एवं हावों के वर्णन में तो सूर को छोड़ कर बिहारी अद्वितीय ही हैं। कहीं-कहीं एक ही दोहे में अनेक हाव भर दिये हैं—

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ
सौह करैं भौंहनु हँसै दैन कहै नटि नाइ
भौंह ऊँचे, आचरू उलटि, मौरि मोरि, मुहु मोरि
नीठि-नीठि भीतर गई दीठि-दीठि सौं जोरि

विभ्रम अनुभाव का एक उदाहरण है—

रही दुहेंड़ी ढिग धरी भरी मथनिया बारि
फेरित करि उलटी रई नई विलोवनिहारि

परन्तु बिहारी हावों और अनुभावों पर ही नहीं रुक जाते हैं। वे प्रेम के अत्यन्त प्रकृत रूप का चित्रण करते हैं—

ललन-चलनु सुनि पलनु मैं अँसुवा झलके आइ
भई लखाइ न सखिनु हूं झूठे ही जमुहाइ
कागद पर लिखत न बनत कहत सँदेसु लजात
कहिहै सबु तेरौ हियौ मेरे हिय की बात
करलै चूमि चढ़ाइ सिर उर लगाइ भुज भेंटि
लहि पाती पिय की लखति, बाँचति, धरति समेटि

कर-मुँदरी की आरसी प्रतिबिम्बित प्यौ पाइ
पीठि दियैं निधरक लखै इकटक डीठि लगाइ

ऊपर के उदाहरणों से यह स्पष्ट होगा कि बिहारी प्रम की भारतीय रीति से कितने परिचित थे। प्रेमी की तन्मयता, बेबसी, मोह—सभी का अत्यन्त सुन्दर चित्रण बिहारी सतसई में मिलेगा। हमारे सारे साहित्य में कोई एक ग्रंथ ऐसा नहीं है जिसमें प्रेमी-प्रेमिका के संयोग वियोग के सम्बन्ध में इतनी मार्मिक सूक्तियाँ हों।

प्रेम ही नहीं प्रकृति के चित्रण में भी बिहारी अन्य कवियों से बहुत आगे हैं। हिन्दी कविता में प्रकृति को आलंबन बना कर बहुत ही कम रचनाएँ हुई हैं, अधिकांश कवियों ने प्रकृति को उद्दीपन रूप में उपस्थित किया है, परन्तु बिहारी में हमें दोनों रूप मिलते हैं। उन्होंने अनुप्रास शब्द-योजना और नाद-सौन्दर्य से अपने प्रकृति-चित्रण को पुष्ट किया है। उनके बसंत समीर का वर्णन तो बेजोड़ है—

रुनित भृङ्ग घंटावली झरत दानु मधुनीर
मन्द मन्द आवत चल्यो कुञ्जर कुंज कुटीर
चुवत सेदु मकरंद कन तरु तरु तर बिरमाय
आवत दच्छिण देस तो थक्यो बटोही बाय
लपटी पुहुप-पराग पट सनी सेद मकरंद
आवति नारि नवौढ़ लौं सुखद बाय गति मन्द

इन्हीं चित्रों पर मुग्ध होकर अँगरेज आलोचकों ने कहा है—

"He (Bihari) is particularly happy on his description of natural phenomena, such as the scentladen breeze of an India Glooming, the

wayworn pilgrim from the Sandal south, adust, not from the weary road but from his pollen quest brow headed with rose dew for sweat, and lingering, beneath the trees resting himself, and inviting others to repose………"

वास्तव में विहारी सतसई भाषा, भाव और चित्र-सौंदर्य की दृष्टि से अनुपम है। साधारण पाठक को उसके अर्थ समझने में कठिनाई होती है। कुछ इसलिये कि बिहारी ने ४८ मात्राओं के अत्यन्त छोटे छन्द में बड़े-बड़े प्रसंग भर दिये हैं, कुछ इसलिये कि कितने ही दोहों के लिये संदर्भ जानने की आवश्यकता है और कितने ही दोहों का अर्थ समझने के लिए रीति साहित्य की परिपाटी से परिचित होना नितांत आवश्यक है। बिहारी का एक सुन्दर दोहा है--

रहौ गुही बेनी लख्यो गुहिबे को त्यौनार।
लागे नीर चुचान ये नीठि सुखाये बार॥

संदर्भ इस प्रकार है—नायक-नायिका की वेणी गूँथ रहा है। परन्तु सूखे बालों से पानी किस प्रकार गिरने लगा यह समझ में नहीं आता है। जो साहित्य-परम्परा से परिचित है वही जान सकता है कि स्पर्श से दंपति को स्नेह सात्विक भाव हुआ है। नायिका स्वाधीनपतिका है। गर्व संचारी भाव है। इसके अतिरिक्त दोहे के रस को पूर्णतः ग्रहण करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि पाठक यह भी जाने कि इस दोहे में पञ्चम विभावना ("वर्णन हेतु विरुद्ध ते उपजत है जहँ काज") और व्याजोक्ति है। इस प्रकार रस और अलंकार एवं ध्वनि की शास्त्रीय-पद्धति से परिचित होकर ही बिहारी के काव्य का रसास्वादन सम्भव है। जो पाठक शास्त्रज्ञान को लेकर बिहारी

सतसई की ओर बढ़ते हैं; वही उसकी ठीक-ठीक महानता जान सकते हैं।

बिहारी की प्रकृति अत्यन्त रसिक थी। वह सौन्दर्य और प्रेम के अनन्य उपासक थे। नायिका की एक-एक अदा उन्हें प्रिय थी। नायिका दोनों हाथ उठाकर सिकहर में दहेंड़ी रखती है। ऐसी दशा में नायक ने उसके तने हुये शरीर और अधखुले पीनपयोधरों को देख कर यह कहा है।

अहै दहेंड़ी जिनि धरै जिनि तू लेहि उतारि।
नीके है छीके छुये ऐसी ही रंहि नारि॥

(हे प्यारी, न तो तू दहेंड़ी को सिकहर पर रख और न वहाँ से नीचे उतार। इसी प्रकार सिकहर छुये खड़ी रह, तेरी यह अदा मुझे बहुत भली मालूम होती है।)

इसी रसिकता ने बिहारी से कुछ ऐसे भी दोहे कहलाये हैं जो उनके समय की सामाजिक शिथिलता पर प्रकाश डालते हैं और सुन्दर परिहास उपस्थित करते हैं—

बहु धनु लै, अहसानु कै, पारौ देत सराहि।
बैद बधू, हँसि भेद सौं, रही नाह मुँह चाहि॥

वैद्य जी स्वयम् तो नपुंसक हैं पर रोगी की नपुंसकता दूर करने के लिए पारे की भस्म दे रहे हैं।

परितिय-दोष पुरान सुनि लखि मुलकी सुखदानि।
कसु करि राखी मिश्र हूं मुँह-आई मुसकानि॥

कथावाचकजी स्वयम् परस्त्रीगमन के अपराधी हैं, परन्तु परस्त्री बहिष्कार का उपदेश दे रहे हैं। इसी प्रकार ज्योतिषीजी पुत्र की जन्म कुंडली में पितृमारक योग देखकर दुखित थे, कि देखा कि लड़का जारज सन्तान है, खिल उठे कि जान बची।

चित पितमारक जोगु गनि, मयौं, भयैं सुत, सोगु
फिरि हुलस्यौ जिय जोइसी समुझै जारज-जोगु

इस प्रकार के दोहे विहारी सतसई को और भी सरल बना देते हैं।

परन्तु सतसई में दोष भी हैं और बड़े दोष हैं। उस पर फ़ारसी विरह-निरूपण-पद्धति का असंयत प्रभाव है। नायिका विरह में इतनी दुबली हो जाती है कि निश्वासों के साथ-साथ छः-सात हाथ आगे, छः-सात हाथ पीछे झूलती रहती है, जैसे हिंडोले पर झूल रही हो। विरहताप इतना अधिक है कि जाड़े के दिनों में भी उसकी सखियाँ गीले कपड़े की आड़ देकर उसके पास जाती हैं, उसके गाँवों में लुएँ चलती रहती हैं; गुलाब की शीशी उसपर छिड़की जाती है तो गुलाब जल का एक छीटा भी उसके शरीर पर नहीं पड़ता, गुलाब जल बीच में ही भाप बन कर उड़ जाता है, यहाँ तक कि मौत भी उसके पास आने से डरती है कि जल न जाये। साहित्यिक दोष भी मिल जाते हैं--दो एक दोहों में पतित प्रकर्ष दोष है, अनेक स्थानों पर लिङ्ग वचन की विभिन्नता मिलेगी, चमक और अनुप्रास के फेर में पड़ कर कहीं-कहीं भाव की उच्चता और कथन की स्पष्टता पर ध्यान नहीं रहा है। और भी कुछ दोष हैं। परन्तु सतसई के अमित गुणों के सामने इन छोटे-बड़े दोषों का आप ही परिहार हो जाता है।

सच तो यह है कि बिहारी की सतसई हिंदी की अमूल्य निधि है। भारत की अन्य प्रांतीय भाषाओं के साहित्य में से उसकी जोड़ की चीज है ही नहीं, विश्व-साहित्य में भी एक ही स्थान पर इतने साहित्य-गुणों के साथ प्रेम, विरह और सौंदर्य-संबंधी इतनी सूक्तियाँ अलभ्य हैं। आवश्यकता इस बात की है कि बिहारी को सौंदर्य-निष्ठ रसिक कवि के रूप में देखा

जाय और शृंगार-साहित्य के अन्य अनेक वासना भ्रष्ट कुरसिक कवियों की मंडली में उन्हें न मिला दिया जाय। जिस दिन हम शृंगार-साहित्य को सौंदर्य-शास्त्र और प्रेमशास्त्र के ऊँचे पैमाने से परखने लगेंगे उस दिन बिहारी का स्थान सर्वोच्च होगा।

२६. प्राचीन हिन्दी गद्य

(१) प्राचीन पद्य सम्बन्ध राहुलजी का नवीन खोज (२) गद्य और पद्य—पद्य की पूर्वपरता और अधिक प्रचार का कारण (३) पिंगल गद्य (४) व्रजभाषा गद्य का जन्म और विकास (५) प्राचीन खड़ी बोली गद्य (६) नवीन खड़ी बोली गद्य का जन्म।

श्रीराहुल सांकृत्यायन की खोजों से हिंदी पद्यसाहित्य का प्रारम्भ आठवीं तथा नवीं शताब्दी में सिद्ध हो चुका है परन्तु हिन्दी गद्यसाहित्य के सर्वमान्य अवतरण चौदहवीं शताब्दी के पहले नहीं मिलते। हमारे गद्य और पद्य के आरम्भ में इस प्रकार लगभग पाँच शताब्दियों का अंतर पड़ जाता है और साहित्य के विद्यार्थी का इस अंतर के कारण को खोज निकालना आवश्यक हो जाता है।

लगभग सभी देशों में गद्य का विकास पद्य के बाद ही हुआ। इसका प्रधान कारण यह है कि पद्य-साहित्य गीतात्मक होने के कारण अब तक सरलता से कंठाग्र किया जा सकता था और वह व्यवहार के साथ आनन्ददायक भी होता था। छापे के आरम्भ से पहले देशी और विदेशी लगभग सभी साहित्यों में गद्य का अंश नहीं के बराबर था। यह नहीं कि गद्य का साहित्य बना ही नहीं परन्तु यदि वह धार्मिक नहीं था तो अपने को

स्थायी रूप देने में समर्थ न हो सका। इस प्रकार पद्य का प्रचार अधिक होने के कारण उसमें शीघ्र ही प्रौढ़ता आ गई और उससे ही गद्य का काम निकलने लगा। फिर भी यह नहीं माना जा सकता कि १४वीं शताब्दी के पूर्व गद्य का प्रयोग नहीं होता था। अनेक व्यावहारिक कार्यों के लिये गद्य का प्रयोग आवश्यक रहा होगा परन्तु लौकिक साहित्य होने के कारण आज उसके नमूने उपलब्ध नहीं हैं। जो कुछ थोड़े-बहुत मौजूद भी हैं उनकी सत्यता के विषय में संदेह है।

१४वीं शताब्दी के पूर्व साहित्य की भाषा डिंगल थी। राजपूत दरबारों की भाषा यही थी। चौदहवीं शताब्दी के पूर्व की डिंगल भाषा के जो नमूने पाये जाते हैं उनके विषय में मतैक्य नहीं है परन्तु १४वीं शताब्दी के बाद गद्य साहित्य ख्यात और वार्त्ता के रूप में उपलब्ध है। १४वीं शताब्दी के पूर्व के गद्य को हम 'नमूने का गद्य' कह सकते हैं। इस समय हिंदी प्रदेश की व्यापक साहित्यिक भाषा राजस्थानी थी जिसमें अपभ्रंश का काफी पुट था। ब्रजभाषा धीरे-धीरे प्रांतीय भाषा के रूप में विकसित हो रही थी परन्तु उसका कोई साहित्यिक रूप नहीं था। इस काल की रचनाओं के संबंध में अभी खोज नहीं हुई है। कुछ शिलालेख आदि मिले हैं परन्तु उनकी प्रामाणिकता में संदेह है। इस समय का अधिकांश राजस्थानी साहित्य पद्य में है परन्तु जैन धर्म-संबंधी कुछ साहित्य गद्य में है। यह प्राचीन राजस्थानी गद्य में है जिस पर अपभ्रंश का प्रभाव है। इस काल के उत्तर में एक तीसरी भाषा खड़ी बोली का प्रयोग भी साहित्य के लिये होने लगा था। डिंगल गद्य के दो नमूने अधिक मिलते हैं जिससे यह कल्पना की जा सकती है कि १००० से १४०० तक डिंगल गद्य की रचना प्रचुर

मात्रा में हुई होगी जो आज अप्राप्य या संदिग्ध दशा में प्राप्य है।

१४वीं शताब्दी के बाद हिन्दी गद्य दो माध्यमों द्वारा प्रकाशित हुआ। वे थे ब्रजभाषा और डिंगल। डिंगल गद्य की परम्परा पहले से चली आ रही थी और पश्चिमी हिन्दी प्रदेश के राजकीय कामों में डिंगल गद्य का प्रयोग होता था। १४वीं शताब्दी तक ब्रजभाषा काव्य-बोली के रूप में विकसित हो चुकी थी और गोरख पंथ या साधु मत के प्रचार के लिए उपयोग हो रहा था। लगभग सन् १३५० ई० के गोरखपंथी ग्रंथ इस बात की पुष्टि करते हैं।

संत संप्रदाय जन-समुदाय में एक नवीन धार्मिक संदेश पहुँचाने के लिये निकला और उसने पश्चिमी जन भाषा का प्रयोग किया परन्तु ब्रजभाषा को सबसे बड़ा प्रोत्साहन १६वीं शताब्दी के कृष्णभक्ति वैष्णव आन्दोलन से मिला। जहाँ सूरदास ने लोक गीतों का सहारा लेकर साहित्यिक गीतों की सृष्टि की, वहाँ श्री वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलनाथ ने बोलचाल की भाषा लेकर प्रारम्भिक ब्रजभाषा गद्य की सृष्टि की। कृष्ण भक्ति सम्प्रदाय में संगीत की प्रधानता थी और मंदिरों में गानवादन की प्रथा शीघ्र ही प्रचलित हो गई। आचार्य धर्म-सिद्धान्तों का प्रचार संस्कृत गद्य में करते थे। इसलिये हिन्दी गद्य को भक्तों की महिमा गाथा के प्रकाशन का साधन बनाया गया। उत्तरकाल में वल्लभ संप्रदाय के भक्तों ने हिन्दी गद्य की इस परम्परा को अक्षुण्ण रखा। फलस्वरूप हमें दो ग्रंथ मिलते हैं--चौरासी वैष्णवों की वार्ता तथा २५२ वैष्णवों की वार्ता। इन ग्रंथों में ब्रजभाषा गद्य अपने सर्वप्रौढ़ रूप में आता है। हम देखते हैं ब्रजभाषा इस काल के प्रारम्भ में एक व्यापक धार्मिक आन्दोलन

का माध्यम बन गई थी, विशेषकर पद्य में। इसने धीरे-धीरे राजस्थानी को पद्य के क्षेत्र से हटा दिया परन्तु राजस्थानी गद्य का प्रयोग प्रचुर मात्रा में चलता रहा। इसका कारण यह है गद्य व्यावहारिक है और धर्म में व्यावहारिकता की अपेक्षा आंतरिक प्रेरणा और उल्लास को अधिक स्थान मिलता है और उसका क्षेत्र पद्य है। भक्तों की व्यावहारिकता केवल प्रचार तक सीमित थी अतः उन्होंने ब्रजभाषा का जो गद्य लिखा वह थोड़ा लिखा और प्रचार की दृष्टि से लिखा। राजस्थानी गद्य में इस काल में बहुत-सी रचनाएँ हुईं जो अधिकांश ख्यातों और बातों के रूप में है। इनमें से अधिकांश नष्ट हो गई हैं और जो प्राप्य हैं उन पर खोज नहीं हुई है। ये ख्यातें एतिहासिक गाथायें हैं जिनमें राजवंशाली और एतिहासिक राजकृतियों के साथ-साथ कल्पनात्मक कथासूत्र भी चलता रहता है। इन ख्यातों की परम्परा कई शताब्दियों तक चली आई है और इनमें हमें राजस्थानी गद्य अपने सबसे प्रौढ़ रूप में मिलता है। राजस्थानी गद्य की सबसे महत्वपूर्ण रचनाएं जैनों द्वारा लिखी गई हैं परन्तु उनके सम्बन्ध में अभी खोज नहीं हुई है। इस काल में पश्चिमी-दक्षिणी भारत में जैन धर्म का प्रचार हो रहा था और ये जैन रचनाएँ प्रचार-कार्य से ही सम्बन्धित हैं।

बोलचाल के रूप में खड़ी बोली का प्रयोग बहुत प्राचीन है। इसका प्रमाण यह है कि चन्द और नरपतिनाल्ह की कविताओं में भी खड़ी बोली के रूप मिलते हैं। पद्य के रूप में खड़ी बोली का प्रयोग खुसरो और बाद में कबीर की कविताओं में मिलता है। परन्तु गद्य में खड़ी बोली का प्रयोग बहुत बाद में हुआ। उदू के विद्वानों की खोज से पता चला है कि दक्षिण में खड़ी बोली गद्य का प्रयोग सूफी औलियाओं द्वारा १३वीं १४वीं

शताब्दी में ही आरम्भ हो गया था। हिन्दी खड़ी बोली गद्य का केवल एक नमूना हमारे सामने है। इसे ही हम हिन्दी गद्य का सर्व प्रथम उदाहरण कह सकते हैं। यह अकबर के दरबार के कवि गंग भाट का "छन्द चन्द बरणन की कथा" है।

१७वीं शताब्दी के बाद वैष्णव धर्मोत्थान पतन को प्राप्त हुआ। उसमें विलासिता ने घर कर लिया। प्रचार के लिये प्रयत्न कम हो गया। इस उत्तर भक्तिकाल में साहित्य की सृष्टि न गद्य में इतनी अच्छी हुई, न पद्य में। रीतिकाल का आरम्भ हुआ। इस काल में संस्कृत आचार्यों का काम कवियों ने ले लिया था जिसने गद्य के विकास को हानि पहुँचाई। उस काल के साहित्य से यह स्पष्ट पता चलता है कि जनता और पण्डितों को साहित्य-शास्त्र के ज्ञान के प्रति अभिरुचि थी। ऐसी परि-स्थिति में छन्द, गुण, अलंकार आदि को स्पष्ट करने के लिए विवेचनात्मक ग्रंथ लिखे जा सकते थे परन्तु कवियों ने अपनी रचनाओं में गद्य का काम पद्य से ही लिया। फलस्वरूप वे शास्त्रीय विचारों को स्पष्ट न कर सके और जो गद्य लिखा जा सकता था वह न लिखा गया। हाँ, टीकाओं के रूप में इस काल में गद्य हमारे सामने आया। ये टीकाएँ प्राचीन गद्य के बिगड़े हुए रूप में लिखी गई हैं। एक तो शैली की स्वतन्त्रता के लिए टीका में यों ही अधिक स्थान नहीं है। दूसरे टीकाकार संस्कृत टीकाओं का नमूना हमेशा अपने सामने रखते थे। फल यह होता था कि टीकाओं का गद्य बिलकुल अव्यवस्थित है। उसका साहित्यिक मूल्य बहुत कम है। यह गद्य लगभग १९वीं शताब्दी की टीकाओं तक में चलता रहा और उसमें उस प्रौढ़ गद्य के दर्शन नहीं होते जो एक बार वार्ताओं में दिखलाई पड़ा था।

ब्रजभाषा में जो रचनाएँ हुईं उन्हें हम कई विभागों में बाँट सकते हैं (अ) टीकाएँ। इनकी मात्राएँ सबसे अधिक हैं परन्तु ये कोई साहित्यिक शैली सामने नहीं रख सकीं। (ब) अनुवाद। अनुवाद अधिकतर संस्कृत से हुए। ये या तो प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों के अनुवाद हैं (जैसे दामोदर दास दादू पन्थी का मारकण्डेय पुराण का अनुवाद) या संस्कृत कथाओं के अनुवाद (नासिकेतोपाख्यान, बैताल पच्चीसी और हितोपदेश)। इन अनुवादों से पता चलता है कि कथा सुनने-सुनाने की प्रवृत्ति का आरम्भ अठारहवीं शताब्दी में ही हो गया था। फ़ारसी से कुछ ग्रन्थ अनूदित हुए (जैसे आईन-अकबरी की भाषा वचनिका)। इन अनुवादों की भाषा कहीं भी प्रौढ़ नहीं है। अधिकांश लेखक अपने अनुवाद में व्यापक ब्रजभाषा के व्याकरण के साथ-साथ प्रान्तीय भाषा के प्रयोगों को मिला देते हैं जिसके कारण भाषा अव्यवस्थित हो जाती है। भाषा-शैली की दृष्टि से कहानी-अनुवादों की भाषा और "भाषा वचनिका" की भाषा महत्त्वपूर्ण है। इन पर हम आगे सुन्दर ब्रजभाषा गद्य की नींव डाल सकते थे, परन्तु शीघ्र ही खड़ी बोली गद्य के उत्थान ने ब्रजभाषा गद्य को क्षेत्र से बाहर कर दिया।

राजस्थानी गद्य का प्रयोग चलता रहा। पिछले राजस्थानी गद्य से इस गद्य में विशेष अन्तर है। इसका कारण यह है कि इस पर ब्रजभाषा का प्रभाव है। इस समय पूर्वी राजस्थानी मिश्रित ब्रज की एक शैली ही चल ही पड़ी थी। राजस्थानी गद्य अधिकतः ख्याति और "वचनिका" (वार्ता) के रूप में है। "वचनिका" वास्तव में एक साहित्य शैली है। सैकड़ों ख्यात और हजारों वार्ताएँ लिखी गईं। साहित्य की दृष्टि से इनक बड़ा महत्त्व है।

इस समय खड़ी बोली का गद्य में प्रयोग होना आरम्भ हो गया था। कुछ रचनाएँ राजस्थानी मिश्रित और कुछ ब्रजभाषा मिश्रित खड़ी बोली में मिलती हैं। इससे पता चलता है कि खड़ी बोली धीरे-धीरे व्यापक प्रभावों से स्वतन्त्र हो रही थी।

३०. उन्नीसवीं शताब्दी का खड़ी बोली गद्य

(१) आधुनिक खड़ी बोली की सबसे पहली पुस्तक (२) फोर्ट विलियम कालेज और हिन्दी गद्य (३) हिन्दी गद्य का स्वतंत्र विकास—सदासुखलाल और इंशाअल्ला खाँ (४) ईसाई धर्म प्रचारकों का गद्य (५) मध्य उन्नीसवीं शताब्दी का गद्य—पाठ्य-पुस्तकें, धर्म प्रचार-सम्बंधी पुस्तकें और जनतोषी कथा-कहानियाँ (६) धर्मान्दोलन और हिन्दी गद्य (७) १९वी शताब्दी के पिछले १० वर्षों में गद्य साहित्यकों के हाथ में रहा—भारतेन्दु और उनके साथी (८) शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश में हिन्दी गद्य की बहुमुखी चेष्टाएँ (९) गद्य शैली का जन्म एवं विकास।

पं० कृष्णशंकर शुक्ल की खोज से यह सिद्ध हुआ है कि आधुनिक खड़ी बोली गद्य की सब से पहली पुस्तक पं० दौलत राम वैद्य का पद्मपुराण का अनुवाद है। इस पुस्तक के उद्धरण भी प्रकाशित किये गये हैं। इनसे यह कल्पना की जा सकती है कि इस पुस्तक के पहले भी काफी गद्य लिखा जा सका होगा, विशेषकर अनुवादों के रूप में और इस पुस्तक में अपने पूर्व के अनुवादों की शैली का अनुकरण किया गया होगा। यह खोज ईसाई विद्वानों के इस मत का खंडन करती है कि खड़ी बोली गद्य का पहला प्रयोग फोर्ट विलियम के अधिकारियों द्वारा हुआ। १८०० के लगभग हिन्दी के गद्य के जो प्रयोग हो रहे थे, उनमें वर्ग विशेष की बोलचाल का पुट रहता था। फोर्ट विलियम के अधिकारियों ने उर्दू गद्य को प्रश्रय दिया। हिन्दी

गद्य केवल मुहावरा सिखाने के लिए लल्लूलाल की प्रेम-सागर के रूप में स्वीकृत किया गया।

वस्तुतः हिन्दी गद्य का विकास स्वतंत्र रूप से हुआ। फोर्ट विलियम कालेज से पहले मुं० सदासुखलाल, नियाज और ईंशा अल्लाखाँ अपनी रचनाएँ उपस्थित कर चुके थे। पहले की रचना धार्मिक थी, दूसरी साधारण जन-समाज के लिये कहानी के रूप में थी। दोनों रचनाएँ अपने समय की प्रवृत्तियों को स्पष्ट करती हैं। मध्यवर्गीय जनता जहाँ एक ओर अभी तक धर्मप्राण थी वहाँ उसमें दूसरी ओर लौकिक दृष्टिकोण भी पैदा हो रहा था। मुसलमानी राज्य के पतनकाल में मनोविनोद की प्रवृत्ति बढ़ रही थी और लोग दूषित और हलके कुतूहल में आनन्द लिया करते थे।

इन स्वतन्त्र लेखकों के बाद हम पहिली बार हिन्दी गद्य का सुसंगठित प्रयोग देखते हैं। यह दो रूपों में हमारे सामने आता है—एक तो अधिकारी द्वारा फोर्ट विलियम के माध्यम से और दूसरे ईसाई धर्म-प्रचारकों द्वारा। फोर्ट विलियम के अधिकारी शासन से सम्बन्धित थे। उनका उद्देश्य "Civilians" को ऐसी भाषा का अध्ययन कराना था जिसका प्रयोग उत्तरी भारत के राजकीय काम में सम्पर्क में आने वाले मध्यवर्गीय जनता में कर सकें।

इस समय तक जनता फारसी और उर्दू हिन्दी की अपेक्षा अधिक समझ रही थी। इसलिए अधिकारियों का ध्यान पहले उर्दू की ओर गया। यह अवश्य है कि उन्होंने "भाषा के प्रयोग की आवश्यकता समझी क्योंकि जनता का जो वर्ग मुसलमानों के सम्पर्क में नहीं आया था उससे उर्दू द्वारा काम

निकालना असम्भव था। अधिकारियों के सामने खड़ी बोली गद्य अधिक प्रयोग में नहीं आता था, अतः जब उन्होंने "भाषा" में रचनाएँ की तो वे समझे कि एक नई भाषा की नींव डाल रहे हैं। जान गिलक्रिष्ट ने अपनी भूमिकाओं में इस बात का उल्लेख किया है और इन्हीं के आधार पर उर्दू लेखक कहते हैं कि हिन्दी गद्य उर्दू गद्य से फारसी शब्दावली हटा कर और उस पर संस्कृत का आरोपण करके बनाया गया है। सच बात यह है कि इस भ्रांति के लिये स्थान है क्योंकि फोर्ट विलियम के हिन्दी लेखकों के आगे अधिक प्रौढ़ उर्दू का नमूना था। फोर्ट विलियम में जहाँ उर्दू के १०-१२ लेखकों के नाम मिलते हैं, वहाँ हिन्दी के केवल दो पाये जाते हैं। ये लेखक लल्लूलाल और सदल मिश्र हैं। कुछ दिनों बाद शासकों ने राजकीय कार्य का माध्यम अंग्रेजी बना दिया और बंगालियों को एतदर्थ दीक्षित किया। फोर्ट विलियम के अधिकारियों ने देखा कि उनकी आवश्यकता नहीं रही, अतः कालेज बन्द कर दिया गया।

फोर्ट विलियम के गद्य के साथ ईसाई-पादरियों का गद्य चलता रहा। हिन्दी गद्य के इतिहास के लिये ईसाईयों का गद्य महत्त्वपूर्ण है। जहाँ अधिकारियों का सम्पर्क मध्यवर्गीय जनता से था, वहाँ इनका सम्पर्क निम्न वर्ग से था। इसलिये इन्हें वह भ्रांति नहीं हुई जो फोर्ट विलियम कालेज के अधिकारियों को हुई। मध्यवर्ग का पेशा नौकरी था और वह उर्दू भाषा और साहित्य से परिचित था। निम्न वर्ग वाणिज्य, व्यवसाय और कृषि करता था। यह स्थानीय भाषाओं को व्यवहार में लाता था परन्तु इस समय पश्चिम के बड़ी-बड़ी इस्लामी मंडियाँ और नगर उजड़ चुके थे और व्यवसायी पूर्वी प्रदेशों में फैल गये थे। अतः ये अपने साथ अपनी पश्चिमीय खड़ी बोली भी

लाये थे। वही बोली धीरे-धीरे वाणिज्य-व्यवसाय में जन-साधारण की व्यापक भाषा का रूप ग्रहण करने लगी। ईसाईयों ने देखा कि अधिकांश जनता हिन्दू है और उन्होंने इसी व्यापक भाषा को प्रचार का माध्यम बनाया। १८०६ ई० में जो बाइबिल के अनुवाद प्रकाशित हुए वे ठेठ बोलचाल की भाषा में थे। बाद की भाषा पर लल्लूलाल के प्रेमसागर की भाषा का प्रभाव दिखलाई पड़ता है परन्तु ये आरम्भ के अनुवाद उस समय की ठेठ व्यापक हिन्दी का रूप हमारे सामने रखते हैं।

फोर्ट विलियम कालेज और ईसाई पादरियों के बाद हिन्दी गद्य साहित्य तीन प्रकार से निर्मित हुआ (१) पाठ्य पुस्तकों द्वारा, (२) धर्म प्रचार द्वारा, (३) जन-साधारण की अभिरुचि को संतुष्ट करनेवाली कथा-कहानियों द्वारा। सबसे पहली पाठ्य-पुस्तक श्रीरामपुर के पादरियों ने अपने स्कूल के लिए बनाईं। फोर्ट विलियम कालेज की पाठ्य-पुस्तकें इनसे पहले सामने आ गई थी परन्तु वे साहित्यिक पुस्तकें थीं। पादरियों की आगरेवाली शाखा ने भिन्न-भिन्न विषयों पर भी पाठ्य-पुस्तकें लिखाईं। इसी समय युक्त-प्रांतीय सरकार ने अपने प्राइमरी स्कूलों में हिन्दी का चलन किया और स्वतन्त्र रूप से पाठ्य पुस्तकें लिखी जाने लगीं। प्रांत भर में पाठ्य-पुस्तकों के प्रकाशन के कई केन्द्र हो गये और धन के लोभ से अनेक अच्छे लेखकों की शक्तियाँ इधर लगीं। इन पाठ्य-पुस्तकों का महत्व इतना ही है कि इन्होंने हिन्दी गद्य प्रचार में सहायता दी और पहली बार विषय की विभिन्नता की ओर ध्यान आकर्षित किया।

परन्तु सबसे अधिक हिन्दी गद्य का प्रयोग और विकास क्रम प्रचार द्वारा हुआ। ईसाइयों का धर्म प्रचार हिन्दी माध्यम द्वारा हो रहा था। इसके प्रतिक्रिया स्वरूप तीन

शक्तियाँ क्षेत्र में आईं। वे थीं ब्रह्म समाज, आर्य समाज और सनातन हिन्दू धर्म। सबसे पहले ब्रह्म समाज का अभ्युदय हुआ। यह एक सुधार आन्दोलन था जो वैदिक ईश्वरवाद और औपनिषिदिक सत्य को महत्त्व देता था। सं० १८१६ ई० में राजा राममोहनराय ने वेदान्त सूत्रों का हिन्दी अनुवाद किया। प्रचार सम्बन्धी अनेक पुस्तकें लिखीं। इन्होंने ही सन् १८२६ ई० में बंगदूत नाम का हिन्दी समाचार-पत्र निकाला और इस तरह हिन्दी गद्य प्रचार में एक नई शक्ति का आविर्भाव किया। लगभग आधी शताब्दी तक ब्रह्म-समाज ने हिन्दी गद्य को सहायता दी। पंजाब के नवीनचन्द्र ने अनेक पाठ्य पुस्तकें और धर्म पुस्तकें लिखकर उर्दू के गढ़ में हिन्दी का प्रवेश कराया।

ब्रह्म समाज आन्दोलन मुख्यतः पूर्वी भारत का आंदोलन था। यह आन्दोलन पहले उठा इसलिये कि ईसाइयों का प्रहार पूर्व प्रदेश पर ही पहले हुआ। पश्चिमी प्रदेश में ईसाइयों के विरुद्ध पहली प्रतिक्रिया मुसलमानों में हुई और तबलीग के आन्दोलन का जन्म हुआ। इसके कुछ समय बाद ही स्वामी दयानन्द ने आर्यसमाज की स्थापना की। आर्यसमाज को दो मोरचों पर लड़ना पड़ा। पश्चिमी प्रदेश में ईसाइयों की शक्ति इतनी अधिक नहीं थी जितनी प्रतिक्रियावादी तबलीगी मुसलानों की। आर्यसमाज ने मुसलमानों और ईसाइयों द्वारा प्रचार रोकने के लिये शुद्धि और संगठन के आंदोलनों को जन्म दिया। यह ध्यान देने की बात है कि आर्यसमाज आक्रमणकारी संस्था नहीं थी। ब्रह्म समाज की तरह उसका उद्देश्य भी हिन्दू जातीयता का पुनरुत्थान था। आर्यसमाज का आधार एकमात्र वेद था और उसने प्रगतिशील हिन्दी समाज को जन्म दिया। स्वामी दयानन्द और उनके शिष्यों ने हिन्दी को अपना माध्यम

बनाया। ब्रह्म समाज की तरह आर्यसमाज भी मध्यवर्गीय आन्दोलन था और उसके मतावलम्बी विद्वान् बहुधा अरबी और फारसी के अच्छे ज्ञाता होते थे। उनके द्वारा हिन्दी की पुष्टि बहुत शीघ्रता से हुई और शैली में पहली बार खण्डन मण्डन के द्वारा बल आया।

रूढ़िवादी हिन्दू समाज ने आर्यसमाज आन्दोलन को सन्देह की दृष्टि से देखा और उसके विरुद्ध प्रचार की चेष्टा की। इस प्रकार की प्रतिक्रिया ने अनेक सनातनी कथावाचकों और व्याख्याताओं को जन्म दिया। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण पंजाब के श्रद्धाराम फुल्लौरी हैं। ये सनातनी नेता जहाँ एक ओर आर्य-समाज की प्रगतिशीलता का विरोध करते थे वहाँ दूसरी ओर इन्हें ईसाइयों और मुसलमानों के आक्रमण से आत्म-रक्षा के लिये तत्पर होना पड़ता था। उस समय का सनातनी साहित्य एक नये दृष्टिकोण को हमारे सामने रखता है।

इन धार्मिक धाराओं के साथ-साथ हिन्दी का प्रचार बढा और गद्य शैली में प्रौढ़ता आ गई। समय कुछ ऐसा था कि साहित्यिक प्रयोग कुछ अधिक मात्रा में नहीं हुए। भारतेन्दु के पहले पाठ्यपुस्तकों को छोड़कर बहुत कम साहित्य-सम्बन्धी पुस्तकें प्रकाशित हुईं। केवल दो साहित्यिक शैलीकार राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह हमारे सामने आते हैं। राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह तक आकर हिन्दी गद्य ने बहुत कुछ स्थिरता और एकरूपता प्राप्त कर ली थी। साहित्यक्षेत्र में कई शैलियाँ प्रसिद्ध हो चली थीं। जहाँ एक ओर राजा शिवप्रसाद उर्दू-प्रधान भाषा का प्रयोग करते थे वहाँ राजा लक्ष्मणसिंह और हिन्दू जातीयता के पुनरुत्थान के सम-र्थक आर्यसमाज और ब्रह्मसमाजी संस्कृत-प्रधान हिन्दी को श्रेय

देते थे। पाठ्य-पुस्तकों के कारण विषय को अनेकरूपता भी सामने आई थी। हिन्दी गद्य के क्षेत्र में अनेक शक्तियाँ काम कर रही थी परन्तु उन्हें एक केन्द्र पर लानेवाला कोई नहीं था। इसी समय भारतेन्दु का आविर्भाव हुआ। भारतेन्दु ने हिन्दी गद्य की एक निश्चित शैली स्थिर की। यह शैली संस्कृत शब्दों के साथ बोलचाल के फारसी शब्दों को भी पचा लेती थी। भारतेन्दु की प्रधान रचनाएँ इसी शैली में हैं। इनमें रस की दृष्टि से शैली का प्रयोग प्रथम बार हुआ है।

भारतेन्दु के बाद कोई एक प्रधान शक्ति गद्य क्षेत्र में नहीं रही। यह अवश्य था कि उनकी शैली का अनुकरण अनेक लेखकों ने सफलता से किया परन्तु कुछ नेतृत्व के न होने और कुछ नवीन विकसित दृष्टिकोणों के कारण भारतेन्दुकाल के लेखकों में वैयक्तिकता की मात्रा बहुत अधिक रही। इससे एक लाभ तो यह हुआ कि साहित्य-क्षेत्र में अनेक शैलियों का जन्म हुआ परंतु एक हानि यह हुई कि एक व्यापक शैली कुछ दिनों के लिए नष्ट हो गई। इस समय की शैली की एकरूपता का कारण पत्रों का विकास भी था। अधिकांश साहित्य सेवी अपना एक पत्र क्षेत्र में लाये। जो नहीं लाये वे भी पत्रों में लिखने लगे। इससे साहित्यिक विद्वेष और खंडन-मंडन को स्थान मिला। एक तरह से हिन्दी के विकास के लिये यह आवश्यक भी था। १९वीं शताब्दी के अन्त तक पत्र-पत्रिकाओं का यह अनिश्चित क्रम जारी रहा। साहित्य में नेतृत्व करनेवाला कोई न था। बँगला के अनुवाद आरम्भ हो गये थे। साहित्य का शैली पर इनकी भाषा का प्रभाव पड़ने लगा था और व्याकरण आदि के प्रयोग में अनिश्चितता आती जाती थी। अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार हो गया था और लेखक अंग्रेजियत की छाप हिन्दी पर लगाने लगे थे।

शैली के आधुनिक साहित्यिक काल का पूर्वार्द्ध कुछ अधिक श्रेयस्कर नहीं दिखाई पड़ता। यह अवश्य है कि पत्रकारों द्वारा हमें शैली के अनेक साहित्यिक प्रयोग मिलते हैं। अनेकरूपता और व्यंगपरिहास की दृष्टि से हिन्दी गद्य कभी इतना प्रौढ़ और महत्त्वपूर्ण नहीं हुआ जितना वह आधुनिक काल के पूर्वार्द्ध में था।

हिन्दी साहित्य में गद्य का महत्त्व १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से आरम्भ हुआ परन्तु हमारे यहाँ पद्य का महत्व अधिक माना जाता था और इसलिये गद्य को अपना स्थान बनाने में लगभग आधी शताब्दी का समय लगा। गद्य के विकास का सबसे महत्वपूर्ण कारण यह था कि सामयिक जीवन में काव्य का स्थान रह ही नहीं गया था। विज्ञान ने शंकालु हृदय उत्पन्न कर दिये थे और धार्मिकता का स्थान लौकिकता ने ले लिया था। आर्थिक समस्या बहुत महत्वपूर्ण हो गई थी और इसने साहित्यकों के दृष्टिकोण में एकदम परिवर्तन उपस्थित कर दिया। इसके अतिरिक्त पश्चिम से जो विषय हमें प्राप्त हुए और जीवन को देखने का जो दृष्टिकोण मिला, उनके लिए गद्य का आश्रय लेकर चलना आवश्यक था। इसीसे आधुनिक काल में हम लौकिक साहित्य की सृष्टि देखते हैं। यह सब साहित्य गद्य में है और अनेक रूपों में प्रकाशित हुआ है। हमारा साहित्य कभी भी इतने विभिन्न रूपों और माध्यमों में प्रकाशित नहीं हुआ था। प्रयोग की इस बहुलता के कारण शैलियों के अनेक भेद हो गये।

साहित्य के विभिन्न अंग अपनी अभिव्यक्ति के लिए विभिन्न शैलियाँ चाहते हैं। नाटक और उपन्यास की शैली समान नहीं होती। इसी प्रकार उपन्यास और कहानी के आकार-प्रकार के अन्तर से भाषा शैली में भी भेद हो जाता है। किसी एक नाटक या उपन्यास में भी रसात्मकता और पात्रों के व्यक्तित्व की

विभिन्नता के कारण लेखक को अनेक प्रकार की शैलियों का प्रयोग करना पड़ता है। रस, पात्र, विवेचना और कलात्मक प्रभाव की दृष्टि से उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में शैलियों के अनेक महत्वपूर्ण प्रयोग हुए।

संक्षेप में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के प्रारम्भ में मोटे रूप से साहित्य में अभिव्यक्ति के दो ढंग थे। एक में साहित्यकता की मात्रा अधिक थी और उसका प्रयोग मुख्यतः पाठ्य पुस्तकों और साहित्यिक लेखों में होता था। दूसरा ढंग पत्रकारों ने ग्रहण किया और धीरे-धीरे एक हिन्दी उर्दू मिश्रित शैली विकसित की। इसमें उपयोगिता पर अधिक ध्यान रखा गया, साहित्यिकता पर बहुत कम। बाद में अनेक साहित्यिक आन्दोलनों के फलस्वरूप साहित्यिक और पत्रकार पास-पास आ गये और उनकी शैलियों में भी अधिक एकरूपता होती गई। इस एकरूपता का एक कारण यह भी था कि अधिकांश लेखकों को अपने साहित्य को पत्रों द्वारा साधारण जनता के लिये प्रकाशित करना पड़ता था। साधारण जनता भी धीरे-धीरे साहित्यिकता की माँग करने लगी थी।

३१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

(१) भारतेन्दु का भाषा परिमार्जन सम्बन्धी कार्य (२) हिन्दी उर्दू का संघर्ष और भारतेन्दु (३) भारतेन्दु के परिष्कृत गद्य का रूप (४) पद्य के क्षेत्र में भाषा-संस्कार (५) भारतेन्दु द्वारा हिन्दी साहित्य के अंतरंग में क्रांति की आयोजना हुई (६) भारतेन्दु काव्य में नवीन विषय—देशभक्ति, समाज-सुधार (७) प्रकृति के प्रति भारतेन्दु का दृष्टिकोण।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र हिन्दी प्रदेश के नवीन जागरण और आधुनिक हिन्दी साहित्य के पिता हैं। गद्य और पद्य दोनों के क्षेत्र में उनकी सेवायें अमूल्य हैं।

भारतेन्दु का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है गद्य और पद्य की भाषा का परिमार्जन। इनमें गद्य की भाषा का परिमार्जन विशेष महत्त्वपूर्ण है। भारतेन्दु से पहले हिन्दी गद्य का नवीन खड़ी बोली रूप जनता के सामने आ अवश्य गया। था परन्तु उसका कोई भी रूप स्थिर नहीं हुआ था। १९वीं शताब्दी के आरम्भ होते हुए ही मुंशी सदासुखलाल, इशाअल्लाखाँ, लल्लूलाल और सदल मिश्र की खड़ी बोली गद्य की रचनाएँ हमारे सामने आती हैं, परन्तु उनमें आपस में तो विभन्नता है ही उनमें से किसी की कोई परम्परा ही नहीं बनी। लल्लूलाल की भाषा में ईसाइ पादरियों ने थोड़ा-बहुत गद्य अवश्य लिखा, परन्तु साहित्य और प्रचार की दृष्टि से उसका भी कोई विशेष महत्त्व नहीं था। इंशाअल्लाखाँ का गद्य "बाजीगरी" की दृष्टि से लिखा गया था। लेखक का दावा था—

"एक दिन बैठे-बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिये कि जिसमें हिन्दी की छुट और किसी बोली की पुट न मिले, तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप से खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ उनके बीच में न हो। "हिन्दवीपन" भी न निकले और भाखापन भी न हो। बस जितने भले लोग आपस बोलते-चालते हैं, ज्यों का त्यों वहीं डौल रह और छाँह किसी की न दे........।"

स्पष्ट है कि इस प्रकार की भाषा व्यवहार की भाषा नहीं हो सकती थी। लल्लूलाल की भाषा के विषय में भी यहीं बात कही जा सकती है। उसमें पण्डिताऊपन, कथाबाचकपन और ब्रजभाषापन की ऐसी खिचड़ी थी जिसने उसे एकदम अव्यावहारिक बना दिया था। सदासुखलाल और सदल मिश्र ने अवश्य व्यवहार-योग्य, चलती भाषा का नमूना तैयार किया था परन्तु

पण्डिताऊपन और प्रान्तीय भाषा के सम्मिश्रण से वे भी बच नहीं सके थे। सुखसागर की खड़ी बोली उस ढंग की है जिस ढंग की संस्कृत के पंडित काशी, प्रयाग आदि पूरब के नगरों में बोलते हैं। यद्यपि मुंशी जी खास दिल्ली के रहनेवाले थे और उर्दू के अच्छे कवि और लेखक थे, पर हिन्दी गद्य के लिये उन्होंने पंडितों की ही बोली ग्रहण की। "स्वभाव करके वे दैत्य कहलाये", "उसे दुख होयगा", "बरकानेवाले बहुत हैं", इस प्रकार के प्रयोग उन्होंने बहुत किये हैं। रहे सदल मिश्र, उनकी भाषा में पूरबीयापन बहुत अधिक है। "जो" के स्थान पर "जौन", "माँ", के स्थान पर "महतारी", "यहाँ", के स्थान पर "इहाँ", "देखूँगी" के स्थान पर "देखौंगी" ऐसे शब्द बराबर मिलते हैं। इसके अतिरिक्त ब्रजभाषा या काव्य भाषा के ऐसे-ऐसे प्रयोग जैसे "फूलन के" "चहुँदिशि", "सुनि" भी लगे रह गये हैं।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, इनमें से किसी की परंपरा नहीं चली। आधी शताब्दी बीतने के बाद राजा शिवप्रसाद और लक्ष्मणसिंह ने स्वतन्त्र रूप से दो नई शैलियों का अनुसाधन किया। राजा शिवप्रसाद की भाषा में पहले "हिन्दीपन" ही अधिक था, परन्तु धीरे-धीरे उसमें अरबी-फारसी शब्दों की मात्रा बढ़ती गई। राजा लक्ष्मणसिंह का लक्ष्य था ठेठ और विशुद्ध हिन्दी जिसमें संस्कृत की प्रधानता हो। संस्कृत महाकाव्य "रघुवंश" के अनुवाद के प्राक्कथन में उन्होंने कहा था—हमारे मत में हिन्दी और उर्दू दो बोली न्यारी-न्यारी हैं। हिन्दी इस देश के हिन्दू बोलते हैं और उर्दू यहाँ के मुसलमानों और फारसी पढ़े हुये हिन्दुओं की बोलचाल है। हिन्दी में संस्कृत के पद बहुत आते है, उर्दू में अरबी-फारसी के। परन्तु कुछ

आवश्यक नहीं कि अरबी-फारसी के शब्दों के बिना हिन्दी न बोली जाय और न हम उस भाषा को हिन्दी कहते हैं जिसमें अरबी-फ़ारसी के शब्द भरे हों।"

फलतः दोनों गद्यकार अपनी-अपनी हठ पर अड़े रहे और जहाँ राजा शिवप्रसाद की भाषा और उर्दू में लिपि के सिवा और कोई भेद नहीं रह गया वहाँ राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा इतनी संस्कृत गर्भित हो गई कि वह एकदम अव्यावहारिक थी। यह परिस्थिति संवत् १९३० (१८७३ ई०) तक रही जब बाबू हरिश्चन्द्र ने "हरिश्चन्द्र मैगजीन" के साथ व्यावहारिक हिन्दी की नींव डाली और लेखक निर्माण के द्वारा उसकी परम्परा स्थापित की। इससे पहले भारतेन्दु कई नाटक लिख चुके थे, परन्तु तब तक भाषा-सम्बन्धी किसी निश्चित सिद्धांत पर वे नहीं पहुँचे थे।

भारतेन्दु ने प्रांतीय शब्दों और प्रयोग को एकदम तिलांजलि दे दी। पंडिताऊपन को भी उन्होंने दूर रखा। उन्होंने संस्कृत और अरबी-फारसी के झमेले से बीच का मार्ग पकड़ा। उन्होंने इतने संस्कृत शब्द और फारसी-अरबी के शब्द आने दिये जिनसे भाषा में हिन्दीपन बना रहता और वह इन भाषाओं से अनभिज्ञ पाठकों को दुरूह न हो जाती। यह सचमुच कठिन काम था जिसमें सफलता का अर्थ था ऐसी भाषा का जन्म जिसकी उर्दू से स्वतंत्र अपनी सत्ता हो। ऐसी भाषा गढ़ने का श्रेय भारतेंदु को ही मिला। उनके समकालीन लेखकों ने भाषा संस्कार सम्बन्धी उनके महत्त्व को स्वीकार कर उस हिन्दी पर, जिसका उन्होंने समाचार-पत्रों और पुस्तकों की गद्य में प्रयोग किया, उनकी छाप देकर उसे 'हरिश्चन्द्री हिन्दी" कहा। आज की खड़ी बोली इसी हरिश्चंद्री हिन्दी का विकसित रूप है।

भारतेन्दु ही पहली बार वाक्यों के रखने के ढंग में सफाई लाये। उनके पहले के लेखक सारे वाक्य एक में ही गूँथते चलते थे, यह नहीं देखते थे कि वे गुँथ भी सकते हैं या नहीं। उन्होंने संयोजक अव्ययों और विरामों का प्रयोग राजा लक्ष्मण-सिंह और राजा शिवप्रसाद से भी अच्छा किया।

यही नहीं, पद्य के क्षेत्र में उन्होंने भाषा संस्कार की चेष्टा की और वे सफल हुये। भारतेन्दु की पद्य की भाषा के रूप में खड़ी बोली मान्य नहीं थी। वे ब्रजभाषा के भक्त थे। उस समय काव्य की भाषा में कई दोष आ गये थे। १—काव्यभाषा व्यवहार की ब्रजभाषा से दूर जा पड़ी है, २—उसमें चक्कवै, ठायो, करसाइल, ईठ, दीह, ऊनो, लोय जैसे रूढ़, अप्रचलित शब्दों का प्रयोग होता था जिससे वह सर्व-साधारण के लिये दुरूह हो गई थी, ३—सूरदास के समय से ही काव्य में प्रयुक्त भाषा को "तोड़ना-मरोड़ना" चला आता था। बिहारी, घनानन्द आदि कुछ ब्रजकवियों को छोड़ कर शेष ने शब्दों का तोड़-तोड़ कर उनका रूप ऐसा विकृत कर दिया कि उन शब्दों के मूल-स्वरूप तक पहुँचना ही असम्भव था। भारतेन्दु ने इन तीनों दोषों को अपनी काव्यभाषा से दूर कर दिया। इसी कारण उनके

आजु लौं जो न मिले तो कहा, हम तौ तुम्हरे सब भाँति कहावै।
मेरो उराहनो है कछु नाहि सबै फल आपने भाग को पावै।
जो हरिचन्द्र भई सो भई अब प्रान चले चहैं तासो सुनावै।
प्यारे जू! है जग की यह रीति, बिदा के समय सब कंठ लगावै।

जैसे चलती भाषा में लिखे छन्द जनता की जिह्वा पर नाचने लगे। १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध की ब्रज भाषा कविता पर हरिश्चन्द्र की भाषा, कविता शैली और प्रकाशन भंगिमा का बहुत प्रभाव है।

परन्तु वाह्यांग ही नहीं, उन्होंने हिन्दी साहित्य के अंतरंग में भी क्रांति कर दी। वह संक्रांतियुग में उत्पन्न हुए थे और अनेक प्रकार की प्राचीन परंपराओं और रूढ़ियों से बँधे हुए थे। उनके शृंगारी और भक्तिपूर्ण कविताओं में रीति साहित्य और हिन्दी साहित्य की परम्परा ही मिलेगी, परन्तु इसमें भी कोई संदेह नहीं कि भारतेन्दु ने ही हमारे साहित्य को नये-नये विषयों की ओर उन्मुख किया। काव्य साहित्य में देशभक्ति रंजित और समाज सुधार गर्भित रचनाओं को प्रमुख स्थान देना इस बात को बतलाता है कि वह सामयिकता को पकड़ कर चले थे और उनका हृदय युग के साथ-साथ स्पंदन कर रहा है। उनके समय में युग बदल गया। देश में नई-नई भावनाओं का संचार हो गया था, परन्तु काव्य और साहित्य प्राचीन पगडंडी पर ही चल रहे थे। उन्मुक्त वातावरण से उसका परिचय ही नहीं हुआ था। इसीलिए शिक्षित जनता साहित्य से दूर रहती थी। हरिश्चन्द्र ने इस परिस्थिति को देखा-समझा और साहित्य में अत्यंत साहस से उन समस्त नवीन विषयों का समावेश किया जो शिक्षित समाज को प्रिय हो चले थे। उनका अपना दृष्टिकोण भी अत्यंत विकसित और सुधारवादी था। स्त्री शिक्षा के सम्बन्ध में उन्होंने कहा--

पित पति सुत करतल कमल लालित ललना लोग
पढ़ैं गुनैं सीखैं सुनैं नासैं सब जग सोग
वीर प्रसविनी बुध वधू होइ दीनता खोय
नारी नर अरधंग की साँचहि स्वामिनि होय

साम्प्रदायिक विद्रोह और सामयिक कुरीतियों पर भी उनकी दृष्टि पड़ी और उन्होंने स्पष्ट रूप में कहा :--

रचि बहु विधि के वाक्य पुरातन माँहि घुसाये
शैव शाक्त वैष्णव अनेक मत प्रगट चलाये

जाति अनेकन करी ऊँच अरु नीच बनायो
खानपान सम्बन्ध सबनि सों बीजि छुड़ायो
करि कुलीन के बहुत ब्याह बल बीरज मारयो
विधवा ब्याह निषेध कियो विभिचार प्रचारयो

इस दुरवस्था से आर्त्त होकर उन्होंने आर्य मग, आर्य संस्कृति के लिये व्याकुल होकर परमात्मा से प्रार्थना की—

कहाँ गये विक्रम भोज राम बलि कर्ण युधिष्ठिर
चंद्रगुप्त चाणक्य कहाँ नासे करिकै थिर
कहाँ क्षत्र सब मरे जरे सब गये किते गिर
कहाँ राज का तौन साज जेहि जानत है चिर
कहँ दुर्ग सैन धन बन गयौ धूरहिं धूर दिखात जग
जागो अब तो खल बल दलन रक्षहु अपुनो आर्यमग

इस प्रकार यह सिद्ध है कि उन्होंने कविता को एक नये मार्ग पर खड़ा कर दिया। नील देवी, भारत दुर्दशा आदि नाटकों में लिखी कविताएँ, "विजय वैजयन्ती" आदि, उन्हें सचमुच क्रांतिदृष्टा कवि सिद्ध करती हैं। उन्होंने मर्म पर चोट करके भारत को ललकारा था :—

सब भाँति दैव प्रतिकूल होय एहि नासा।
अब तजहु बीरवर भारत की सब आसा॥
अब सुख सूरज को उदय नहीं इत ह्वै है।
मंगलमय भारतभुव मस्तन ह्वै जैहै॥

उन्होंने ही पहली बार "हाय भारत" कह कर पुकारा--
हाय वहै भारत भुव भारी। सबही विधि सों भई दुखारी॥
हाय पंचनद, हा पानीपत। अजहुँ रहे तुम धरनि विराजत॥
हाय चितौर, निलज तू भारी। अजहुँ खरी भारतहि मँझारी॥

तुममें जल बहि गंगा जमुना। बढ़हु बेगि किन उबल तरंगा॥
बोरहु किन झटि मथुरा कासी। धोवहु यह कलंक की रासी॥

यह अवश्य है कि उन्होंने प्रकृति को किसी नये रूप में नहीं देखा, वस्तु वर्णन और उद्दीपन के प्रचलित रूप में भी उन्होंने प्रकृति का बहुत कम वर्णन किया, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि उन्होंने समाज के नये बदलते हुए रूप को देखा और अपने युग को पहचाना। आज हिन्दी कविता उन्हीं के दिखलाये हुये पथ पर बढ़ रही है।

३२. भारतेन्दु की भाषा-शैली

(१) भारतेन्दु पूर्वकाल की भाषा शैली (२) भारतेन्दु की सामञ्जस्य उपस्थित करने की चेष्टा (३) भारतेन्दु की दो प्रिय शैलियाँ (४) भारतेन्दु की शैली उनके समसामयिकों के हाथ में (५) भारतेन्दु के नाटकों की शैलियाँ और परवर्ती नाटक साहित्य पर उनका प्रभाव।

भारतेन्दु पूर्व काल में भाषाशैली के विषय में लोगों का दृष्टिकोण निश्चित नहीं था। प्रान्तीयता की प्रधानता थी। जो लेखक जिस प्रान्त का होता, वह उसकी बोली से अपने गद्य को भर देता था। इस प्रकार भाषाशैली का निश्चित रूप कोई नही बन पड़ता था। लेखकों का भाषाशैलियों में बड़ा भेद रहता। इंशा, लल्लूलाल जी और सदल मिश्र की भाषा शैलियों को देखने से यह बात स्पष्ट हो जायगी। इंशा की भाषा पर लखनऊ की बोली का प्रभाव है तो लल्लू जी की भाषा पर ब्रज की बोली का। इंशा लखनऊ में रहते थे, लल्लूलाल जी आगरे में। एक दूसरी बात यह थी कि इससे पहले गद्य का प्रयोग टीकाओं के लिए और पण्डितों द्वारा मौखिक रूप से कथा के लिए चल पड़ा था। टीकाओं की भाषा पण्डिताऊ और

शैली संस्कृत अन्वय के ढङ्ग की थी। कथा-पाठ की शैली तो आज के पण्डित-वर्ग में चल रही है और हम उसके रूप से भली भाँति परिचित हैं। इस पंडिताऊ शैली की ओर भी पण्डितों को बार-बार झुकना पड़ता था। सदल मिश्र की भाषा के पण्डिताऊपन को दृष्टि की ओट नहीं किया जा सकता। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस समय हिन्दी गद्य प्रांतीयता के मोह और संस्कृत भाषाशैली के ढङ्ग के भाषा संस्कार (पण्डिताऊपन) के बीच में से गुजर रहा था। इन दो महत्त्वपूर्ण बातों के अतिरिक्त एक बात यह भी थी कि उस समय तक पद्य की प्रधानता होने के कारण लेखक गद्य लिखते समय पद्य की ओर झुक जाते थे। संस्कृत-काव्य से परिचित लोगों को अलंकार प्रयोग, अनुप्रास, शब्दालंकारों के चमत्कार और समास के प्रति भी मोह था। कादम्बरी की भाषा उन्हें अपनी ओर खींचती थी। उर्दू गद्य में भी इस समय मुसज्जा और मुक्फ्फा गद्य की प्रधानता थी। इसको देख कर हिन्दी में अन्त्यानुप्रास का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। वैसे थोड़ी-बहुत तुकबंदी (वाक्यखंडों अथवा वाक्यों के अंत में तुक का प्रयोग) पण्डित गद्य में चली आती थी। यह दोष राजा शिवप्रसाद ने दूर करना चाहा परन्तु वे असफल रहे। इसका कारण यह था कि सरकारी क्षेत्र में उनका प्रभाव चाहे जितना हो गद्य लेखकों में उनका प्रभाव अधिक नहीं था। फल यह हुआ कि इन दोषों और शैलियों के साथ ही उनकी भी एक शैली प्रतिष्ठित हो गई। इस उनकी शैली के भी अपने दोष थे—अधिक संख्या में उर्दू-फारसी शब्दों का प्रयोग और वाक्यों की रचना उर्दू के ढंग पर। राजा साहब की इस शैली का विरोध भी खूब हुआ जिसने एक नई परिस्थिति उत्पन्न कर दी। हिन्दी लेखकों का एक वर्ग

संस्कृत शब्दों, संस्कृत प्रयोगों और संस्कृत ढंग पर वाक्य-रचना की ओर मुड़ा। यह प्रतिक्रिया थी। इसके फलस्वरूप जिस भाषा का प्रयोग हुआ वह तत्समगर्भित, साधारण बोल-चाल से दूर और क्लिष्ट थी। उसमें मुहावरों का प्रयोग नहीं होता था और कहावतों का नाम भी नहीं। बोल-चाल के शब्द ग्रामीण समझ कर दूर रखे जाते। इस भाषा-शैली के प्रतिनिधि राजा लक्ष्मणसिंह थे।

संक्षेप में, भाषा और शैली के सम्बन्ध में यही परिस्थिति थी। रस पुष्टि के रूप में भाषा का प्रयोग बहुत ही कम हुआ था, वैज्ञानिक विषयों की ओर प्रवृत्ति और टेक्स्टबुक सुसाइटी आदि के अनुवादों के कारण सरल सुबोध भाषा-शैली ने जन्म अवश्य ले लिया था परन्तु उसका प्रयोग स्कूल कालेजों से बाहर नहीं हुआ था। बाहर के क्षेत्र में प्रान्तीयता, पण्डिताऊपन, उर्दू-फारसी और संस्कृत शब्दावली मंडित भाषा और शैली का प्राधान्य था। प्रतिदिन के व्यवहार के शब्द और मुहावरे उपेक्षित थे।

भारतेन्दु ने सामञ्जस्य उपस्थित करने की चेष्टा की। उन्होंने बोल-चाल की भाषा को अपना लक्ष्य बनाया। इसीलिए उन्होंने ऐसी भाषा-शैली की सृष्टि की जिसमें तत्सम शब्दों का अभाव था। जो तत्सम शब्द आते थे, वे चाहे फारसी के हों, अरबी के हों या संस्कृत के, अपने विकृत रूप में तद्भव बन कर आते। इसके अतिरिक्त उन्होंने उन उर्दू शब्दों का प्रयोग किया जो प्रतिदिन के व्यवहार में आकर हिन्दी शब्द-कोष में सम्मिलित होगये थे। शब्द-कोष-सम्बन्धी एक अत्यन्त संयत दृष्टिकोण को उन्होने अपने सामने रखा।

भारतेन्दु ने जिसके सम्बन्ध में कहा है--"हिन्दी नई चाल से ढली सन् १८७३ ई०" वह भाषा-शैली उनकी शुद्ध हिन्दी ही

है। १८८४ ई० में भारतेन्दु ने "हिन्दी भाषा" शीर्षक एक निबन्ध लिखा है जिसमें उन्होंने अपने समय की भाषा-शैलियों पर विचार किया है और अपनी दो प्रिय शैलियों का उल्लेख किया (१) जो शुद्ध हिन्दी है--उन्होंने अधिकांश गद्य, विशेषकर अपने नाटकों का गद्य, इसी शैली में लिखा। साधारण और सरल विषयों पर लेख लिखते समय भी उन्होंने इसी शैली को अपनाया। परन्तु यह शैली उन्हें सर्वत्र मान्य नहीं थी। ऐतिहासिक और विवेचना-सम्बन्धी विचारपूर्ण और गम्भीर विषयों में इससे काम नहीं चल सकता था। ऐसे अवसरों पर कुछ अधिक तत्सम शब्द चाहिए चाहे वे किसी भाषा के हों। भारतेन्दु ने तत्सम शब्द संस्कृत से लिए। उनकी दूसरी शैली नं० २ वह है जिसमें संस्कृत के शब्द थोड़े हैं।

परन्तु जब कोई लेखक तत्सम शब्दों का प्रयोग करना आरंभ कर देता है तो वह ठीक-ठीक नहीं जानता कि उसे कहाँ जाकर रुकना है। यह बात भारतेन्दु के सम्बन्ध में भी लागू रही। उनके कुछ लेख ऐसे भी हैं जिनमें संस्कृत शब्द बहुत अधिक मिलते हैं। भारतेन्दु न राजा शिवप्रसाद की फारसी-अरबीप्रधान भाषा चाहते थे, न राजा लक्ष्मणसिंह की संस्कृतप्रधान भाषा ही उन्हें प्रिय थी। उन्होंने सामञ्जस्य से आरम्भ किया परन्तु शीघ्र ही गद्य उनके हाथ से निकल कर अन्य लेखकों के हाथ में गया। लाला श्री निवासदास, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बदरीनारायण चौधरी "प्रेमघन" ने प्रचुर गद्य साहित्य उपस्थित किया और उपन्यास, नाटक और निबन्ध साहित्य की रचना की। विषयों और रुचियों की विभिन्नता के अनुसार इनका गद्य भी भिन्न है। यह सब भारतेन्दु मंडली के लेखक कहे जाते हैं परन्तु भारतेन्दु के गद्य की छाप होते हुए भी इन सबका गद्य अनेक

रूपों में स्वतन्त्र है। उदाहरण के लिए, श्री निवासदास के गद्य में उर्दू शब्दावली नहीं के बराबर है और संस्कृत शब्दों का प्राधान्य है परन्तु प्रतापनारायण मिश्र के लेखों में संस्कृत और फारसी दोनों प्रकार की शब्दावली का समप्रयोग पाते हैं। उन्होंने शैली को सरस और सजीव बनाने की बड़ी चेष्टा की। इससे वे उर्दू शब्दावली को त्याग नहीं सकते थे। भट्ट जी बोलचाल के अधिक निकट रहते थे। चौधरी जी की भाषा संस्कृत के तत्सम शब्दों से भरी पड़ी है। उन्होंने ही पहली बार संस्कृत के अध्ययन के आधार पर कला के अनुसार भाषा को गढ़ना और उनके अपने शब्दों में अपनी शैली को "सुडौल और सुन्दर" बनाना प्रारम्भ किया। अनुप्रास चमत्कार और ध्वन्यात्मक सौन्दर्य उनकी भाषा-शैली को उनके समकालीन लेखकों की भाषा-शैली के समक्ष विचित्र-सा बना देते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारतेन्दु के नई शैली चलाने (१८६३) के कुछ वर्ष बाद शैली उनके हाथ से निकल कर संस्कृत पण्डितों तक पहुँच गई थी। भाषा की आवश्यकताएँ भी बढ़ गई थीं। वह अत्यन्त शीघ्रता से प्रौढ़ हुई। भारतेन्दु के अंतिमकाल के लेखों से स्पष्ट है कि उनके समकालीन लेखकों की संस्कृतगर्भित भाषा का प्रभाव उन पर भी पड़ा और उन्होंने अधिक-अधिक संस्कृत शब्दों का प्रयोग किया। उन्होंने गद्य शैली की स्वाभाविक प्रवृत्ति को समझ लिया था। उनके "नाट्यरचना" शीर्षक लेख में इसी प्रकार की संस्कृतप्रधान शैली का प्रयोग हुआ है। कदाचित् इसका एक और भी कारण था। उनका विषय अत्यन्त गम्भीर था। उसमें संस्कृत के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग आवश्यक था और ऐसी दशा में उनकी शैली न शुद्ध हिन्दी हो सकती थी, न ऐसी हिन्दी जिसमें तत्सम शब्दों का प्रयोग कम

हो। इस लेख से स्पष्ट है कि यदि भारतेन्दु जी अधिक जीवित रहते तो उनकी गम्भीर और प्रौढ़ साहित्यिक रचनाएँ इसी शैली में होती। भाषा को सरल करने की प्रवृत्ति बुरी नहीं थी, ऐसी प्रवृत्ति ही हिंदुस्तानी के मूल में रही है, परन्तु उसको बनाए रखना कठिन था।

भारतेन्दु के नाटकों में शैली का प्रयोग अनेक दृष्टिकोणों से हुआ है और परवर्ती रचनात्मक साहित्य पर उसका प्रभाव कम नहीं पड़ा है। भाषा क्लिष्ट न हो जाय, इस विषय में वे विशेष सतर्क हैं। इसके लिए जहाँ वे शुद्ध भाषा की दृष्टि से शुद्ध हिन्दी का प्रयोग करते हैं, वहाँ भावों की दृष्टि से वे अत्यन्त प्रचलित भाव ही सामने रखते हैं और जहाँ पौराणिक कथाओं आदि को इंगित करना होता वहाँ वे यह ध्यान रखते कि वे जनप्रसिद्ध हों। उनकी अधिकांश भाषा चित्रप्रधान है जिसमें उन्होंने अत्यन्त सुन्दर चित्रों को बड़ी सफलता के साथ अङ्कित किया है—

"सखी, सचमुच आज तो इस कदम्ब के नीचे रङ्ग बरस रहा है। जैसी समा बँधी है वैसी है झूलने वाली है। झूलने में रङ्ग-रङ्ग की साड़ी की अर्द्ध चंद्राकार रेखा इंद्रधनुष की छवि दिखाती है। कोई सुख से बैठी झूले की ठंडी-ठंडी हवा खा रही है, कोई गाँती बाँधे, लाँग कसे पेंग मारती हैं, कोई गाती हैं, कोई डर कर दूसरों के गले में लपट जाती हैं, कोई उतरने को अनेक सौगन्ध देती हैं, परंतु दूसरी उसको चिढ़ाने को झूला और भी झोंके से झुला देती है।"

यही नहीं, उनकी शैली भाव के पीछे-पीछे चलती है। भावों के उत्थान-पतन को प्रकट करने में वे अत्यन्त सफल हैं। इस गुण को रागात्मकता कहा जा सकता है। भावानुकूल शैली लिखने में उन्नीसवीं शताब्दी का कोई भी लेखक भारतेन्दु के जोड़

का नहीं। आवेशपूर्ण स्थलों पर भारतेन्दु छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग करते हैं, उनका गठन भी एक ही प्रकार का होता है। उनमें प्रवाह की मात्रा बहुत रहती है। ऐसे स्थलों पर सरल शब्दों का प्रयोग करते हैं, प्रचलित उर्दू शब्दों को भी नहीं छोड़ सकते यद्यपि उनकी संख्या बहुत कम रहती है। भाषा बोलचाल के अधिक निकट रहती है। सारे पद की गति अत्यन्त क्षिप्र। साधारण वर्णनात्मक वाक्यों के साथ प्रश्नवाचक अथवा विस्मयादि सूचक वाक्यों का प्रयोग अवश्य होता है। जहाँ इस प्रकार के वाक्य नहीं भी होते वहाँ प्रश्नसूचक अथवा विस्मयादि बोधक कुछ शब्द अवश्य रखे रहते हैं। ऐसे स्थलों पर भारतेन्दु नये-नये संबोधन गढ़ते हैं और मुहावरों एवं अलंकारों का प्रयोग प्रचुरता से करते हैं। जहाँ लम्बे वाक्यों का प्रयोग होता है वहाँ वे शिथिल होते हैं और वाक्यांशों में एक प्रकार की लय होती है। संक्षेप में, भाषा ऐसी होती है जो ऐसे असंयत अवसरों पर बोली जाती है—

"झूठे! झूठे! झूठे!! झूठे ही नहीं वरंच विश्वासघात क्यों इतनी छाती ठोंक और हाथ उठा-उठा कर लोगों को विश्वास दिया? आप ही सब मरते चाहे जहन्नुम में पड़ते। भला क्या काम था जो इतना पचड़ा किया? किसने यह उपद्रव और जल मरने को कहा था?"

क्षोभ के स्थलों पर भारतेन्दु साधु एवं गम्भीर भाषा का प्रयोग करते हैं। वाक्य साधारण वाक्यों से कुछ बड़े होते हैं तथा कहीं-कहीं कोई उद्धरण—विशेषकर किसी कविता का उद्धरण -उनमें मिला होता है। साथ ही चिंतना भी चलती रहती है। परन्तु भारतेन्दु करुण-रस और शृंगार-रस में सबसे अधिक सफल हैं। करुण-रस के अवसर उनके वाक्य अत्यन्त छोटे होते हैं। एक ही भाव की कई वाक्यों में पुनरुक्ति भी हो जाती है।

भाषा सरल बोलचाल की जिसमें न कहीं तोड़मरोड़, कहीं कृत्रिमता। प्रत्येक शब्द शोक को व्यंजना करता है—

"हाय-हाय रे! अरे मेरे लाल को साँप ने सचमुच डस लिया! हाय लाल! हाय रे! मेरे आँखों के उजियाले को कौन ले गया! हाय मेरा बोलता सुग्गा कहाँ उड़ गया। बेटा! अभी तो बोल रहे थे, अभी क्या हो गया! हाय मेरा बसा घर किसने उजाड़ दिया। हाय मेरी कोख में किसने आग लगा दी? हाय? मेरा कलेजा किसने निकाल लिया। हाय! लाल! कहाँ गये?"

भारतेन्दु की भाषा संयोग और विप्रलंभ दोनों अवसरों के लिए अत्यन्त उपयुक्त है। परन्तु दोनों अवसरों पर प्रयुक्त शैलियों में भेद है। संयोग के अवसर पर शैली काव्यात्मक एवं चित्रात्मक हो जाती है, तद्भव शब्दों के साथ-साथ संस्कृत तत्सम शब्द भी आते हैं—

"अहा! इस समय जो मुझे आनन्द हुआ है उसका अनुभव और कौन कर सकता है। जो आनन्द चन्द्रावली को हुआ है वही अनुभव मुझे भी होता है। सच है, युगल के अनुग्रह बिना इस अकथ आनन्द का अनुभव और किसको है।" परन्तु विप्रलंभ शृंगार के अवसर पर प्रयुक्त भाषा-शैली में भाषा अधिक नीचे उतर आती है और उसमें प्रान्तीय तथा बोलचाल के शब्दों का प्रयोग अधिक होता है। शैली आत्माभिव्यक्ति की ओर अधिक बढ़ती है और कभी प्रलापपूर्ण बन जाती है। मुहावरों-कहावतों और कविता के उद्धरणों का प्रयोग विशेष रूप से होता है—

"प्यारे, अपने कनौड़े को जगत की कनौड़ी मत बनाओ। नाथ, जहाँ इतने गुण सीखे वहाँ प्रीति निबाहना क्यों न सीखा? हाय, मझधार में डुबा कर ऊपर से उतराई माँगते हो, प्यारे सो भी दे चुकी; अब तो पार लगाओ। प्यारे, सब्र की हद होती है।

हाय ! हम तड़पें और तुम तमाशा देखो। जन-कुटुम्ब से छुड़ा कर यों छितर-बितर करके बेकाम कर देना यह कौन-सी बात है। हाय ! सबकी आँखों में हलकी हो गई। जहाँ जाओ वहाँ दुर-दुर उस पर यह गति। हाय! "भामिनी ते भौंड़ी करी, मानिनी तें मौंड़ी करी कौड़ी करी हीरा तें, कनौड़ी करी कुल तें।"

३३. प्रेमचंद की कहानियाँ

(१) भूमिका (२) उनकी कहानियों में भारतीय संस्कृति की रक्षा का प्रयत्न (३) प्रेमचंद की कहानियों के अनेक वर्ग—सांस्कृतिक कहानियाँ, ऐतिहासिक कहानियाँ, राष्ट्रीय कहानियाँ, सामाजिक कहानियाँ जन आन्दोलनों-सम्बन्धी कहानियाँ, गाँव और नारी की कहानियाँ (४) प्रेमचंद की कहानियों में समाज सुधार (५) प्रेमचंद का मानव प्रकृति का अध्ययन (६) प्रेमचंद की कहानी का "आदर्शोन्मुख यथार्थवाद" (७) प्रेमचंद की कहानियों का विश्लेषण।

प्रेमचंद ने हिन्दी साहित्य को ढाई-तीन सौ कहानियाँ दी हैं। इन कहानियों में उन्होंने जीवन की अनेक समस्याओं पर प्रकाश डाला है। और समाज, राष्ट्र और व्यक्ति के अनेक अंगों को स्पर्श किया है। यदि हम उनकी कहानियों को कला की दृष्टि से देखें तो भी हम अनेक प्रयोग पायेंगे। उन्होंने पूर्व और पश्चिम की विभिन्न शैलियों को हमारे सामने उपस्थित किया है और अनेक स्थान पर अपनी मौलिकता का परिचय भी दिया है। प्रेमचंद की कहानियों की संख्या इतनी अधिक है, उनकी कहानियों का क्षेत्र इतना विस्तीर्ण है और उनके कला का प्रयोग इतने बहुसंख्यक हैं कि उन पर संक्षेप में विचार करना कठिन हो जाता है।

सबसे पहिली बात जो प्रेमचंद की थोड़ी ही कहानियों को पढ़ने के बाद पाठक को स्पष्ट हो जाती है वह यह है कि प्रेमचंद भारतीय-संस्कृति से अच्छी तरह परिचित हैं। वे जानते

हैं हमारी संस्कृति का हृदय कहाँ है और उससे जो जीवनधाराएँ निकलती हैं; वे किस ओर बहती हैं। भारतीय संस्कृति की एक विशेषता यह है कि उसने देह से अधिक आत्मा पर बल दिया है; उसका आधार आध्यात्मिक है, भौतिक नहीं। प्रेमचन्द इस बात को जानते थे। इसीलिए उनकी रचनाओं में दैवीगुणों की प्रधानता है। वे हमें एक बार भौतिकता से हटा कर आध्यात्मिकता की ओर ले जाते हैं। इस प्रकार प्रेमचन्द का एक सांस्कृतिक संदेश है जो उनकी रचना पर भारतीयता की छाप लगा देता है। पश्चिम ने जहाँ हमारे सामने ज्ञान-विज्ञान के अनेक मार्ग रखे वहाँ उसने हमारी आत्मा का रस चूस लिया। हम धीरे-धीरे पुराने आदर्शों से हट गए। हम इस समय संक्रांतिकाल में हैं। यदि इस युग में हम अपने प्राचीन महत् आदर्शों को अपनी आँख की ओट कर देते हैं और पश्चिम के दिखाये हुए मार्ग पर अंधे की तरह बढ़ते चले जाते हैं तो हमारा भविष्य निश्चय ही काला है। प्रेमचन्द ने इस सत्य को हमारे सामने रखा है और हमें चेतावनी दी है। उन्हें प्रत्येक उस बात से प्रसन्नता होती है जो उन्हें पुराने सांस्कृतिक आदर्शों को स्पष्ट करने का अवसर देती है। उन्होंने भौतिकता को स्वीकार करते हुए आध्यात्मिकता से हाथ नहीं धो लिया वरन् इन दोनों सीमाओ के बीच का मार्ग निकालने की चेष्टा की।

प्रेमचन्द की कहानियों के अनेक वर्ग किये जा सकते हैं। इनमें एक वर्ग उनकी सांस्कृतिक कहानियों का भी होगा। इस प्रकार की कहानियों में हम उनकी ऐतिहासिक कहानियों को भी गिन सकते हैं। प्रेमचन्द की प्रतिभा ऐतिहासिक कहानियों में दिलचस्पी नहीं लेती थी। भारतीय इतिहास का उनका इतना अच्छा अध्ययन भी नहीं था, जितना "प्रसाद" का। प्रसाद जब

कोई ऐतिहासिक कहानी लिखते थे तो उस विशेष काल के सम्बन्ध में सूक्ष्म खोज करते थे जिसका सम्बन्ध उनकी कहानी से होता और उस काल की संस्कृति के बिखरे हुए तत्त्वों को कहानी का रूप देकर हमारे सामने रखते थे। वे न कोई सांस्कृतिक सन्देश देना चाहते थे और न कोई भौतिक सन्देश। वे उस काल की संस्कृतिमात्र का चित्र हमारे सामने रख कर अलग हो जाते थे। उनका ध्यान विशेष वातावरण और विशेष मनोविज्ञान पर रहता था। प्रेमचन्द इन सब बातों की ओर ध्यान नहीं देते थे। उन्होंने ऐतिहासिक-कहानियाँ इसलिए लिखीं कि वे भारतीय संस्कृति की विशेषताओं को हमारे सामने उन्हीं के द्वारा रख सकते थे। उन्होंने हमारे इतिहास के ऐसे पृष्ठों को ही चुना जो हमें विशेष सांकृतिक शिक्षा दे सकते थें। उनकी अधिकांश कहानियाँ राजपूतों, मराठों ठाकुरों की कहानियाँ हैं जो बात पर जान देते थे, देश-प्रेम जिनका ईश्वर मन्त्र था, जो शरणागत की रक्षा के लिए सदा तत्पर रहते थे, फिर चाहे वह उनका शत्रु ही क्यों न हो। उन वीरों की स्त्रियाँ बलिदान की मूर्ति हुआ करतीं थीं। अपने सतीत्व की रक्षा करने के लिये वे जलती हुई आग में कूद पड़ती थीं। रण से भागे हुये पति के लिए उनके द्वार बन्द थे। इस प्रकार की सभी कहानियों में चाहे नायक पराजित ही हो चाहे कहानी दुखांत हो परन्तु भौतिक शक्ति के आगे आध्यात्मिक शक्ति कहीं नहीं झुकती। देह के ऊपर आत्मा, तलवार के ऊपर प्रेम और पाप के ऊपर पुण्य की महत्ता स्थापित करना प्रेमचन्द का ध्येय था। यही भारतीय संस्कृति का बीज-मन्त्र भी है।

राजपूतकाल के सिवा प्रेमचन्द ने उत्तर-मुगलकाल और पूर्व अंग्रेजकाल पर भी कहानियाँ लिखी हैं। इन कहानियों में उन्होंने

हमारे सांस्कृतिक पतन के चित्र दिये हैं और समाज के घुनों की ओर इशारा किया है। उनके इन कालों की कहानियाँ राजपूतों की कहानियों के संदेश को और भी जगमग बना देती हैं। जहाँ एक ओर राजपूत योद्धा अपने राजा के लिए और अपने देश के लिए प्राणों का उत्सर्ग करने में भी विलंब नहीं लगाते, वहाँ अवध की नवाबो के विलासतापूर्ण दिनों में मिर्जा और सैयद अपने बादशाह को अपनी आँखों के सामने बन्दी हुआ देख कर भी उत्तेजित नहीं होते, यद्यपि वे शतरंज के बादशाह पर जान दे देते हैं।

प्रेमचन्द की दूसरी कहानियाँ वे हैं जिन पर ऊँचे दरजे का गहरा स्थानीय रंग है। जिस स्थान और जिस समाज का वह चित्रण करते हैं वह हमारे सामने जीवित हो जाता है। प्रेमचन्द की इस प्रकार की कहानियों के हम दो भाग कर सकते हैं— (१) मध्यवित्त नागरिक के घरेलू जीवन की कहानियाँ, (२) गाँव की कहानियाँ। एक तीसरे प्रकार की कहानियाँ उनकी वे कहानियाँ हैं जिनका सम्बन्ध मजदूरों से है। परन्तु उन्होंने मजदूर-वर्ग का चित्रण कहानी से अधिक कहीं अच्छा उपन्यास में किया है।

प्रेमचन्द से पहले जो कहानियाँ लिखी जाती थीं उनमें कल्पना का रंग सत्य के रंग से कहीं गहरा रहता था। वे अधिकतः नागरिक जीवन से सम्बन्ध रखती थीं परन्तु उनका उद्देश्य समाज-सुधार होता था। जीवन के भीतर पैठने की कोई चेष्टा नहीं होती थी और सामाजिक विकारों को मनोविज्ञान का विषय बनाया जाता था। प्रेमचन्द जब क्षेत्र में आये तब उन्होंने पहले-पहल ऐसी कहानियाँ लिखीं जिनका विषय समाज-सुधार था। वे आर्यसमाज के धर्म-सुधार से प्रभावित भी थे। इस क्षेत्र में

भी उनकी कहानियाँ अन्य कहानियों से विशिष्ट हैं। शीघ्र ही उन्होंने अपनी दृष्टि मनोविज्ञान से हटा कर समाज-सुधार पर डाली। उन्होंने मध्यवित्त लोगों और उत्तमवित्त लोगों के मानसिक आध्यात्मिक और आर्थिक संघर्षों के यथार्थ चित्र उपस्थित किए। प्रतिदिन के साधारण जीवन में मनोवैज्ञानिक तत्त्वों की खोज करने वाली दृष्टि उन्होंने पाई थी। उनसे पहले घरेलू जीवन में मनोविज्ञान की स्थापना नहीं हुई थी यद्यपि मनोविज्ञान कहानी का विषय बन गया था।

प्रेमचंद का सबसे अधिक मौलिक क्षेत्र भारतीय गाँव था। प्रेमचंद से पहले देहाती जीवन की कहानियाँ नहीं लिखी गई थीं। देहातों का जीवन भी किसी कहानी का विषय हो सकता है—यह कदाचित किसी लेखक ने नहीं सोचा था। प्रेमचन्द ने इस क्षेत्र को अपनाया और उन्होंने इसका इतना अध्ययन किया कि और लोग उनके पदचिह्नों पर भी न चल सके। आज यदि हम चाहें कि एक विदेशी हमारे देश से भली भाँति परिचित हो जाय तो हम प्रेमचन्द की कहानियों को छोड़ कर उसे क्या देंगे? भारत की नाड़ी कहां दुख रही है?—यह उसके सिवा और किसने अधिक समझा है! भारत का सच्चा प्रतिनिधि उसका किसान है और प्रेमचन्द की कहानियों में उसका सच्चा रूप हमें मिलेगा। प्रेमचंद की देहाती कहानियों को हमें कला और विषय दोनों की दृष्टि से देखना होगा। देहाती किसान की भौतिक और आध्यात्मिक कठिनाइयाँ क्या हैं; जमींदार, महाजन, पुलिस और पटवारी—इन सबके बीच में वह किस तरह पिस जाता है; सामाजिक परंपराएँ उसे क्या कष्ट देती हैं और स्वयम् उसके पराजित भाव किस प्रकार उनके मन में विष की बेल बो देते हैं; वह कैसे उन कष्टों को सहता है और ईश्वर विश्वास के सहारे

अपनी नाव पार लगाना चाहता है; किस प्रकार अन्त में जैसे सारी प्रकृति उसके विरुद्ध हो जाती है--जहाँ पानी का एक छींटा काफी होता, वहाँ प्रलय के बादल टूट पड़ते हैं या आकाश ताँबे की तरह तपता है और एक बूँद पानी नहीं देता। अनावृष्टि है, बाढ़ है, ओला पाला है; फिर पशु हैं जो आँखें बचते ही पकी खड़ी खेती चर जाते हैं और अन्त में परस्पर की ईर्ष्या और द्वेष से उसके महीनों के परिश्रम पर पानी फिर जाता है। किसान इन सभी भौतिक बाधाओं से लड़ता है और एक दिन अन्त में हार कर अपना ईश्वर विश्वास भी खो देता है। प्रेमचन्द ने इन सभी परिस्थितियों में किसान का चित्रण किया है। मनुष्य की आध्यात्मिक विजय यही है कि वह महान् अदृष्ट विरोधी शक्तियों से अंत तक लड़ता है और उसकी हार अवश्यम्भावी होने पर भी हम उसकी आत्मा की महानता के कायल हो जाते हैं।

इन कहानियों के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि उनके लेखक का क्षेत्र संकीर्ण हो जाता है और गाँव, वर्ग विशेष एवं स्थान-विशेष से परिचित पाठक के लिए ऐसी कहानियों का महत्त्व ही नहीं रह जाता क्योंकि उसे उनमें आनन्द नहीं आ सकता। एक हद तक यह बात ठीक हो सकती है और प्रेमचन्द से छोटे कलाकार के हाथ में इस प्रकार की कहानियों का अधिक महत्त्व नहीं होता परन्तु प्रेमचन्द ऊँचे कलाकार हैं। वे यह जानते हैं कि कहानी में विश्वव्यापी मनोवैज्ञानिक तत्त्वों को किस प्रकार स्थापित किया जाता है। उनकी प्रत्येक देहाती या घरेलू कहानी के मूल में मानव जीवन और मानव प्रकृति के ऐसे तत्त्व हैं जो सब स्थान और सब वर्गों के मनुष्यों के लिए एक ही रहते हैं। उन्होंने स्थानीय और समसामयिक घटनाओं को ऊँचे मनो-

वैज्ञानिक सत्य और ऊँचे आदर्श को स्थापित करने का साधन बनाया है। उनकी कहानी में देहात और घर वीथिका मात्र है। साधारण मनुष्य की दृष्टि में प्रतिदिन के जीवन की धाराएँ एक विशेष स्थान और समय तक सीमित रहती हैं परन्तु चिन्तनशील कलाकार उन घटनाओं के पीछे छिपे हुए मनोभावों पर विचार करता है और उनमें ऐसे विश्वजनीन कारणों की स्थापना करता है जो समय और स्थान की सीमा से ऊपर उठे हुए होते हैं। अधिकांश समालोचक प्रेमचंद की घरेलू और देहाती कहानियों को घर और देहात तक सीमित समझकर भूल करते हैं। वे उनके पीछे छिपी हुई विराट् मानवीयता और विश्वजनीनता को नहीं देखते।

एक और महत्त्वपूर्ण बात जो हमें प्रेमचंद में मिलती है वह उनका मानव प्रकृति का गहरा अध्ययन है। उसे दूसरे शब्दों में हम मनोविज्ञान कह सकते हैं। यही मनोविज्ञान प्रेमचंद का बल है। मनुष्य एक ही तरह की घटना से किस तरह प्रभावित होता है? सुख-दुख, हर्ष-शोक, ईर्ष्या-द्वेष, प्रेम-घृणा आदि प्राकृतिक मनोभावों को मनुष्य अपने कार्यकलाप में किस प्रकार प्रकट करता है--ये सब बातें मनोविज्ञान से सम्बन्ध रखती हैं। अपने विशेष व्यक्तित्व के कारण एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से अनेक बातों में अभिन्न है। यही कारण है कि कहानी को विश्वजनीन बनाने और उसमें ऊँचे तत्त्वों की स्थापना करने के लिए कहानी-कार मनोविज्ञान का आश्रय लेता है। प्रेमचंद की कहानियाँ मनोवैज्ञानिक तत्त्वों से भरी पड़ी है।

मनोविज्ञान पर आश्रित होने के कारण ही प्रेमचंद की कहानियों में यथार्थवाद को विशेष स्थान मिला है, उनका दृष्टि-कोण और जीवन के सम्बन्ध में उनके विचार भले ही आदर्श-

वादी हों। यही कारण है कि हम उनकी कहानियों और पात्रों को प्रतिदिन के साधारण जीवन में पा सकते हैं। परन्तु यदि हम ध्यान से देखें तो प्रेमचन्द अपनी प्रत्येक कहानी के अंत में यथार्थवाद से दूर हट जाते हैं। उनकी अधिकांश कहानियों का अंत एक विशेष नैतिक दृष्टिकोण को उपस्थित करता है। उनकी धारणा कदाचित् यह जान पड़ती है कि प्रत्येक भले काम का फल भला होता है। अंधकार पर ज्योति और पाप पर पुण्य की विजय होती है। हम जिस जीवन से परिचित हैं उसमें साधारणतः ऐसा नहीं होता। प्रेमचन्द कहानी के अंत में अपने प्रधान पात्र को सुधार देते हैं और दुखांत की ओर जाती हुई कहानी को सुखांत बना देते हैं। यथार्थवादी प्रेमचन्द को यही उपालंभ देते हैं। परन्तु यदि हम प्रेमचन्द की सब कहानियों का सूक्ष्म अध्ययन करें तो हमें यह स्पष्ट हो जायगा कि प्रेमचन्द की अधिकांश कहानियाँ ऐसी हैं जिनमें अंत किसी दूसरी प्रकार से नहीं हो सकता और वह अस्वाभाविक नहीं लगता। यदि दोष किसी का है तो वह प्रेमचन्द के मूलतः आदर्शवादी दृष्टिकोण का है जिसके कारण वे जीवन में से ऐसी परिस्थितियाँ चुनते हैं जिनका अंत सुखमय हो। वे अपने चरित्र-चित्रण और कथा-वस्तु में यथार्थवादी हैं परन्तु दृष्टिकोण में आदर्शवादी। फिर भी प्रेमचन्द की अनेक कहानियाँ ऐसी हैं जिनमें उनकी सुधारक प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं और इसी कारण इस प्रकार की कहानियों का अंत कुछ अप्राकृतिक हो जाता है। ऐसा जान पड़ता है कि कहानीकार अपनी कहानियों के द्वारा कुछ विशेष नैतिकतत्त्वों का प्रतिपादन करना चाहता है। कला की दृष्टि से यह वांछनीय नहीं है।

प्रेमचन्द की कहानियों से उनकी कला के विकास-क्रम और

विषय-विभाग के अनुसार कितने ही भेद किये जा सकते हैं विकास-क्रम के अनुसार उनकी कहानियाँ ३ वर्ग में बँटेंगी--

(१) प्रारम्भ की वे कहानियाँ जिनमें घटनाचक्र और सामयिकता की प्रधानता है कोई मूल विचार लेकर लेखक आगे नहीं बढ़ता। प्लॉट ही सब कुछ है, बीजविचार और चरित्र-चित्रण गौण है। इन कहानियों में बुरे का भला बुरा है, भले का भला। पलड़ा सदा बराबर रहता है। यह स्पष्ट है कि यह वास्तविकता नहीं है।

(२) (अ) चरित्रप्रधान और आदर्श प्रधान कहानियाँ— वास्तव में पूर्णतः चरित्र-प्रधान कहानियाँ प्रेमचंद ने अधिक नहीं लिखी हैं। वे कला में उपयोगिता का मिश्रण आवश्यक समझते थे। इन कहानियों में बहुधा आदर्श चरित्रचित्रण को ढक लेता है। इन कहानियों के शीर्षकों से ही उनके विषय का पता लग जायगा जैसे "माता का हृदय", "स्वर्ग की देवी।"

(आ) विचार-प्रधान और चरित्रमूलक आदर्शात्मक (सुधारात्मक) भावनामंडित कहानियाँ। लेखक समाज की प्रत्येक कुरीति को लेता है और कर्म, करुणा, मनुष्यता आदि का सहारा लेकर उनका परिहार करता है जैसे "स्त्री और पुरुष", "दिवाला" "नैराश्यशीला" "उद्धार"। प्रेमचंद की सुधारात्मक भावना सहारे के लिए अतीत की ओर देखती है, पश्चिम से हटती है (देखिये "शांति")।

(इ) घटना-मंडित कहानियाँ जिनमें ऊपर की प्रवृत्तियों के होते हुये भी घटनाचक्र की प्रधानता है जैसे "शूद्र", "आधार" "निर्वासन", "कौशल"।

(ई) चरित्र-प्रधान और संघर्ष (अंतर्द्वन्द)। प्रधान कहानियाँ ऐसी कहानियाँ कम हैं जैसे "दुर्गा का मन्दिर", "डिग्री

के रुपये'' "ईदगाह", "माँ", "घरजमाई", "नरक का मार्ग"। इन कहानियों में प्रेमचंद बराबर आदर्श से यथार्थ की ओर बढ़े जा रहे हैं। फिर भी सभी कहानियाँ सुखांत हैं केवल कुछ को छोड़ कर जैसे "शांति" जिसमें विवाह को बिंदु बना कर चित्रण है।

(द) ऐसी कहानियाँ जिनमें चरित्र-चित्रण के साथ प्रभावात्मकता पर भी ध्यान रखा गया है और कहानी को अत्यन्त कलात्मक रूप देने की चेष्टा की गई है। प्लॉट कम है, या है ही नहीं। फिर प्रेमचंद न आत्महत्या को छोड़ पाते हैं, न सुधार भावना को जैसे "घासवाली", "धिक्कार", "कायर", "पूस की रात"।

(३) इन्हीं कहानियों का विकसित रूप वे कहानियाँ हैं जो "कफन और अन्य कहानियाँ'' शीर्षक से संग्रहीत हैं। इनमें लेखक आदर्शवादियों की पंक्ति से निकल कर वस्तुवादियों की पंक्ति में आ बैठा है। "कला उपयोगी हो'' यह विचार दूर हो गया है, परन्तु कहानी समाज का मर्मस्थल पर नग्न चित्रण के कारण ही चोट करती है।

३४. हिन्दी साहित्य पर विदेशी प्रभाव

(१) भूमिका (२) मुस्लिम संस्कृति की विशेषताएं और संत-साहित्य पर उनका प्रभाव (२) मुस्लिम सूफी-साहित्य (३) रीति काव्य के कवियों पर फारसी प्रभाव (४) बंगाली उपन्यासों के अनुवाद और उनका प्रभाव (५) अंग्रेजी साहित्य का द्विवेदी जी• और छाया-वादी काव्य पर प्रभाव (६) आधुनिक हिन्दी-कथा पर यूरोपीय कथा साहित्य का प्रभाव (७) इतने प्रभावों के होते हुए भी हिन्दी ने अपनी मौलिकता बनाये रखा है।

१९वीं शताब्दी के आरम्भ में एक नई संस्कृति की दृष्टि भारत पर पड़ी। धीरे-धीरे उसने अपनी राजनैतिक शक्ति द्वारा अपनी नींव हिन्दी प्रदेश में जमा ली। लगभग उसी समय हिन्दी भाषा का जन्म हुआ था और साहित्य भी बहुत थोड़ा बन पाया था। पहले नवीन संस्कृति और उसके साहित्य का प्रभाव हिन्दी पर नहीं पड़ा परन्तु समय बीतने पर धीरे-धीरे यह प्रभाव पड़ने लगा। पहले विदेशी फारसी-अरबी भाषाओं का प्रभाव पड़ा, संस्कृति और साहित्यमूलक विशेषताओं का बाद में। चन्द के महाकाव्य रासो में फारसी शब्द बहुत से मिलते हैं परन्तु उसकी आत्मा पूरी तरह भारतीय है। उनके काव्य का रूप, रंग, गठन सब संस्कृत महाकाव्यों को रूपरेखा पर दृढ़ किया गया है। रासो की रचना के ६० वर्ष बाद के दिल्ली के अमीर खुसरू की कविताओं में हमें पहले-पहल मालूम होता है कि अब मुस्लिम संस्कृति रंग लाने लगी है।

मुस्लिम संस्कृति की कई विशेषताएँ थीं। वह एकेश्वरवादी थी। वह फक्कड़ी जीवन, ऐशो-आराम और विलास पर क़ुर्बान हो रही थी। उसमें एक ऐसा दल था जो अपने को सूफी कहता है और जिसके आत्मा-परमात्मा संबंधी विचार वेदान्त के समान थे। यह दल भावात्मक प्रक्रियाओं द्वारा परमात्मा की प्राप्ति के लिए साधना करता था। 'प्रेम' और 'विरह' इसकी साधना के प्रधान अंग थे। हिन्दी साहित्य पर सबसे पहले प्रभाव दूसरी विशेषता का पड़ा। अमीर खुसरू ने मुकरी, पहेली, रेखता जैसी चीजें लिखीं जिन्हें हम "मनोरजन काव्य" कह सकते हैं। परन्तु विजित हिन्दुओं के तत्कालीन साहित्य में इस प्रकार के मनोरञ्जन के चित्र नहीं दिखलाई पड़ते। इसका कारण है कि इसी समय भक्ति के आन्दोलन का सूत्रपात हो

गया। यदि यह आन्दोलन उठ खड़ा न होता तो अवश्य ही हिन्दी-साहित्य शासकों की सस्ती भावुकता का शिकार हो गया होता जैसे इस आन्दोलन के शिथिल होते ही हो गया। यह आन्दोलन आत्मरक्षामूलक था और इसकी भित्ति पौराणिक धर्म पर रखी गई थी। जब तक इसमें बुद्धिवाद की प्रधानता रही तब तक वह इस्लामी भावनाओं से प्रभावित नहीं हुआ और बाद में जब भावुकता के कारण इसके साहित्य ने इस्लामी रंग पकड़ा तब भी इस पर बहुत कम प्रभाव पड़ा। मुगलों के समय तक जनता में मुस्लिम मनोवृत्ति बहुत कुछ घर कर गई थी। वह भी विलासी हो गई थी। धर्म ने रंगीला रूप ग्रहण कर लिया था। धीरे-धीरे इस विलासी मनोवृत्ति ने भक्ति को निगल लिया। पहले जो विलासभाव अंश रूप से भक्ति-साहित्य में राधा-कृष्ण की प्रेम क्रीड़ाओं के चोले में घुस आया था, वह वामन अब तीन डग में साहित्य के सारे संसार को नाप गया और कला के दूसरे लोकों में भी जा पहुँचा। इस प्रकार हिन्दी साहित्य के रीतिकाल का जन्म हुआ।

रीतिकाल के कवियों ने फारसी कवियों की विरह-वर्णन संबंधी अतिशयोक्तिपूर्ण शैली को अपना लिया। प्रेमी की कृशता, उसके खून के आँसू, माशूक (प्रेमिका) की बेवफाई के प्रति उपहास-जनक गिलेशिकवे—फारसी साहित्य की यह सम्पत्ति कुछ इसी रूप में, कुछ बदले रूप में हिन्दी में भी आ गई। यह अति-रंजित कलुषित प्रेमभावना तीन शताब्दियों तक हिन्दी के गले मढ़ी रही। वर्तमान हिन्दी साहित्य ने एक बार फिर मुस्लिम वैभव के चिह्न प्याले, सुराही और शराब को अपनाया है परन्तु इस बार प्रच्छन्न रूप में। उस पर आध्यात्मिक रूपक के आरोप की चेष्टा की गई है।

मुसलमान संस्कृति की दूसरी विशेषता सूफी भावना ने साहित्य को विशेष रूप से प्रभावित किया। स्वयं सूफी मुसलमानों के साहित्य के विषय में तो कुछ कहना ही नहीं हो सकता; परन्तु संत-साहित्य का एक बड़ा भाग सूफी भावनाओं से प्रभावित है। इसके अतिरिक्त कितने ही हिन्दू सूफियों की कविताएँ भी हमारे साहित्य की स्थायी सम्पत्ति है। मुस्लिम संस्कृति की एकेश्वरवादी भावना का प्रभाव हमें संत-साहित्य के रूप में मिलता है।

मुसलमान-साहित्य फारसी-साहित्य और उससे प्रभावित उर्दू-साहित्य के दो रूपों में हिन्दी-प्रदेश में विकसित हुआ। इसमें भावना की प्रधानता थी। अतिरंजित विरहवर्णन का उल्लेख ऊपर हो चुका है। जीवन के प्रति इसका दृष्टिकोण नैराश्यपूर्ण था परन्तु इसकी कथा-कहानियों में घटना-वैचित्र्य कम नहीं होता था। सूफी कवियों के हिन्दी-प्रबन्ध-काव्यों और प्रारम्भिक हिन्दी उपन्यासों पर घटना-प्रधान आश्चर्य-मूलक फारसी कथाओं का प्रभाव लक्षित है। १९वीं 'शताब्दी के आरम्भ में उर्दू में गद्य का विकास हो चुका था, दिल्ली और लखनऊ की शैलियाँ बन चुकी थीं, अलिफलैला के ढङ्ग के उपन्यास काफी मात्रा में लिखे जा चुके थे। इनकी काव्यशैली, इतिवृत्तात्मकता और ऐयारी तिलिस्मी वातावरण ने चंद्रकांता संतति, भूतनाथ प्रभृति हिन्दी कथाओं को जन्म दिया।

१९०५ की वंग-विच्छेद की घटना ने हिन्दी प्रांत का ध्यान बंगाल की ओर आकर्षित किया। बङ्गाली उपन्यासों के अनुवाद होने लगे। इनसे जहाँ एक ओर सस्ती भावुकता और भावात्मक शैली का हिन्दी में प्रचलन हुआ, वहाँ दूसरी ओर उर्दू के घटना वैचित्र्य से भी पीछा छूटा। अंग्रेजी साहित्य के ब्लेक और

शरलाकहोम्स के जासूसी उपन्यासों की शैली पर गोपालराम गहमरी और कितने ही अन्य लेखकों ने जासूसी उपन्यास लिखे। फिर बङ्गाली उपन्यासों के अनुकरण में मराठी, गुजराती और अंग्रेजी उपन्यासों के अनुवाद होने लगे। अब भी शरद् और रवीन्द्र बाबू की उपन्यासों और कहानियों का प्रभाव है। रवि बाबू का प्रभाव १६१४ में पड़ना आरम्भ हुआ। उनके "गीताञ्जली" ग्रंथ के अनुवाद की शैली पर गद्य में एक नई प्रकार की शैली का जन्म हुआ जिसे उपयुक्त नाम न मिलने के कारण हम "गद्यगीत" कहते हैं। पद्य में "छायावाद" शैली की कविताओं का जन्म हुआ जिनमें लाक्षणिकता का आधिक्य था और कवि किसी रहस्यमय सत्ता के प्रति उन्मुख होता जान पड़ता था।

अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव भी कम नहीं है। पं० श्रीधर पाठक की कविताओं पर गोल्डस्मिथ का भाव है। छायावादी कविताओं पर शैली, कीट्स, वर्ड्स्वर्थ, टेनीसन आदि रोमांटिक कवियों की रचनाओं का प्रभाव स्पष्ट है। बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशाब्द के बाद हिन्दी समाज में वैसी ही परिस्थिति उत्पन्न हो गई जैसी उन्नीसवीं शताब्दी में अंग्रेजी समाज की थी, अतः कवि आँग्ल-साहित्य के १६वीं शताब्दी के काव्य की ओर पड़े। उन्होंने उसकी लाक्षणिकता, उसकी काव्य-शैली और कहीं-कहीं शब्दों और मुहावरों के भी अनुवाद अपना लिए जैसे "स्वर्णिम हास" और "रेशम के से बाल" जिनके लिए Golden laughter और "Silken hair" पहले से उपस्थित हैं। पंत की कविता में इनका प्रयोग सबसे अधिक हुआ है। आँग्ल साहित्य के प्रभाव से अंग्रेजी ढङ्ग की कविताएँ लिखी जाने लगीं और Lyric के ढंग पर गीतिकाव्य या गीति, ode के ढङ्ग पर सम्बोधन के रूप में लिखी जाने वाली कविताओं, narratives

के ढङ्ग पर वर्णनात्मक कविताओं का प्रवेश हुआ। कवियों ने विशेषण-विपर्यय, ध्वनिचित्रण, मानवीकरण आदि अनेक पश्चिमी अलंकारों का प्रयोग आरम्भ कर दिया। कथा-साहित्य में उपन्यास और कहानी दोनों पर अंग्रेजी साहित्य और अनुवाद के रूप में अंग्रेजी के माध्यम से रूसी और फ्रांसीसी साहित्य का भी प्रभाव पड़ा। प्रेमचन्द जी ने टाल्स्टाय और थेकरे प्रभृति उपन्यासकारों का प्रभाव स्वीकार किया है। गैल्सवर्दी का प्रभाव भी कम नहीं है। प्रेमचन्द के बाद उपन्यास साहित्य में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। जेम्स ज्वाइस और डी० एच० लारेंस की विश्लेषण-प्रधान मनोवैज्ञानिक शैलियों का प्रचलन हुआ। अज्ञेय, भगवती प्रसाद बाजपेयी, जैनेंद्र आदि कई नए लेखक इस प्रकार की शैली में लिख रहे हैं। उपन्यास के भाव-जगत पर फ्रूड के मनो-मनोविज्ञान का प्रभाव भी पड़ने लगा है। जैनेंद्र के "त्याग पत्र" से इसकी सूचना मिली है। इधर भावजगत पर समाजवादी पश्चिमी लेखकों का प्रभाव विशेष रूप से पड़ रहा है। समाजवाद स्वयम् एक विदेशी भावना है। चूँकि हम अभी समाजवाद का भारतीय रूप नहीं बना सके हैं, इसलिये हम समाजवादी साहित्य का भी भारतीय रूप सामने नहीं ला सके हैं। समाजवाद का संबंध रूस से होने के कारण आज के लेखकों के एक वर्ग का ध्यान रूस की ओर गया। वास्तव में १९१९ के बाद हमारा लेखक वर्ग उधर आशा की दृष्टि से देखने लगा था। यूरोपीय उपन्यासकारों और कहानीकारों में टाल्स्टाय, चेखब, गोर्की, और अनातोले फ्रौंस का प्रभाव सबसे अधिक पड़ा है। इस प्रकार हमारा कथासाहित्य विदेशी साहित्य से बहुत कुछ बल लेकर आगे बढ़ रहा है। आलोचनात्मक साहित्य, निबंध और

ज्ञान-विज्ञान की जितना भी शाखाओं में साहित्य की रचना हो रही है वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अँग्रेज़ी साहित्य से प्रभावित है। अब हमारे साहित्य में अँग्रेज़ी के सिवा दूसरी यूरोपीय भाषाओं के विद्वान् भी जन्म ले रहे हैं। शीघ्र ही उन भाषाओं का सीधा प्रभाव पड़ेगा जो अँग्रेज़ी के माध्यम से पड़े प्रभाव से अधिक गहरा होगा।

इतने प्रभावों के होते हुए भी हिंदी ने अपनी मौलिकता बनाये रखा है। यही नहीं, उसने उनसे बल प्राप्त किया है। शीघ्र ही वह उन विदेशी भाषाओं के समकक्ष हो जायगी जिनका प्रभाव आज उस पर पड़ रहा है और जो उससे कई क्षेत्रों में आगे हैं।

३५. हिन्दी साहित्य में तुलसीदास का स्थान

(१) भूमिका (२) तुलसी के काव्य का वाह्यांग (३) तुलसी के काव्य का अंतरंग और उसका महत्त्व (४) रामचरितमानस की श्रेष्ठता और उसके कारण (५) उपसंहार।

हिंदी साहित्य का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग पद्य में है, गद्य अभी प्रौढ़ता और वैभिन्य की ओर अग्रसर ही हुआ है, उसमें अभी भाषा और भाव की वे भंगिमाएँ नहीं भरी जा सकी हैं जो काव्य में भरी जा चुकी हैं। सचमुच, हिंदी का प्राचीन पद्य-साहित्य अमूल्य है। इसके जैसी सम्पत्ति भारतवर्ष की किसी भी प्रांतीय भाषा को प्राप्त नहीं। सूरदास, कबीर, दादू, तुलसी, बिहारी—इनमें से प्रत्येक स्वयम् एक महत् प्रकाशस्तंभ है। परंतु यदि इनमें से किसी एक को काव्योत्कृष्टता और प्रभाव की दृष्टि से चुना जायगा तो तुलसी ही को सर्वसम्मति से चुना जा सकेगा।

तुलसी के साहित्य में काव्य का अंतरंग और वहिरंग दोनों

पूर्णरूप से पुष्ट हैं। काव्य के वहिरंग में आते हैं—भाषा, शैली, छंद। तुलसी ने अपने समय की दोनों साहित्य—भाषाओं (ब्रज और अवधी) में कविता की मुक्तक, गीत, प्रबंधकाव्य सभी शैलियों पर सफलता से लेखनी दौड़ाई और आधे शतक छंदों का अत्यंत कौशलपूर्ण प्रयोग किया। प्रत्येक भाषा, प्रत्येक शैली, प्रत्येक छंद में वह अद्वितीय रहे। यह नहीं कहा जा सकता कि उनका अवधी पर अधिक अधिकार था या ब्रज पर, विनय-पत्रिका के गीत रामचरितमानस की दोहा-चौपाया इसे प्रौढ़ हैं या किसी विशेष छंद के प्रयोग में तुलसी असफल या कम सफल रहे हैं। सूरदास गीतों में अत्यंत सफल रहें, चौपाइयों में चूक गये; बिहारी की प्रतिभा प्रबंध काव्य की रचना नहीं कर सकती थी, यह निश्चय है। परन्तु तुलसी कहाँ कम महान् हैं, यह समझ में नहीं आता।

परन्तु काव्य का वहिरंग इतना महत्त्वपूर्ण नहीं होता जितना अंतरंग। इस अंतरग के कई अंग हैं—रस, कल्पना, चरित्र-चित्रण, भाव-जगत, अध्यात्म, कथानक। यहाँ भी प्रत्येक कवि सभी अंगों में सफल नहीं हो सकता। कोई रस-सृष्टि में अद्वितीय है, कोई भावजगत के निर्माण में, कोई चरित्र-चित्रण में। सूरदास के काव्य से चरित्र-चित्रण और कथानक का कोई पुष्टरूप हमारे सामने नहीं आता। जहाँ तक रसोद्रेक, भावसृष्टि और कल्पना-वैचित्र्य का संबंध है, वे तुलसी के समकक्ष हैं, शृङ्गार रस, विशेषतः विरहकाव्य में तुलसी से श्रेष्ठ भी हैं। अकेले तुलसी सब में श्रेष्ठ हैं। हो सकता है कि कहीं अधिक श्रेष्ठ हों कहीं कम। काव्य के सब अंगों को इतनी श्रेष्ठता से निभाने के लिए यह आवश्यक था कि कोई रंग कभी दब जाता, और कोई रंग

कहीं उभर आता, परन्तु काव्य के अंतरंग का इतना सब कुछ और कहीं इतना सुन्दर नहीं मिलेगा, यह निश्चय है।

तुलसीदास के काव्य में भी गीतावलियाँ, विनयपत्रिका और रामचरितमानस सर्वश्रेष्ठ है। इनमें पिछले दो ग्रंथों के संबंध में यह निश्चत रूप से नहीं कहा जा सकता कि कौन अधिक श्रेष्ठ है। कुछ विद्वान् विनयपत्रिका को रामचरितमानस से अधिक उत्तम मानते हैं। कुछ रामचरितमानस को यह श्रेय देते हैं। यदि हम इन दोनों ग्रंथों को लेकर इनके जोड़ का कोई एक ग्रंथ किसी साहित्य में ढूँढे तो हम निराश होंगे। साहित्य का 'मूलाधार है संस्कृति। मध्ययुग की हिन्दू संस्कृति का हृदय है विनयपत्रिका और मस्तिष्क है रामचरितमानस। परन्तु रामचरितमानस में हृदय का आलोड़न-विलोड़न और भक्तिरस का परिपाक भी कम नहीं है। स्वयम् तुलसी ने उसे अपनी भक्तिभावना को पुष्ट करने के उद्देश्य से ही लिखा है। रामचरितमानस को समाप्त करते हुए वे कहते हैं—

जाकी कृपा लवलेश ते मतिमंद तुलसीदास हूँ।
पायो परम विश्राम राम समान प्रभु नाहीं कहूँ॥

जो हो, मूलतः इन्हीं दोनों पुस्तकों के बल पर तुलसीदास को सर्वोच्च स्थान दिया जा सकता है।

रामचरितमानस काव्यशास्त्र की दृष्टि से अत्यन्त श्रेष्ठ ग्रंथ है। बिहारी सतसई की भाँति वह व्यञ्जनामूलक काव्य नहीं है, न सूरसागर की भाँति भावनाबहुल। परन्तु यही उसकी श्रेष्ठता का कारण भी है। इस अभिधात्मक कथाकाव्य में तुलसी रस, चरित्र-चित्रण और भक्तिभावना के साथ भावों और शैली का इतना सुन्दर गठबंधन कर सके हैं कि संपूर्ण काव्य के अध्ययन के बाद उनकी प्रतिभा पर मुग्ध होना पड़ता है। श्रेष्ठ साहित्य

नैतिकतामूलक होता है। रामचरितमानस में नैतिक सन्देशों की कमी नहीं है। उसमें कथावस्तु के साथ सामाजिक-नैतिक और और वैयक्तिक आदर्शों को एक सूत्र में इस तरह गूँथ दिया गया कि उन्हें किसी प्रकार भी अलग नहीं किया जा सकता। तुलसी का यह ग्रंथ एक साथ जीवन-दर्शन, व्यवहार-शास्त्र, महाकाव्य और धर्मशास्त्र (भक्तिशास्त्र) है।

३६. हिन्दी का नया और पुराना साहित्य

(१) भूमिका (२) पुराने साहित्य की ४ मूल भावनाएँ—भक्ति, वैराग्य, शृंगार, वीरत्व (३) नये साहित्य में इन परम्परागत भावनाओं का रूप (४) नई भावनाएँ—देश भक्ति, स्वतन्त्रता और विश्व-बन्धुत्व की भावना, समाज-सुधार, प्रकृति के प्रति आकर्षण और प्रेम, रहस्यमयी सत्ता की अनुभूति, प्रतिदिन के दैनिक जीवन का विश्लेषण, राष्ट्रीय-जातीय एवं व्यक्ति की समस्याएँ (५) नये साहित्य में गद्य का नेतृत्व (६) दो बड़े भेद-प्राचीन साहित्य रस धर्मी था, नवीन साहित्य मूल में कल्पनात्मक और बुद्धिधर्मी है (७) उपसंहार।

हिन्दी के नये और पुराने साहित्य में इतनी अधिक असमानताएँ हैं कि उनकी रूपरेखा निश्चित करना और उनके मौलिक भेदों को ढूँढ़ निकालना कठिन नहीं है। साधारण रूप से हम १८५० को विभाजन-रेखा मान सकते हैं। १८५० के पहले का साहित्य पुराना साहित्य है, इसके बाद का नया साहित्य।

पुराने साहित्य में हमें चार मूल भावनाओं की प्रधानता मिलती है—भक्ति-धर्म, वैराग्य, शृंगार और वीर भावना। बहुधा किसी एक प्रकार के साहित्य में ये भावनाएँ शुद्ध रूप में अलग-अलग नहीं मिलेंगी। भक्ति-काव्य में भक्ति और शृंङ्गार का मिश्रण भी पर्याप्त मात्रा में मिलता है। इसी प्रकार संत साहित्य में

जहाँ वैराग्य भावना है, वहाँ निर्गुण के प्रति भक्ति भी है। हिन्दी का प्राचीन वीर-काव्य शृंगार की भावना पर आश्रित है। इस प्रकार हिन्दी के पुराने साहित्य में हमें उपरोक्त भावनाएँ कभी शुद्ध, कभी मिश्रित रूप में मिलेंगी। हिन्दू राष्ट्रों की पराजय इतनी शीघ्रता से हुई कि जातीय वीर-काव्य के निर्माण के लिए समय ही नहीं मिला। मध्ययुग के अन्त में हमें सूदन, भूषण और गुरुगोविन्दसिंह के रूप में जातीय वीरता का गान करने वाले कुछ कवि अवश्य मिल जाते हैं, परन्तु उनकी संख्या बहुत कम है राष्ट्रीय वीर-भावना का तो एकदम अभाव है क्योंकि मुसलमानो के आने के बहुत पहले ही हिन्दू राष्ट्र-भावना से हाथ धो बैठे थे। मुगलों के समय में कुछ काल तक सारा उत्तर-दक्षिण भारत एकछत्र सम्राटों के शासन में रहा, परन्तु राष्ट्रीय भावना का पुनरुद्धार नहीं हुआ। पराजित हिन्दू तीर्थयात्राओं और सङ्कल्प मंत्रों में अवश्य भारत को एक राष्ट्र मानते रहे। नये साहित्य में चारों भावनाएँ हैं परन्तु इनका रूप बदल गया है। आजकल भक्ति और वैराग्य को कविता का विषय अधिक नहीं बनाया जाता और इन्हें काव्य का विषय बनाकर जो कुछ लिखा भी जाता है उसका साहित्यिक रूप और साहित्यिक महत्त्व बहुत कम होता है। शृंगार और वीर भावनाएँ कभी प्रकट, कभी अप्रकट रूप में एक बड़ी मात्रा में मिलेंगी परन्तु आलंबन के रूप और भाव प्रकाशन शैली में महान् अन्तर है।

अन्तर कहाँ है, यह देखना भी अनुचित नहीं है। प्राचीन काव्य-साहित्य में नायिका के रूप-वर्णन के, प्रेम और विरह और केलि-विलास के स्थूल चित्रण मिलेंगें। जो कुछ मिलेगा, उसमें रीति-शास्त्र को अनुभूति के ऊपर रखा गया होगा। आधुनिक प्रेम काव्य में न नखशिख-वर्णन को स्थान मिला है

न केलि-विलास को। प्रेमी-प्रेमिकाओं के भावना-जगत और उनके मनोभावों के सूक्ष्म वैज्ञानिक चित्रण की ओर ही कवियों की दृष्टि अधिक है। आज दूती, अभिसार, विपरीत रति, सुरतारंभ और सुरतांत का बहिष्कार हो गया है। कवि की दृष्टि हाव-भाव से हट कर प्रेमी की तन्मयता, आत्म-बलिदान की भावना और समर्पण के उत्साह पर ही अधिक जाती है। वीर भावना-मूलक उत्साह का रूप भी बदल गया है। उसमें भी कष्ट-सहन और आत्मोत्सर्ग की भावनाओं को ही प्रधानता मिली है। प्राचीन वीर-काव्य युद्ध के यथार्थ चित्रण पर आश्रित है परन्तु नये कवि को ऐसे वीर-नायक का चित्रण करना नहीं होता जो युद्ध-व्यवसायी है या शस्त्र उठाकर आत्म-रक्षा के लिए उतरता है। आज के वीर काव्य का रूप राष्ट्रीय है उसके मूल में भारत को स्वतंत्र करने की भावना है। पिछले अहिंसात्मक जन-आन्दोलनों ने खड्ग, रक्तपात और प्रतिहिंसा को काव्य के क्षेत्र से भी निकाल दिया है। इसीलिये वीर काव्य के लिए उस प्रकार के अनुप्रास प्रधान काव्य की आवश्यकता नहीं रही है जो भूषण और सूदन ने हिन्दी को दिया है।

अनेक नई भावनाओं के भी दर्शन हुये हैं। नये साहित्य में देश के प्रति भक्ति और प्रेम, राष्ट्रीय और जातीय वीरों की गुण-गाथा का गान, अपनी पतित दशा पर शोक, नारी-स्वतंत्रता के गीत, व्यक्ति की आशा और निराशा, प्रकृति के प्रति आकर्षण और प्रेम, रहस्यमयी सत्ता की अनुभूति, प्रतिदिन के दैनिक जीवन का विश्लेषण, राष्ट्रीय और जातीय समस्याएँ प्रचुर मात्रा में उपस्थित हैं। नवीन परिस्थितियों ने काव्य के लिए नये विषय दिये हैं। पूर्व मध्ययुग में हमारे साहित्य को भक्ति की धार्मिक भावना ने बाँध रखा था, उत्तर मध्ययुग में उसे संस्कृत

आचार्यों के रीतिशास्त्रों के विधि-विधानों ने जकड़ लिया था। अब पहिली बार वह व्यक्ति, कुटुम्ब, समाज और राष्ट्र के अंतस्तल को छूने लगा है और अंतर्राष्ट्रीय भावनाएँ भी कभी-कभी उसे स्पंदित कर दिया करती हैं।

क्षेत्र की इस विशालता और व्यापकता के कारण अब साहित्य का केन्द्र काव्य नहीं रहा है, गद्य हो गया है। प्रेमचन्द के उपन्यास ही आज हमारे महाकाव्य हैं। १८५० से पहले गद्य में बहुत थोड़ा लिखा गया और जो लिखा गया वह किसी भी प्रकार महत्त्वपूर्ण नहीं है। तब काव्य और साहित्य पर्यायवाची जैसे थे। आज गद्य का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। जो शक्ति, जो विभिन्नता, जो विशदता आज गद्य साहित्य में है, वह काव्य में भी नहीं है। नया साहित्य नौ रसों को ही जीवन में नहीं ढूँढता। जीवन में नव रसों का महत्त्वपूर्ण स्थान है परन्तु इनके परे भी बहुत कुछ है। नया साहित्य उसे ही खोज रहा है।

प्राचीन और नवीन साहित्य में जो एक अन्तर अत्यंत मुखर है वह यह है कि प्राचीन साहित्य रस-धर्मी अधिक है। उसमें बौद्धिक तत्त्व अधिक नहीं है। थोड़े बहुत आध्यात्म-चिंतन को छोड़कर बुद्धि को आनन्द देने वाला साहित्य अधिक नहीं है। नवीन साहित्य बुद्धि पर आश्रित है परंतु हृदय को साथ लेकर आगे बढ़ता है। वह हृदय और मस्तिष्क में संतुलन स्थापित करने की चेष्टा कर रहा है यद्यपि वह अभी हृदय की अपेक्षा मन के अधिक निकट है। जो हो, इसमें कोई सन्देह नहीं कि नये साहित्य का आलंबन भौतिक ही अधिक है और इसी-से वह बौद्धिक तत्त्वों को स्थान देने में समर्थ हुआ है। उसके मूल्यांकन के लिए हमें नये सिद्धान्त गढ़ने पड़ेंगे जिनमें हृदय

और बुद्धि के तत्त्वों का सामञ्जस्य हो। प्राचीन साहित्य की कई धाराएँ उसके भीतर अब भी चल रही हैं परन्तु हृदय-धर्म की अपेक्षा बुद्धि-धर्म की अधिक प्रधानता के कारण उनका रूप भी बदल गया। उदाहरण-स्वरूप, वैष्णव काव्य-धारा की रामकृष्ण की परम्परा आज भी चल रही है, परन्तु आज के रामकृष्ण-काव्य में भक्ति गौण है, चरित्र-चित्रण नये मूल्यों के अनुसार कथानक का नवीन संगठन और इसी प्रकार की बुद्धि-मूलक बातें अधिक हैं।

४०. वर्तमान हिन्दी कविता

(१) भारतेन्दु वर्तमान हिन्दी कविता के "आदि कवि" हैं (२) वर्तमान हिन्दी कविता में प्राचीन काव्य धारा की प्रवृत्तियाँ (३) नई प्रवृत्तियों का समावेश (४) भारतेन्दुकाल के उपरांत नवीन प्रवृत्तियों में वृद्धि एवं विकास (५) बीसवीं शताब्दी के दशाब्द के बाद की कविता में नितांत नवीन प्रवृत्तियाँ (छायावाद)।

भारतेन्दु के साथ हिन्दी कविता के विषयों और उनके प्रकाशन की शैली में क्रान्ति हो गई। इतिहास की दृष्टि से वर्तमान काल कुछ पहले, लगभग पलासी युद्ध से, आरम्भ हो जाता है, परन्तु हिन्दी कविता पर नवीन प्रभाव ग़दर के बाद से ही पड़ने आरम्भ हुए। उन्होंने ही कालांतर में उसका रूप बदल दिया। अतः भारतेन्दु को ही वर्तमान हिन्दी कविता का "आदि कवि" होने का श्रेय मिलता है।

प्राचीन हिन्दी कविता के विषय धर्म और शृङ्गार थे, नवीन हिन्दी काव्य में धर्म को गौण स्थान मिला। प्राचीन कवि रस पुष्टि पर अधिक बल देते थे, नवीन कवि भाव-प्रकाशन और भाव-पुष्टि को ध्यान में रखते थे। देश की नवीन परिस्थितियों

ने स्वतन्त्रता की भावना, देश-प्रेम, और समाज सुधार की भावनाओं को जन्म दिया। कविता के लिए नये विषय मिले। उसका रूप ही नया हो गया।

भारतेन्दु के समय से वर्तमान हिन्दी काव्य की जो धारा बही है उसमें प्राचीन काव्य-धारा की कई प्रवृत्तियाँ भी सम्मिलित हैं—वैष्णव (रामकृष्ण) भक्ति, निर्गुण (संत-भावना), रीति शृङ्गार भाव। परन्तु साथ ही जिन नई प्रवृत्तियों का समावेश हुआ है उन्होंने इन भावनाओं को शिथिल कर रखा है। इनमें सबसे प्रधान राष्ट्रीयता, देश-प्रेम अथवा स्वतन्त्रता की भावना हैं। राष्ट्रीय वीरों का गुणगान, राष्ट्र-पतन के लिए दुःख-प्रकाश, समाज की अवनति के प्रति क्षोभ, कुरीतियों के परिहार लिए अधीरता और तत्परता तथा हिन्दू हितैषिता (जातीयता) ये भारतेन्दु-काल के काव्य के प्रमुख विषय है--

कहाँ गये विक्रम भोज राम बलि कर्ण युधिष्ठिर
चन्द्रगुप्त चाणक्य कहाँ नासे करि कै थिर
कहाँ क्षत्र सब मरे जरे सब गये कितै गिर
कहाँ राज को तौन साज जेहि जानत है चिर
कहँ दुर्ग सैन धन बल गयो धूरहिं धूर दिखात जग
जागो अब तो खल बल दलन रक्षहु अपनो आर्य मग

(भारतेन्दु)

स्त्री गण को शिक्षा देवें कर पतिव्रता यश लेवें
झूठी यह गुलाल की लाली धोवत ही मिटि जाय
बाल ब्याह की रीति मिटाओ रहे लाली मुँह काय
विधवा विलपैं नित धेनु कटैं कोउ लागत हाय गोहार नहीं

(प्रतापनारायण मिश्र)

यह समय भारतवर्ष के लिए अत्यन्त संकट का समय था। देश ने हथियार डाल दिये थे। एक नई संस्कृति और सभ्यता से उसका संघर्ष चल रहा था। देश में अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त एक जन-समुदाय धीरे धीरे खड़ा हो गया था। भारतीय धर्म-कर्म और संस्कृति-सभ्यता की बात को भूल कर यह नया शिक्षित वर्ग "साहब" बना जा रहा था। ऐसे समय में भारतीयता के लुप्त हो जाने का डर था। हमारे कवियों ने जहाँ समाज को उदार बनने के लिए ललकारा :--

पित पति सुत करतल कमल लालित ललना लोक
पढ़ैं गुनैं सीखैं नासैं सब जग सोक
वीर प्रसविनी बुध बधू होइ दीनता खोय
नारी नर अरधंग की साँचहि स्वामिनि होय

(भारतेन्दु)

वहाँ हिन्दुओं की मानसिक दासता पर क्षोभ भी प्रकट किया--

अंग्रेजी हम पढ़ी तउ अंग्रेज न बनिहैं
पहिरि कोट पतलून चुरुट के गर्व न तनिहैं
भारत ही में जन्म लियो भारत ही रहिहैं
भारत ही के धर्म-कर्म पर विद्या गहिहैं

(अंबिकादत्त व्यास)

सबै विदेशी वस्तु नर गति रति रीति लखात
भारतीयता कछु न अब भारत में दरसात
हिन्दुस्तानी नाम सुनि अब ये सकुचि लजात
भारतीय सब वस्तु ही सों ये हाय घिनात

(प्रेमघन)

यद्यपि कवि अंग्रेजी शासन को अच्छा समझते थे, परन्तु उन्होंने अपने समय की राजनैतिक जागृति को भी पहचाना और ब्रिटिश शासन की बड़ाई करते हुए भी दयनीय दशा के करुण चित्र रखे—

अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी
पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी
ताहू पै महँगी काल रोग विस्तारी
दिन दिन दूने दुःख ईश देत हाहा री
सब के ऊपर टिक्कस की आफ़त आई
हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई

(भारतेन्दु)

कांग्रेस की स्थापना हो जाने से (१८८५) देश में आशा का संचार हुआ और कवियों ने नवजागरण का शंखनाद किया—

हुआ प्रबुद्ध वृद्ध भारत निर्जं आरत दशा निशाका
समझ अंत अतिशय प्रमुदित हो तनिक तब उसने ताका
उन्नति पथ अति स्वच्छ दूर तक पड़ने लगा दिखाई
खग बन्देमातरम् मधुर ध्वनि पड़ने लगी सुनाई
उठो आर्यसंतान सम्भल मिल बस न विलंब लगाओ

(प्रेमधन)

एक अन्य महत्त्वपूर्ण परिवर्तन कवियों का प्रकृति के प्रति दृष्टि-कोण था। आधुनिक काव्य में प्रकृति को जैसा स्थान मिला है, वैसा पहले कभी नहीं मिला था। पं० श्रीधर पाठक की "ऊजड़-ग्राम" "काश्मीर-सुषमा" आदि कविताओं ने कवियों के लिए एक अभिनव क्षेत्र उपस्थित किया।

भारतेन्दुकाल (१८७०-१९००) से चल कर ये प्रवृत्तियाँ निरन्तर विकसित, परिमार्जित एवं अनेक अन्य अन्तः प्रवृत्तियों से प्रभावित होती हुई अब तक चली आ रही हैं। पहले १०-१५ वर्ष तक तो कोई परिवर्तन दिखाई ही नहीं देता। पं० रामचरित उपाध्याय, हरिऔध, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पं० रूपनारायण पांडेय बाबू मैथिली शरण गुप्त प्रभृति कवियों ने भारतीयता, हिन्दू जातीयता, राष्ट्रीयता जैसे विषयों पर उसी तरह लिखा है जिस तरह भारतेन्दुकाल के कवियों ने लिखा, अंतर यह है कि स्वावलम्बन का भाव अधिक है, अंग्रेजी राज का गुणगान कुछ कम हो गया है, काव्य में कला अधिक प्रवेश हो पाया है। परन्तु इतिवृत्तात्मकता बनी है। प्रकृति की ओर कवियों की अभिरुचि संलग्न दिखाई पड़ती है। यद्यपि अधिकांश कवि प्राकृतिक वस्तुओं की तालिका बाँध कर ही रह जाते हैं, परन्तु पं० रामचन्द्र शुक्ल जैसे सहृदय कुछ कवि प्रकृति के अनेक रूपों से प्रभावित होकर उसमें रम जाते हैं और कवियों को प्रकृति के रूपरङ्ग देखने का एक नया ढङ्ग सुझाते हैं। राम और कृष्ण काव्य में मानवता का अधिक समावेश हो गया है।

बीसवीं शताब्दी के दशाब्द बीतने पर इन प्रवृत्तियों के साथ कुछ नितांत नवीन-प्रवृत्तियाँ भी हमारे सामने आती हैं। ये हैं—करुणा की प्रधानता, नैराश्यमूलक उत्साह, रहस्यवाद, शृंगारिकता को आवरण में प्रकट करने की चेष्टा [प्रच्छन्न नारीप्रेम], असंयत कल्पना, मानवीय सहानुभूति का विस्तार। इस प्रवृत्तियों के मूल में कई प्रकार की प्रेरणायें हैं। राजनैतिक परिस्थितियों, विशेष कर राष्ट्रीय आन्दोलनों की असफलता ने युवकों को हताश कर दिया था। जीविका की समस्या प्रबल थी। महायुद्ध के बाद संसार के आर्थिक संकलन में एक ऐसी उथल पुथल हो

गई जिसका प्रभाव सभी देशों पर पड़ा। हमारे देश में जहाँ राष्ट्रीय और सामाजिक अनेक समस्याएँ उठ रही थीं, वहाँ अर्थ की विषम समस्या भी उठ खड़ी हुई। इसका प्रभाव काव्य पर भी पड़ा। पहले कुछ कवियों ने चारों तरफ की स्थिति से एकदम आँख मोड़ ली और अपनी कल्पनानुभूति द्वारा बनाए हुए सौंदर्य, प्रेम और करुणा के लोक में जैसे खो गये। छाया, लहरें, स्वप्न, आँसू, अनंग, नक्षत्र-जैसे विषयों पर बहुत कुछ लिखा गया परन्तु मनुष्य, उसके दुख-सुख, आशाकांक्षा की उपेक्षा की गई। कवि सौंदर्य के रूपों में खो गये थे। सौंदर्य की अनुभूति के साथ करुणा की अनुभूति भी हुई क्योंकि उन्होंने अनुभव किया कि वे उस सौंदर्य का उपभोग नहीं कर सकते। उन्हें सामाजिक और आर्थिक बंधनों का सामना करना पड़ता था। परन्तु उन्होंने इन क्षेत्रों में अपना क्षोभ एवं विद्रोह प्रगट न कर आध्यात्मिकता का आवरण देकर हमारे सामने प्रगट किया। प्रसाद के आँसू, पंत का उच्छ्वास, रामकुमार और महादेवी के करुणा के गीतों के पीछे यही मनःस्थिति काम कर रही है। नारी के प्रति इनका दृष्टिकोण विचित्र था। आचार्य शुक्लजी ने छायावाद को "कायावृत्तियों का प्रच्छन्न पोषण" कहा है। कवि अपनी कविता में लता-विटप अथवा शैफाली और पवन का संयोग-विलास तो अत्यन्त सूक्ष्मता से विस्तारपूर्वक लिखता था, परन्तु स्त्री के प्रति मोह और आसक्ति होते हुए भी उदासीन था, उसे एकदम अतीन्द्रिय बना रहा था। आत्मा-परमात्मा के मिलन या आध्यात्मिक वियोग की भावना को ही अनेक कविताओं और गीतों में बद्ध किया गया, परन्तु उनके पीछे कवि की कल्पना है, परम्परा का पालन है, कवि की अपनी साधना और अनुभूति नहीं।

४१—छायावाद

(१) "छायावाद" और उसका इतिहास (२) छायावाद की कतिपय परिभाषाएँ (३) छायावाद काव्य की कुछ विशेषताएँ—आत्माभिव्यक्ति की प्रधानता, परमात्मा-आत्मा के सम्बन्ध में अद्वैतावस्था को स्वीकार करते हुये कल्पनात्मक संयोग और विरह का वर्णन, रोमांस, पलायनवाद, सौन्दर्य-निष्ठा, लाक्षणिकता का प्राधान्य, प्रकृति के प्रति रागात्मकता; जीवन के प्रति दुःख और निराशापूर्ण दृष्टिकोण, (४) छायावाद काव्य में परम्परा और मौलिक उद्भावना (५) छायावाद काव्य अपने युग का श्रेष्ठतम प्रतिबिम्ब है।

१९१३ ई० के लगभग से प्रसाद के "आँसू" और सुमित्रानन्दन पंत की "वीणा" से खड़ी बोली हिन्दी कविता में जो धारा चली, उसे छायावाद के नाम से पुकारा गया। साधारण जनता में यह नाम अब भी वर्तमान कविता के लिए चल रहा है। जिस किसी ने इस नाम का सूत्रपात किया, उसका उद्देश्य 'व्यंग' था। उसे एक नई श्रेणी की कविता से परिचय प्राप्त हुआ जिसमें उसने बंगाल के श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की "गीतांजलि" और अंग्रेजी रोमांटिक कवियों विशेषतः वर्ड्सवर्थ आदि की Mystic कही जाने वाली कविताओं की छाया देखी। बंगाल में जिस अर्थ में "रहस्यवाद" शब्द का प्रयोग हो रहा था, ठीक उसी अर्थ में, परन्तु निश्चय ही व्यंग से, क्योंकि हिन्दी कविता बंगाली की नकल समझी जाती थी, 'छायावाद' का प्रयोग हुआ। धीरे-धीरे "छायावाद" ने बंगाली भावुकता और रहस्यवादी आध्यात्मिक कविता के सिवा अनेक अंगों का विकास कर लिया परन्तु नाम चलता रहा। अन्त में व्यंग का भाव भी दूर हो गया परन्तु इसके लिये बहुत समय लगा। अभी हाल तक

लम्बे बाल, अस्पष्ट भावना, कठिन शब्दावली का प्रयोग; सतर्कता-रहित उच्छृङ्खल व्यवहार, अव्यवहारिकता—ये छायावादी कवि के लक्षण समझे जाते थे। उसे कल्पनाजीवी समझा जाता था।

सच तो यह है कि अब छायावाद की महत्ता कम होती जा रही है। छायावादी कहे जाने वाले कवि नए-नए दलों में भरती हो रहे हैं। परन्तु छायावाद और उसके काव्य का ठीक-ठीक विश्लेषण अभी नहीं हो सका है। श्री रामचन्द्र शुक्ल उसे "कायावृत्तियों का प्रच्छन्न पोषण" कहते हैं या अभिव्यंजना की एक शैली मात्र मानते हैं जिसकी विशेषता उसकी लाक्षणिकता है। श्री नन्ददुलारे बाजपेयी कहते हैं—"इसमें एक नूतन सांस्कृतिक मनोभावना का उद्गम है और एक स्वतंत्र दर्शन की आयोजना भी। पूर्ववर्ती काव्य से इसका स्पष्टतः पृथक अस्तित्व और गहराई है।" प्रसाद जी छायावाद को "अद्वैत रहस्यवाद की सौन्दर्यमयी व्यंजना" मानते हैं जो "साहित्य में रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास है। इसमें अपरोक्ष की अनुभूति, समरसता, तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा "अहम्" का 'इदम्' से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है।"

जैसा हम कह चुके हैं. "छायावाद" शब्द का प्रयोग वर्तमान युग की महायुद्ध और बाद की बहुमुखी हिन्दी कविता के लिए हुआ है और उसमें अनेक प्रवृत्तियों के साथ आध्यात्मिक रहस्यवाद, सौन्दर्य-निष्ठा, लाक्षणिकता एवं मनुष्य जीवन और प्रकृति के प्रति नवीन दृष्टिकोण को प्रमुख स्थान मिला है। अनेक प्रवृत्तियों में अस्पष्ट राष्ट्रीय भावनाएं और सामाजिक उद्गार भी आ जाते हैं। परन्तु यह शब्द का व्यापक अर्थ है। संकीर्ण

अर्थ में लेने पर भी शब्द के ठीक-ठीक अर्थ करने की सुविधा नहीं होती। हाँ, उसकी विशेषताओं की ओर इस प्रकार इंगित किया जा सकता है :--

(१) छायावाद काव्य में आत्माभिव्यक्ति की ओर ही अधिक ध्यान दिया गया है। इसीसे उसमें भाव की प्रगाढ़ता-और पद की नयता सहज ही प्रतिष्ठित हो जाती है। परात्म-बोधक कविताएँ और खन्ड काव्य भी लिखे गये, परन्तु तीव्रतानु-भूति के स्वर ऊपर हो उठे हैं और कवि आत्मविमुख होकर नहीं बैठ सका है।

(२) परमात्मा-आत्मा के सम्बन्ध में छायावाद काव्य अद्वैतावस्था मान कर चलता है। प्रेम, विरह और करुणा की भावना की प्रधानता इसी लिये है कि इनके द्वारा ही इस अवस्था पर पहुँचा जा सकता है। महादेवी, रामकुमार वर्मा और निराला की कितनी कविताएँ इसी प्रेममूलक अद्वैत पर खड़ी हैं।

(३) छायावाद के कवियों का आग्रह उत्तमोत्तम आदर्श सौंदर्य सृष्टि की ओर है। सुन्दर शब्दों, वे सुन्दर भावों और सुन्दर रूपों में खो गये हैं जैसे संसार में असुन्दर का स्थान ही नहीं हो। इस प्रकार वे "रोमांटिक" और "पलायनवादी" कहे जाने लगे। उन्होंने जिस जीवन की कल्पनात्मक अनुभूति उत्पन्न की; वह हमारे साधारण प्रतिदिन के परिचित जीवन से एकदम भिन्न! पन्त और रामकुमार अपने काव्य में इसी सौंदर्यान्वेषण के कारण सौन्दर्य-निष्ठा-के कवि बन गये हैं। उन्होंने लौकिक शृङ्गार में भी इतनी अतीन्द्रियता भर दी है कि उन पर "अशरीरी भावनाओं" की भक्ति का दोषारोपण किया

जाता है। वास्तव में, सौन्दर्य के प्रति उनका दृष्टिकोण आश्चर्य; भक्ति और अतीन्द्रिय आसक्ति का ही अधिक है। इस तरह कविता उनकी रीतिकाल की शृंगारिक कविता के एकदम विरोध में जा पड़ती है जहाँ स्थूल शृंगार, अभिसार, चुम्बन और परिरंभण के सिवा कुछ है ही नहीं। छायावाद की कविता ने इसी परंपरागत शृंगार-भावना के प्रति विद्रोह किया है।

(४) छायावाद की कविता में लाक्षणिकता की प्रधानता है। इसे शैली की विशेषता कहना ही ठीक होगा। इसके रूप कई हैं। कहीं तो अन्योक्ति और वक्रोक्ति का आश्रय लिया गया है, कहीं अलंकारों के वक्र, लाक्षणिक और अंग्रेजी ढंग के प्रयोग मिलते है, कहीं प्रतीकों का प्रयोग है। इन सबने एक स्थान पर मिल कर नये पाठक के लिए कितने ही स्थानों पर जैसे कूट-काव्य की सृष्टि कर दी है। इनमें सबसे अधिक कठिनता प्रतीकों के सम्बन्ध में है। प्रसाद जी ने कहा है—"आलंबन के प्रतीक उन्हीं के लिए अस्पष्ट होंगे जिन्होंने यह नहीं समझा है कि रहस्यमयी अनुभूति युग के अनुसार अपने लिए विभिन्न आधार चुना करती है" परन्तु ये प्रतीक इतनी अस्पष्टता, शीघ्रता और अनिश्चितता के साथ पाठक के सामने आये कि वह इन्हें पकड़ ही नहीं सका।

(५) छायावाद काव्य में "विश्व सुन्दरी प्रकृति में चेतना का आरोप प्रचुरता से उपलब्ध होता है। यह प्रकृति अथवा शक्ति का रहस्यवाद है।" इसके अतिरिक्त प्रकृति और मनुष्य में रागात्मक सम्बन्ध इसी प्रकार के काव्य में पहली बार हमारे सामने आता है।

(६) जीवन के प्रति दृष्टिकोण दुःख और निराशापूर्ण है। सारा छायावाद काव्य ही (प्रसाद और निराला के कुछ काव्य

को छोड़ कर) दुःख प्रधान है। यह दुःख कहीं आध्यात्मिक है, कहीं लौकिक। अधिकांश में इसका सम्बन्ध व्यक्तिगत असफलताओं से है। जिन्होंने धीरे-धीरे दुःख का एक दर्शन ही दे दिया है जिसका आधार अद्वैत-दर्शन पर ही रखा गया है। कितने ही कवियों ने दुःख की साधना को ही काव्य की श्रेष्ठतम कला मान लिया है।

हम यह मान लेने के लिए तैयार हैं कि छायावाद काव्य की ये विशेषताएँ सम्पूर्णतः मौलिक नहीं हैं। इनमें से कुछ के लिए उसे कबीर, रवीन्द्र या शेली का मुँह जोहना पड़ा है, परंतु धीरे धीरे इस काव्य ने अपना व्यक्तित्व विकसित कर लिया था जिसका सबसे प्रधान प्रमाण यही है कि हिन्दी काव्य में कितने ही वर्षों से उसकी अपनी रूढ़ियाँ चल रही हैं। कवियों ने धीरे-धीरे कविकर्म में कुशलता प्राप्त कर ली है और उन्होंने जनता में प्रतिष्ठा प्राप्त की है। सारे हिन्दी साहित्य में किसी भी युग के कवियों को जनता तक पहुँचने के लिए इतना कठिन प्रयत्न कभी नहीं करना पड़ा, न उन्हें इतना समय लगा। स्पष्ट है कि जनता इस लगभग सौ प्रतिशत परिवर्तन के लिए तैयार नहीं थी। हमारी काव्य-परम्परा इतनी पीछे छूट गई थी कि इस काव्य को समझने के लिए उससे सहारा नहीं लिया जा सकता था। नये मूल्यों का सृजन करना पड़ा। आलोचना के नये माप दंड बने। तब कहीं यह काव्य जनता तक पहुँच सका।'

कोई भी काव्य अपने युग से बहुत ऊँचा नहीं उठ सकता। छायावाद काव्य पर अस्पष्टता, अमौलिकता, अव्यवहारिकता, अनैतिकता, ईमानदारी की कमी और अशरीरीपन--ये कितने ही दोष लगाये जाते हैं। परन्तु यदि सच पूछा जाय तो यह अपने युग का श्रेष्ठ प्रतिबिम्ब है। मध्य देश का मध्यवर्ग जिस

बौद्धिकता के ह्रास, भावुकता के प्राबल्य और मन-वाणी के सामाजिक और राजनैतिक नियंत्रणों में से गुज़र रहा था, उसी के दर्शन इस काव्य में भी मिलेंगे। गांधीवाद में दुःख, कष्ट-सहन और पराजय को राष्ट्रीय साधना के रूप में स्वीकार कर लिया गया था। समाज में प्रेम कहना पाप था। मध्य वर्ग में साकार उपासना पर से विश्वास उठ रहा था, परन्तु वैष्णव भावना को बिल्कुल अस्वीकार करना असंभव था। आर्थिक और राजनैतिक सङ्कटों ने कमर तोड़ दी थी। महायुद्ध के आरंभ के प्रभात के स्वप्न युद्ध-समाप्ति पर कुहरे के धरोहर बन गये। ऐसे समय काव्य का रूप ही और क्या होता? रवीन्द्र के काव्य ने इस प्रदेश की मनोवृत्ति के अनुकूल होकर उसकी काव्य चिन्ता को यह विशिष्ट रूप दे दिया। "चित्राधार" की कितनी ही कविताएँ और "साधना" के गद्य गीत रवि बाबू की प्रेरणा से ही प्रकाशित हुए, परन्तु बाद के काव्य के विकास का अपना अलग इतिहास है।

आज समाज और राष्ट्र की परिस्थितियाँ बदल गई हैं। हृदय का स्थान बुद्धि ने ले लिया है। छायावाद का आध्यात्मिक आधार--अद्वैतवाद--ही ढह-सा रहा है, कम से कम उसकी ओर नये कवियों का विशेष आग्रह नहीं। जो कवि दो दशाब्द पहले छंद, भाषा और अभिव्यंजना के नये प्रयोग करता हुआ लड़खड़ा रहा था, आज इनका कुशल अधिकारी है। जीवन के प्रति दृष्टि-कोण ही बदल गया है या तेज़ी से बदल रहा है। ऐसे समय में जो कवि पहले कहता था—

अब न अगोचर रहो सुजान।
निशानाथ के प्रियवर सहचर!
अंधकार, स्वप्नों के यान!

किसके पद की छाया हो तुम ?
किसका करते हो अभिमान ?
तुम अदृश्य हो, दृग अगम्य हो,
किसे छिपाये हो छविमान !
मेरे स्वागत—भरे हृदय में
प्रियतम, आओ, पाओ स्थान

वह अब कहता है—

मानव के पशु के प्रति
हो उदार नव संस्कृति
युग युग से रच शत-शत नैतिक बंधन
बाँध दिया मानव ने पीड़ित पशु-तन
विद्रोही हो उठा आज पशु दर्पित
वह न रहेगा अब नवयुग में गर्हित

अथवा—

आज सत्य, शिव, सुन्दर करता नहीं हृदय आकर्षित,
सभ्य, शिष्ट और संस्कृत लगते मन को केवल कुत्सित।
संस्कृति; कला सदाचारों से भव मानवता पीड़ित,
स्वर्ण पींजरों में बन्दी है मानव-आत्मा निश्चित
आज असुन्दर लगते सुन्दर, प्रिय पीड़ित-शोषित जन,
जीवन के दैन्यों से जर्जर हरता मानव मुख मन

स्पष्ट है कि कवि अध्यात्म की ऊँचाइयों से उतर कर दैनिक जीवन की तलैटियों में आ गया है। उसने सुन्दरता के लिए नये मूल्य ढूँढ़ने का प्रयत्न शुरू कर दिया है। छायावाद काव्य के पहले सौन्दर्य को इस रूप में देखता था।

प्रथम रश्मि का आना रंगिनि, तूने कैसे पहचाना ?
कहाँ कहाँ हे बालविहंगिनि, पाया तूने यह गाना ?

शशि किरणों से उतर उतर कर भू पर कामरूप नभचर;
चूम नवल कलियों का मृदु मुख शिखा रहे थे मुसकाना
तू ने ही पहले, बहुदर्शिनि, गाया जागृति का गाना,
श्री सुख-सौरभ का, नभ चारिणि, गूँथ दिया ताना बाना

वह अब उसे इस रूप से ग्रहण करता है—

सर सर् मर मर
रेशम के से स्वर भर
बजे नीम दल
लंबे; पतले चंचल,
श्वसन स्पर्श से
रोम हर्ष से
हिल हिल उठते प्रतिपल !

या

उस निर्जन टीले पर
दोनों चिलबिल
एक दूसरे से मिल,
मित्रों से हैं खड़े—
मौन, मनोहर !
दोनों पादप
सह वर्षातप
हुए साथ ही बड़े
दीर्घ, सुदृढ़तर
पतझर में सब पत्र गये झर,
नग्न, धवलशाखों पर
पतली, टेढ़ी टहनी अगणित
शिराजाल सी फैली अविरल

तरुओं की रेखा छवि अविकल !
भू पर छायांकित
नील निरभ्र गगन पर
चित्रित दोनों तरुवर
आँखों को लगते हैं सुन्दर,
मन को सुखकर !

जिस जीवन से दूर भाग कर या जिसके ऊपर उठकर कवि अपनी ही कल्पना के संसार और अपनी ही समवेदना के व्यापारों में खो जाता था उसी जीवन ने आज उसके नक्षत्र-भवन पर धावा बोल दिया है। आज कवि जीवन को वास्तविकता के साथ फ़ौजी क़दम रखता हुआ आगे बढ़ रहा है। इस अग्रभूमि से देखने पर हम छायावाद के महत्त्व को अधिक अच्छी तरह ग्रहण कर सकेंगे।

४२. हिन्दी के राष्ट्रीय कवि

(१) "राष्ट्रीय कवि" का व्यापक और संकुचित अर्थ (२) चंद्र, भूषण, हरिश्चंद, मैथिलीशरण गुप्त आदि के काव्य में राष्ट्रीयता का रूप (३) हिंदू जातीयता और राष्ट्रीयता (४) हिंदू भावना से इतर राष्ट्रीयता का जन्म एवं विकास (५) हरिश्चन्द, प्रेमघन, बालमुकुन्द गुप्त (६) महायुद्ध के बाद के राष्ट्रीय कवि माखनलाल, त्रिशूल, सुभद्राकुमारी चौहान, नवीन (७) नवीनतम राष्ट्रीय कवि—चकोरी, लली, सोहनलाल (८) राष्ट्रीय कविता की कुछ कमियाँ।

"राष्ट्रीय कवि" का एक व्यापक अर्थ भी हो सकता है और एक संकुचित अर्थ भी। व्यापक अर्थ राष्ट्रीय कवि ऐसा कवि होगा जिसमें राष्ट्र की आशाकांक्षाएँ, उसकी संस्कृति की मूलगत विशेषताएँ, उसका चिंतन और अनुभव एक शब्द में राष्ट्र की

आत्मा-कल्पनात्मक रूप में प्रकट हुए हों। यदि हम इसी अर्थ को लें तो कदाचित् तुलसी को छोड़ कर कोई भी अन्य कवि इस मापदंड पर पूरा नहीं उतरेगा। तुलसी उसी प्रकार भारत राष्ट्र के कवि हैं, जिस प्रकार शेक्सपियर इंगलैंड का कवि है और शिलर एवं गेटे जर्मनी के कवि हैं। तुलसीदास के रामचरितमानस में हमें राष्ट्र के हृदय के अन्यतम स्पंदन मिलेगा। संकीर्ण अर्थ में राष्ट्रीय कवि वह है जो देश प्रेम, जाति-प्रेम एवं देशी संस्कृति के प्रेम के गीत गाये और इनकी समस्याओं पर विचार करे, उनके संबंध में पाठक की भावना को उद्बुद्ध करे। साधारण परिभाषा में यही दूसरे अर्थ ग्राह्य हैं। इस परिभाषा के अनुसार चंद्र, भूषण, हरिश्चंद, मैथिलीशरण गुप्त आदि हमारे राष्ट्रीय कवि हैं।

साधारणतः चंद्र-भूषण को वीर काव्य के निर्माताओं के अंतर्गत रख दिया जाता है। यह कहा जाता है कि उन्होंने राष्ट्र-भावना से प्रेरित होकर काव्य नहीं रचे। वे वीरोपासक थे और उनका काव्य व्यक्तिगत वीरता का दृष्टिकोण लेकर लिखा गया है। भूषण के सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि उन्होंने हिन्दू जातीयता को मुसलमान जातीयता के विरुद्ध उभारा है, इससे वे हिन्दू-मुसलमानों के सम्मिलित हिन्दुस्थान राष्ट्र का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते। यह कहना कठिन है कि कौन कविता कोरे व्यक्तिगत वीरता के दृष्टिकोण से लिखी गई है, कौन जातीयता और राष्ट्रीयता की भावना से उत्तेजित होकर। परंतु हम उन कविताओं को वीरता के व्यक्तिगत भाव से प्रेरित होकर लिखा गया मान सकते हैं जिनमें कोई हिन्दू वीर दूसरे हिन्दू वीर का विपक्षी बना है, अथवा जिनमें ऐसे युद्धों का वर्णन है; जिनमें केवल राज्यलिप्सा ही चरितार्थ हुई है। बचे हुए वीर काव्य

को जो प्रशस्ति मात्र नहीं हैं, हम दो श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं :—

(१) जिसमें हिन्दू जातीयता के मुसलमान विदेशी जातीयता से टक्कर लेने की बात है अथवा हिन्दू पुनरुत्थान का सन्देश है। कुछ लोग इसे संकुचित दृष्टिकोण कहेंगे, परन्तु हमें यह याद रखना होगा कि भारत कभी हिन्दूराष्ट्र था और अभी कुछ पिछले दिनों तक हिन्दू जातीयता ही एक मात्र राष्ट्रीय भावना थी। भूषण की कविता या "हल्दीघाटी की लड़ाई" हिन्दू जातीयता के गान गाती हुई भी शुद्ध राष्ट्रीय चीजें हैं।

(२) जिसमें राष्ट्र की स्वतंत्र चेतना का संकेत या सन्देश है या जिसमें स्वतन्त्रता की भावना को उभारा है अथवा स्वतन्त्रता पर बलिदान होने वाले वीरों का गुणगान किया है।

हिन्दू भावना से इतर जो राष्ट्रीयता है उसका जन्म और विकास अंग्रेज़ी शासन के अंतर्गत हुआ है। इस प्रकार की भावना के अग्रदूत हरिश्चन्द्र हैं। हरिश्चन्द्र के साथ ही हिन्दू-जातीयता और हिन्दू-राष्ट्रीयता की भावनाएँ अलग-अलग हो गई हैं और राष्ट्रीय भावना में हिन्दू जातीयता की छाया गर्हित समझी जाती है। अंग्रेज़ी-शासन की नींव १९वीं शताब्दी में पड़ चुकी थी, परन्तु उसकी सत्ता १८५७ के स्वतंत्रता के संग्राम के बाद ही दृढ़ हुई। इसी समय सारा देश रेल, डाक और तार के द्वारा एक सूत्र में बँधा। फलतः देश-काल और भाषा के बंधन टूटे। लोगों ने कन्याकुमारी से काश्मीर और पेशावर से आसाम तक की बात सोचनी शुरू की। ग़दर के बाद की महारानी विक्टोरिया की घोषणा से भारतवासियों को प्रोत्साहन मिला और देश के राजनैतिक जीवन में उनकी अभिरुचि हुई। उन्हें भी देश के शासन में हाथ बटाने की लालसा हुई। उस समय

राष्ट्रीय भावना का ही रूप राजभक्ति था। विक्टोरिया के शासन की प्रशंसा करते हुए राधाकृष्ण दास लिखते हैं—

परम दुःखमय तिमिर जब भारत छापैयो
गृह विच्छेद बहुखंड राज्य सब प्रजहिं सतायो
तबहिं कृपा करि देश ब्रिटिश सूरज प्रगटायो
जिन उजरत करि कृपा बहुरि यह देश बसायो
सोइ ब्रिटिश बंश उज्ज्वल करन विक्टोरिया प्रकाश भो
आनन्द छायो सब देश में, अरु दुःख-तिमिर विनाश भो

कवियों ने देश की दशा का करुण चित्र खेंचा बस उन्हें वास्तविक परिस्थिति का ज्ञान हुआ। ब्रिटिश शासन की उपादेयता नहीं दीख पड़ी। धीरे-धीरे मोह का परदा हटा प्रेमधन ने कहा—

यदपि तिहारे राज भयो भारत अति उन्नत।
आगे से अब सबे लोग सब विधि सुख पावत॥
पै दुःख अति भारी इक यह जो बढ़त दीनता।
भारत में सम्पति की दिन-दिन होत हीनता॥
सुख सुकालहूं जिनहि अकालहिं के सम भासत।
कहौं कोटि इन सबे सहत भोजन की सासत॥

परन्तु जब यह विश्वास हो गया कि अधिकारी परिस्थिति सुधारने में प्रयत्नशील नहीं हैं तब कवियों ने देशवासियों को स्वयं बीड़ा उठाने और अपने उन्नति के लिए सचेत होने के लिए कहा। भारतेन्दु देशवासियों को सम्बोधन करके कहते हैं—

काम खिताब किताब सों अब नहिं सरिहै मीत।
तासों उठहु सिताब अब छांड़ि सकल भयभीत॥

सन् १८८५ में कांग्रेस की स्थापना हो जाने से कवियों में

आशा का संचार हुआ। भारत के भाग्योदय के चिन्ह देख कर प्रेमघन हर्षपूर्वक कहते हैं—

हुआ प्रबुद्ध वृद्ध भारत निज आरत दशा निशा का।
समय अन्त अतिशय प्रमुदित हो तनिक तब उसने ताका॥
उन्नति पथ अति स्वच्छ दूर तक पड़ने लगा दिखाई।
खग . बंदेमातरम् मधुर ध्वनि पड़ने लगी सुनाई॥

बाल मुकुन्द गुप्त ने देशवासियों को प्रतिज्ञा के लिए बुलाय—

आओ एक प्रतिज्ञा करें
एक साथ सब जीवें मरें
अपना बोया आपहि खायें
अपना कपड़ा आप बनायें
माल विदेशी दूर भगावें
अपना चरखा आप चलावें

इन कवियों की कविताओं में छन कर राष्ट्रीय भावना मैथिलीशरण गुप्त की भारत भारती तक पहुँचती है जिसमें हमें पहली बार स्वतन्त्रता की ओर स्पष्ट संकेत मिलता है। १६११ के असहयोग के साथ स्वतन्त्रता की भावना और भी प्रखर हो गई और आत्मबलिदान के लिए निमन्त्रण होने लगा। देश के लिए यंत्रणा सहने, देश के भावी पर वर्तमान के सुखों की बलि देने और देश के बंधन पर दुखी होने के भाव से कविताएँ भरी जाने लगीं। इस काल के कवियों में माखनलाल (भारतीय आत्मा) त्रिशूल (सनेही), श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान और नवीन (बालकृष्ण शर्मा) प्रमुख हैं। 'भारतीय आत्मा' ने "कैदी और कोकिला" शीर्षक कविता में लिखा है—

तुझे मिली हरियाली डाली
मुझे नसीब कोठरी काली

तेरा नभ भर का सञ्चार
मेरा दस फुट का संसार
तेरे गीतों उठती वाह
रोना भी है मुझे गुनाह
देख विषमता तेरी मेरी
बजा रही जिस पर रणभेरी
इस हुंकृति पर अपनी कृति से और कहो क्या कर दूँ
कोकिल बोलो तो
मोहन के व्रत पर प्राणों को आसव किसमें भर दूँ
कोकिल बोलो तो

श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान ने "झाँसी की रानी" की याद दिलाते हुए चोट की--

जाओ रानी याद रखेंगे ये कृतज्ञ भारतवासी।
यह तेरा बलिदान जगावेगा स्वतन्त्रता अविनाशी॥
होवे चुप इतिहास, लगे सचाई को चाहे फाँसी।
हो मतवाली विजय, मिटा दे गोलों से चाहे झाँसी॥
तेरा स्मारक तू ही होगी, तू खुद अमिट निशानी थी।
बुंदेले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी॥
खूब लड़ी मरदानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।

इसके बाद भी अनेकों कवियों और कवयित्रियों ने राष्ट्रीय भावना के विकास में योग दिया। महिलाओं में श्री तोरनदेवी शुक्ल और श्री रामेश्वरी देवी "चकोरी" उल्लेखनीय हैं। कितने ओजपूर्ण शब्दों में चकोरी जी नवयुवकों को संदेश देती हैं--

दासता मिटा दो औ, भगा दो भाव भीरुता को
भारत वसुन्धरा की वीरों हर भगा दो लाज
"देशबली वेदी पर मरना" यही हो प्रण

लेकर अहिंसा अस्त्र रण के सजा दो साज
कहर मचा दो आततायियों के झुंडों पर
कायर शिखंडियों के गर्व पै गिरा दो गाज
मोहिनी स्वराज्य धुनि गूँज उठे भारत में
ऐसी रणभेरी नवयुवकों बजा दो आज

आधुनिक काल में भी अनेक कवि राष्ट्रभक्ति से भरी कविता लिख रहे हैं। श्री सोहनलाल द्विवेदी इसमें अप्रतिम हैं।

जिन आधुनिक अर्थों में राष्ट्रीयता का प्रयोग होता है, वह हमारे लिए एक नई बात है। उसकी जड़ें अभी अधिक गहरी नहीं गई हैं, देश परतन्त्र है। इस दशा में हमारी राष्ट्रीय कविता अधिकांश में स्वतन्त्रता के लिए चीत्कार अथवा उच्छृङ्खल विद्रोह की पुकार बन कर रह गई है। उसमें कला का प्रवेश तो बहुत ही कम हो पाया है। श्री माखन लाल (भारतीय आत्मा) और श्री सोहनलाल द्विवेदी की कुछ कविताओं को छोड़ कर अधिकांश में काव्यकला की छाया भी ढूँढ़ना कठिन है। राष्ट्रीय नेताओं और राष्ट्रीय आन्दोलनों को लेकर कथात्मक या वर्णनात्मक रूप में लिखने का प्रयत्न नहीं किया गया है। सियारामशरण गुप्त की "बापू" पुस्तिका इस ओर एक महत्त्वपूर्ण कदम अवश्य है, परन्तु वह भी काव्यकला से शून्य है। दिन प्रतिदिन पत्रों में जो राष्ट्रीय कविताएँ प्रकाशित होती हैं उनमें उच्छृङ्खल भावना भर दी जाती है। "राष्ट्रीयता की भावना का विकास आधुनिक हिन्दी कविता में उत्कृष्ट अवश्य हो चला है, परन्तु अभी उसमें गंभीरता और संयम की कमी है। देश के उत्थान के लिए जो कुछ भी मन में आया उसका कह डालना सुरुचिपूर्ण नहीं है। हमें यह देखना है कि हमारी कविता में यह अनुभूति की गम्भीरता कब तक आती है।"

४४. महादेवी की कविता

(१) महादेवी की कविता में दुःखवाद (२) इस दुःखवाद के पीछे महादेवी का दर्शन (३) महादेवी की कविता में प्रतीकों का प्रयोग (४) महादेवी का कल्पनात्मक दार्शनिक दृष्टिकोण (५) कला और कल्पना का सम्मिश्रण (६) गीतात्मकता ।

महादेवी को दुःखवाद का प्रधान कवि कहा जाता है । उनकी पंक्तियों में रोदन है । उनकी कविताओं में दुःख की बड़ी कल्पना-पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है । यह दुःख उन्हीं की कविताओं में नहीं पाया जाता । लगभग सभी आधुनिक कवियों ने एक प्रकार के आध्यात्मिक असंतोष का अनुभव किया है । और वह दुःखवाद के सारे "सरगम" पर दौड़ गए हैं । इस दुःखवाद की पहली कवियित्री महादेवी हैं । प्रसाद के "आँसू" और पंत की "ग्रंथि" से लेकर महादेवी द्वारा परिपुष्ट होती हुई भगवती चरण और बच्चन में जाकर दुःखवाद की धारा दो विशेष दृष्टिकोण ग्रहण करती दिखाई पड़ती है । छायावाद के प्रारम्भकाल का वातावरण भाव-प्रधान था और जैसे जैसे राजनैतिक कारणों से बुद्धितत्त्व को विशेष प्रश्रय मिलता गया, उस पर बुद्धि की प्रखर किरणें पड़ीं और दुःखवाद के नये पहलू का विकास हुआ । पहले दुःख की कविताएँ अस्पष्ट, आध्यात्मिक संकेत-प्रधान थीं, आज दुःख की कविताएँ अधिक स्थूल हैं और वर्तमान जीवन के प्रति असंतोष उनमें साफ झलकता है । बच्चन की कविताओं में तो यह मुखर हो उठा है ।

महादेवी का दुःखवाद आध्यात्मिक है । उनके दर्शन के अध्ययन, स्त्री-स्वभाव और साहित्यिक परम्पराओं से प्राप्त हुई सुगमता ने उनके इस आध्यात्मिक दुःखवाद को एक विशिष्ट रूप दे दिया है । श्री रायकृष्णदास ने "नीरजा" की भूमिका में

लिखा है—"उनकी (महादेवी की) काव्य-साधना आध्यात्मिक है। उसमें आत्मा का परमात्मा के प्रति आकुल प्रणय-निवेदन है। कवि की आत्मा मानो इस विश्व में बिछुड़ी हुई प्रेयसी की भाँति अपने प्रियतम का स्मरण करती है। उसकी दृष्टि से, विश्व की सम्पूर्ण-प्राकृतिक शोभा-सुषमा एक अनन्त अलौकिक चिर सुन्दर की छाया-मात्र है।" उनके इस विचित्र दृष्टिकोण से उनके एक विशिष्ट दर्शन और उनकी अपनी काव्यकला का जन्म हुआ है।

नीरजा के पहले गीत से ही महादेवी का दर्शन स्पष्ट हो जाता है। वे आत्मा को प्रोषितपतिका के रूप में पाती हैं। सहसा उन्हें एक पारलौकिक सम्बन्ध का आभास मिलने लगता है और उनका हृदय एक प्रकार की टीस से क्रंदन करने लगता है। उनके दर्शन को वास्तव में उसी अर्थ में दर्शन कहा जा सकता है जिस अर्थ में हम रहस्यवाद को दर्शन कहेंगे। सच बात यह है कि कुछ दार्शनिक अनुभव ज्ञान, साक्षात्कार या सन्तों की परिभाषा में सहज ज्ञान द्वारा सत्य की प्राप्ति को दर्शन का विषय नहीं मानते। वे पृथ्वी से अधिक निकट रहने में ही रक्षा समझते हैं। उनका एक मात्र साधन है तर्क। परन्तु रहस्यवादी का ज्ञान दूसरे प्रकार का ज्ञान है। उनकी साधना की धारा विपरीत है। पहला समष्टि से व्यष्टि की ओर जाता है, दूसरा व्यष्टि से समष्टि की ओर। रहस्यवादी की आँख एक दिन प्रभात में खुल पड़ती है और तब उसे समष्टि दिखाई ही नहीं पड़ती। एक ही व्यक्ति जैसे, एक ही भाव जैसे उसकी पुतलियों में समा गया हो। इस संसार में वह अकेलेपन का अनुभव करता है। भिन्न भिन्न प्रकार के प्रेम-प्रतीकों में अव्यक्त-व्यक्त, परमात्म-आत्म, पूर्ण-अपूर्ण या असीम-ससीम का एक पारस्परिक सम्बन्ध प्रत्येक युग के रहस्यवादियों के गान का विषय रहा है।

जिस गीत के सम्बन्ध में हमने ऊपर कहा है उसका विश्लेषण करने पर हमें कई बातें मिलती हैं। चरमतत्त्व और आत्मतत्त्व का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। यह प्रकृति न जाने कब से परमात्मा से विलग हुई है, परन्तु इसे इस बात का; इस अलगाव का दुःख है। उसके और परमात्मा के बीच में इस दुःख के स्रोत के द्वारा एक प्रकार का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। युग-युग से यह सम्बन्ध चला आता है। मानवी आत्मा इस दुःख स्रोत के ही अन्दर से कमल के रूप में प्रगट होकर जल के ऊपर उठती है। कदाचित् प्रकृति के इस दुःख से ही उसकी उत्पत्ति हुई है। उसमें इसी पारलौकिक "पीर" का सौरभ है। तत्त्वरूप से यह आत्मा निर्विकार है; निष्काम है। इसकी स्थिति पूर्ण ज्ञान में होने से वह विरागी है। उसे केवल एक बार इस पारलौकिक सम्बन्ध का ज्ञान हो जाय और अव्यक्त की एक झलक या मुस्कान दीख पड़े और वह अपनी सारी पूर्णता में खिल जायगी। इस गीत में कई सिद्धान्त उपस्थित किए गए हैं—(१) इस "प्रेम की पीर" में आत्मा की स्थिति स्वाभाविक बात है (२) इस पीर का विकास करने या इसका अधिक-अधिक अनुभव करने से आत्म-तत्त्व परमात्म-तत्त्व के अधिक निकट पहुँचता है (३) शान्ति, मुक्ति या चरमावस्था में पहुँचने के लिये, किसी अंश में हो, परमात्मा के विशेष अनुग्रह की आवश्यकता है। इस तरह इस दर्शन में विशिष्टाद्वैत की थोड़ी-सी झलक आ जाती है। आत्मा कितनी ही साधना करे, परमात्मा की थोड़ी अनुकंपा आवश्यक है। इस अनुकंपा के लिये याचना कविता का बड़ा सुन्दर विषय है। स्त्री पुरुष के रूपक में यह याचना और भी सुन्दर हो जाती है। (४) आत्मा की परोक्ष के प्रति विह्वलता, आत्मा की पूर्वानुभूति या, अधिक स्पष्ट शब्दों में

अस्तित्व की अविच्छिन्नता का प्रमाण है। दुख जीवन-तंतु को छेड़ कर एक प्रकार की अतीन्द्रिय झङ्कार उठा देता है और हमें एकाएक अपने दैवी सम्बन्ध और सनातन जीवनधारा का ज्ञान हो आता है।

महादेवी जीवन को वेदना की अभिव्यक्ति मानती हैं। यह दुःख एक प्रकार की साधना है। किसी भी अन्य प्रकार की साधना की आवश्यकता नहीं—

[१] विरह का जलजात जीवन विरह का जलजात
वेदना में जन्म करुणा में मिला आवास

[२] अपना जीवन दीप मृदुलतर
वर्ती कर निज स्नेह सिक्त उर

[३] तू जल जल जितना होता क्षय
मधुर मिलन में मिट जाता तू
उसकी उज्वल स्मित में घुल खिल
मदिर मदिर मेरे दीपक जल
प्रियतम का पथ आलोकित कर

जलता हुआ दीपक उनके लिए आत्मा का सब से सुन्दर प्रतीक है। तम अज्ञात अथवा परम सत्ता का। अन्धकार और प्रकाश समाप्त न होने वाला खेल खेलते रहते हैं। अन्धकार और प्रकाश का भेद अज्ञान के कारण है। विरह की साधना द्वारा ज्ञान होते ही भेद जाता रहता है। परन्तु यह ज्ञान बाहर से नहीं जाता। इसके लिए तन (पार्थिव सम्पर्कों और विकारों) को मोम की तरह जलाना होगा, मन को जलाना होगा, चेतना को विदा करना होगा। साधना की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में होकर कवियित्री इसी आध्यात्मज्ञान की ओर पहुँच रही है। "रूपाभ" में प्रकाशित उनकी एक कविता से यह स्पष्ट है--

मोम-सा तन घुल चुका है अब दीप-सा मन जल चुका है
चल पलक हैं निर्निवेषी,
कल्प-पल सब तिमिरवेषी,
आज स्पंदन भी हुई उर के लिए अज्ञात देशी।
चेतना का स्वर्ण जलती
वेदना से गल चुका है

अथवा

मुझे झंझा उच्छ्वास पुकारें;
तरी सागर, लहरें पतवारें;
मुझे अब याद है एक कहानी
अदेश अकूल सदा बहती मैं
अकेली वियोग-कथा कहती मैं

ये कविताएँ कवियित्री को उस ओर लिए जा रही हैं जहाँ रहस्यवादी के लिए अज्ञात-अज्ञात नहीं रह जाता और वह परोक्ष सत्ता की बीन बन जाता है।

"प्रसाद" जी ने ठीक ही कहा है कि आलंबन के प्रतीक बदलते रहते हैं क्योंकि रहस्यमय अनुभूति युग के अनुसार अपने लिए विभिन्न आधार चुना करती है। महादेवी की कविता की अस्पष्टता शब्दों और अर्थों की उतनी नहीं जितनी इन प्रतीकों की है। उनके प्रतीकों की अपनी भाषा है और उससे परिचित हो जाने पर ही हम उनके काव्य का रसास्वादन कर सकते हैं।

महादेवी साधना में विश्वास करती हैं यह हम पहले कह चुके हैं; परन्तु यह साधना योग-जैसी कुछ कठिन साधना नहीं है। यह साधना है—प्रेम में अधिक-अधिक रमते जाना, "सूलों की सेज पर सोना।" इधर महादेवी में मीरा की झलक मिल जाती है। परन्तु मीरा में महादेवी जैसे तीव्र कल्पना नहीं है।

उन्होंने निर्गुण और सगुण में समन्वय स्थापित किया है। महादेवी निर्गुण या शायद इससे भी परे की उपासक हैं। उन्होंने कवि-प्रतिभा और गहरी अनुभूति के द्वारा लक्ष्य को सुलभ करने की चेष्टा की है। मीरा ने कृष्ण का एक प्रतीक ले लिया था। इसके प्रयोग के पीछे परम्परा का बल होने के कारण वह हमें अधिक सुगम है। महादेवी के लिए 'सौन्दर्य' प्रतीक है परन्तु सौन्दर्य के उपादान सैकड़ों भिन्न वस्तुएँ होने के कारण प्रतीकों की संख्या भी बढ़ जाती है। इन प्रतीकों के भीतर से लक्ष्य-प्राप्ति का प्रश्न उनके सामने है। इसीलिए वे बन्धनों से भागती नहीं—

क्यों मुझे प्रिय हो न बन्धन
बीन-बन्दी तार की झंकार है आकाशचारी
धूल के इस मलिन दीपक से बँधा है तिमिरहारी
बाँधती निर्बंध को मैं बन्दिनी निज बेड़ियाँ गिन

हिन्दी के दूसरे श्रेष्ठ दार्शनिक कवि निराला का भी संसार के प्रति यही दृष्टिकोण है परन्तु अद्वैतवाद से सम्बन्धित होने के कारण वे जहाँ-तहाँ आत्मा की निर्लेपता का सन्देश देते हैं। "गीतिका" की भूमिका में वे कहते हैं—"मैं दूर, सदा ही दूर।" दोनों कवि यह विश्वास रखते हैं कि यह ब्रह्मांड बीज-रूप से उनके शरीर में व्याप्त है। धूल की बेड़ी में निर्बंध बन्दी हो गया है। निराला ने एक गीत—'जग का देखा एक तार'—में परमात्म-सत्ता पर मानवी-रूप का आरोप किया है। महादेवी अपनी ससीमता पर गर्व करती है। बात एक है।

अन्त में, महादेवी का दार्शनिक दृष्टिकोण इस पद से प्रकट हो जाता है—

मेरा प्रतिपल छू जाता है
कोई कालातीत

स्पंदन के तारों पर गाती
एक अमरता गीत
भिक्षुक-सा रहने आया दृग-तारक में आकाश

उनकी सारी कविता इसी दार्शनिक चिन्तन से स्फुरित हुई है परन्तु उसमें बुद्धिवाद दिखाई नहीं पड़ता। उनके हृदय ने उनके दार्शनिक चिन्तन को आत्मसात कर लिया है और अत्यन्त कलापूर्ण छन्दों में नवीन प्रतीकों द्वारा उसका प्रकाशन किया है।

४५. 'निराला' का दार्शनिक चिंतन और प्रकृतिवाद

(१) निराला का अद्वैतवादी वेदांत (२) वेदांत दर्शन और निराला के वेदांत में भेद (३) प्रकृति के सम्बन्ध में निराला का रहस्यवादी दृष्टिकोण (४) निराला के प्रकृतिवाद का आधार उनका वेदांत-दर्शन है।

निराला अद्वैतवादी वेदांती । परिमल की "जागरण" शीर्षक कविता में हमें उनके अद्वैतवाद के दर्शन होते हैं। इस कविता में कवि ने आत्मा की चरम सत्ता में स्थिति को सच मान कर उसी के द्वारा सृजनक्रिया के होने का उल्लेख किया है। मानवी आत्मा को जड़ता घेरे हुए है। वह माया के आवरण से ढकी हुई है। यह जड़ता अथवा मायावरण सत्य नहीं है। यह वास्तव में "अगणित तरंग रङ्ग"—मात्र है। चिदात्म तत्त्व को हम किसी विशेषण से सीमित नहीं कर सकते। वह गुणों के परे है। वासनाओं अर्थात् मन के विकारों के कारण ही हम अपने चारों ओर जड़ की सृष्टि कर लेते हैं। उनसे अहम् "मैं" की धारणा दृढ़ हो जाती है। तब अज्ञान के कारण हमें सब तरफ भिन्नता और परिवतन दीख पड़ते हैं। जड़ इन्द्रियों के द्वारा हम स्खलन और पतन को प्राप्त होते हैं। परन्तु यही इन्द्रियों का बार बार बहिरागम हमारे उत्थान का भी कारण हो सकता है। केवल

शुद्ध ज्ञान की आवश्यकता है जिसे प्राप्त करने के बाद जीवात्मा इन आवरणों को भेद कर लक्ष्य तक पहुँचती है। अन्त में उसकी आनन्दमय स्थिति का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है—

अविचल निज शान्ति में
क्लान्ति सब खो गई
डूब गया अहङ्कार
अपने विस्तार में
टूट गये सीमा-बन्ध
छूट गया जड़-पिन्ड
ग्रहण देश काल का।
निर्बीज हुआ मैं
पाया स्वरूप निज
मुक्ति कूप से हुई।
नीड़स्थ पत्ती की
तम-विभावरी गई;
विस्तृत अनन्त पथ
गगन का मुक्त हुआ;
मुक्त पङ्ख उज्ज्वल प्रभात में
ज्योतिर्मय चारो ओर
परिचय सब अपना ही।
स्थिति में आनन्द में चिरकाल
जाल में मुक्त।

आनन्दमय चिदात्मतत्त्व में सृष्टि की इच्छा हुई। उसने त्रिगुणात्मक रूप रचे; फिर मन, फिर बुद्धि, चित्त, अहङ्कार, पंचभूत, रूप-रस गंध-स्पर्श विकसित किये। यह इच्छा प्रेम का एक स्वरूप थी। उसमें ज्ञान का आकर्षण था, मोह नहीं था।

उसने अपनी माया का प्रसार किया परन्तु प्रेम के रूप में, छलना के रूप में नहीं।

ज्योति वह दिखाती थी
संचालित करती थी उसी की ओर

इस प्रकार कवि यह बताना चाहता है कि माया असत्य है, यदि उसे किसी हद तक सच भी माना जाय तो वह आनन्द की अभिव्यक्ति ही है जो प्रेम का रूप सा धारण किए हैं। हमारे मन ने उसे विकृत रूप से गहण किया। माया का शुद्ध रूप, प्रेम-रूप, समझने पर "सोऽहम्","अराज्प्यूचितम्","तत्त्वमसि" मंत्रों द्वारा एकाव में बहुत्व के विश्लेषण की बात समझ लेने पर परमाणुओं के प्रतिघातों से बचा जा सकता है।

कवि ने किस दार्शनिक सिद्धान्त का सहारा लिया है, यह बात समझने के लिए यह कविता महत्वपूर्ण है क्योंकि यहाँ हमें वे सब विचार मिल जीते हैं जिन्होंने उसकी रचनाओं के एक बड़े अंश में कवित्वपूर्ण रूप प्राप्त किया है। इसी कविता में निराला ने सृष्टि की उत्पति के विषय में एक दूसरा दृष्टिकोण रखा है—"शब्दज संसार यह।" "गीतिका" की भूमिका में एवं गीतों में इस विचार की पुष्टि हो गई है।

"परिमल" और "गीतिका" की कविताओं के अध्ययन करने पर पाठक इस सिद्धान्त पर पहुँचता है कि निराला वेदान्ती हैं परन्तु उनका "वेदांत" या अद्वैतवाद विशुद्ध नहीं रह सका। उसमें भक्ति की भावना मिल गई है। विशुद्ध वेदांत-ज्ञान कविता का विषय नहीं हो सकता। इस भक्ति के साथ सूफ़ी प्रेम-भावना का भी सम्मिश्रण है। एक प्रकार से अद्वैतवाद के मेरुदंड को पकड़े हुए भी निराला ने पिछले युगों की कितनी ही धाराओं का सहारा लिया है। "परिमल" के 'पंचवटी प्रसंग' में राम के इस

कथन में कई दार्शनिक दृष्टिकोणों का समन्वय करने की चेष्टा की गई है—

> भक्ति-योग-कर्म-ज्ञान एक हैं
> यद्यपि अधिकारियों के निकट भिन्न दीखते हैं।
> एक ही है दूसरा नहीं है कुछ—
> द्वैत भाव ही है भ्रम।
> तो भी प्रिये,
> भ्रम के ही भीतर से
> भ्रम के पार जाना है।
> मुनियों ने मनुष्यों के मन की गति
> सोच ली थी पहले ही।
> इसीलिए द्वैत-भाव-भावुकों में
> भक्ति की भावना भरो।

एक प्रकार से यह कोई तर्क नहीं हुआ परन्तु तर्क द्वारा समन्वय नहीं किया जा सकता।

निराला का सारा काव्य ही अद्वैत-भक्त-दर्शन से प्रभावित एवं संचालित है। वे प्रकृति और परम सत्ता में अद्वैतता मानते हैं परन्तु उनका दर्शन ज्ञानमूलक होने के कारण महादेवी या जायसी की तरह वह प्रकृति-परमात्मा को एकात्म नहीं कर पाते, भिन्नता का भान बना रहता है।

प्रकृति के विषय में रहस्यवादी दृष्टिकोण रखने के कारण ऐसे कवियों के प्रकृति के चित्रण में कई प्रकार की विशेषताएँ आ जाती हैं। एक तो कवि प्रकृति का यथार्थ वर्णन नहीं कर सकता। उसके रङ्ग साधारण रङ्गों से कहीं गहरे होते हैं। उसके लिए पवन में जैसे केसर घुला है। एक प्रकार से उसकी इन्द्रियाँ सूक्ष्मतम हो जाती हैं और उसकी इन्द्रियों के विषय में विपर्यय

हो सकता है। वह रङ्गों को सुनता है और स्वरों को देखता है। उसका प्रकृति-चित्रण प्रकृति के व्यापारों को बढ़ा चढ़ा देता है, एक अत्यन्त तेज प्रकाश से चमका देता है या उनमें उलट-पुलट कर देता है। जायसी सिंहलद्वीप के सरोवर का वर्णन करता है—

फूले कुमुद सेत उजियारे। मानहुँ उगे गगन महँ तारे॥
उतरहिं मेघ चढ़हिं लेइ पानी। चमकहिं मच्छ बीजु कै बानी॥
पैरहिं पंखा सुसगहि संगा। सेत पीत राते बहु रंगा॥
नग अमोल तेहिं तालहिं दिनहिं बरहिं जस दीप।
सो मरजिया होइ तहँ सो पावै वह सीप॥

दूसरे, उसके प्रकृति-वर्णन में आत्मीयता होती है। उसका दृष्टिकोण पूर्णरूप से आत्म-व्यंजक होता है, पर व्यंजक नहीं। वह प्रकृति का वस्तु-वर्णन नहीं करता। प्रकृति उसे प्रियतम के रूप में या परोक्ष-सत्ता के प्रतिबिम्ब के रूप में दिखलाई पड़ती है। जायसी के ऋतुवर्णन में यही दृष्टिकोण है। उसमें कवि जैसे प्रकृति की विरहाकुल आत्मा की पीड़ा का ही अनुभव करने लगा है। तीसरे, वह विराट् और विशाल प्रकृति-पट के अधिक निकट होता है। वह भौतिक सीमा से कहीं ऊँचा उड़कर प्रकृति के भीतर के एक चरम सत्य या चरम सौन्दर्य तक पहुँचता है। अद्वैतवादी ज्ञानी का दृष्टिकोण कुछ अंशों में इससे भिन्न है। वह चाहे तो प्रकृति को बाहर से भी देख सकता है, विशेष कर यदि वह साधना के ऊँचे स्तर पर नहीं है। उच्च स्तर पर पहुँचने पर उसमें और रहस्यवादी में कोई अन्तर नहीं रहता।

निराला ने प्रकृति को रहस्यवादी और अद्वैतवादी कवि के दृष्टिकोण से देखा है। उन्होंने आत्मा और परमात्मा के रूप में

प्रकृति के क्रीड़ा-विलास का सुन्दर चित्रण किया है। इस दृष्टिकोण को हम उनकी "जुही की कली" शीर्षक कविता में पूर्ण विकसित रूप में पाते हैं। पवन व्यापक है। वह असीम का प्रतीक है। जुही की कली ससीम है—आत्मा का रूपक वृन्त मोह का है। विराट की क्षुद्र के प्रति कितनी आसक्ति है, उसी के फलस्वरूप आत्मा की मुक्ति होती है। विराट् से एक बार साक्षात होते ही क्षुद्र विराट् होकर उसमें मिल जाता है—

हेर प्यारे को सेज पास
नम्रमुखी हँसी—खिली
खेल रंग प्यारे संग
(जुही की कली)

एक दूसरी कविता "शैफालिका" में शैफाली वासकसज्जा है। प्रेमी गगन (अनंत का सूचक) उसके लिए शिशिर के चुम्बन भेजता है। शोक-दुःख-जर्जन इस नश्वर संसार की क्षुद्र सीमा को पार कर प्रियालिंगन में प्रेमिका की आत्मा आध्यात्मिक विकास की सर्वोच्च सीमा पर (अमर विराम के सप्तम सोपान पर) पहुँच जाती है। इस मिलन के फलस्वरूप वह भवबंधन से मुक्त होती है—

पाती अमर प्रेम धाम
आशा की प्यास एक रात में भर जाती है
सुबह को आली शैफाली झर जाती है

शैफाली का झर जाना, आत्मा का पृथ्वी के विकार के सम्बन्ध को छोड़ देना ही मनुष्य के ईश्वर-प्रेम की परिणिति है।

कुछ कविताओं में प्रकृति परमात्म तत्त्व की प्राप्ति के लिए--पूर्ण विकास के लिए--तप करती है। "सोचती अपलक आप खड़ी" और "सूखी री वह डाल वसन बासन्ती लेगी" शीर्षक

कविताओं में यही दृष्टिकोण विकसित हुआ है। फलस्वरूप प्रकृति में जो बसंत आता है वह प्रियमिलन की सूचना है--

अमरण भर वरण गान
बन बन उपवन उपवन
जागी छवि, खुले प्राण
वसन विमल तनु वल्कल
पृथु उर-सुर पल्लवदल
उज्ज्वल दृग कलिकल पल
निश्चल कर रही ध्यान

प्रकृति के प्रति निराला का एक और दृष्टिकोण भी है, जब वे प्रकृति में परमात्मतत्त्व की अनुभूति प्राप्त करते हैं। तब प्रकृति का अपरोक्ष रूप अधिक स्पष्ट होकर निखरने लगता है और एक सुन्दर स्त्री-रूप में उसकी कल्पना-मूर्ति सामने आती है। यही वास्तव में शुद्ध वेदांती दृष्टिकोण है जिसके अनुसार प्रकृति और पुरुष में कोई भेद नहीं। उन्होंने प्रकृति में अव्यक्त के सौन्दर्य की सुन्दर व्यंजना की है—

रही आज मन में
वह शोभा जो देखी थी बन में
उमड़े उपर नवघन, घूम-घूम अम्बर
नीचे लहराता बन हरित श्याम सागर
उड़ा वसन बहती रे पवन तेज क्षण में
नदी तीर, श्रावण, तट नीर छाप रहता
नील पैंग का हिंडोर चढ़ी पैंग रहता
गीत मुखर तुम नवस्वर विद्युत ज्यों घन में
साथ-साथ नृत्यपरा कलि-कलि की अप्सरा
ताल लताएँ देती करल-पल्लव-धारा
भक्त मोर चरणों के नीचे नत तन में

हिन्दी नाटक का विकास

१. भारतेन्दु के पूर्व के हिन्दी नाटक, २. हिन्दी में नाटक लिखे जाने का कारण, ३. भारतेन्दु काल में नाटकों के आरंभ होने का कारण, ४. भारतेन्दु-काल, ५. भारतेन्दु और प्रसाद के मध्य का काल, ६. प्रसाद-काल, ७. वर्तमान काल, ८. उपसंहार।

संस्कृत साहित्य नाटक की दृष्टि से भी पर्याप्त समृद्ध है पर हिन्दी साहित्य उसकी इस परंपरा को अपना न सका। यही कारण है हिन्दी के चार कालों में प्रथम तीन में नाट्य-साहित्य का एकांत अभाव मिलता है। केवल नाम के लिए कुछ अनुवाद और कुछ मौलिक ग्रंथ हैं। उदाहरण के लिए, संस्कृत नाटक प्रबोध-चंद्रोदय का जोधपुर नरेश जसवंत सिंह कृत प्रबोध-चंद्रोदय-नाटक नामक हिन्दी अनुवाद, तथा रीवाँ नरेश विश्वनाथ सिंह का आनन्द-रघुनन्दन नाटक ये दो ग्रन्थ लिए जा सकते हैं। कहना न होगा कि हिन्दी का प्रथम अनुवाद यह प्रबोध चंद्रोदय तथा प्रथम मौलिक नाटक यह आनन्द रघुनन्दन है। आश्चर्य है कि नाटक का आरंभ पंडितों आदि से न होकर राजाओं से हुआ। इस प्राचीन परंपरा में गीता-रघुनन्दन, शकुंतला, न हुष समय स्तर देव माया प्रपंच आदि ८-१० अन्य ग्रन्थों के भी नाम लिए जा सकते हैं।

यहाँ स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि नाटक के आरंभ में इतनी देर क्यों हुई। इसके लिए कई कारण दिए जा सकते हैं। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि हिन्दी रंगमंच का आरंभ से ही अभाव था और इस अभाव के कारण लोगों का ध्यान उधर न जा सका। दूसरा कारण गद्य का अभाव है। तीसरी बात यह भी कही जा सकती है कि नाट्य रचना की ओर झुकने के

लिए जिस मनः स्थिति की आवश्यकता है वह पराजय आदि के कारण हिन्दी वालों के पास नहीं थी। आपसी झगड़ों तथा परतन्त्रता की साँस में नाटक की रचना संभव न थी। एक कारण यह भी हो सकता है कि मुसलमानी मज़हब में नाटक आदि खेलने का विरोध किया गया है, अतः लोगों की हिम्मत न पड़ी कि राज धर्म के विरुद्ध एक पग भी चलें। इधर कुछ आलोचकों ने इस कारण को अशुद्ध माना है; पर सत्य यह है किसी न किसी रूप में इसका भी प्रभाव अवश्य पड़ा।

नाट्य रचना में व्यवधान डालने वाले कारणों के समाप्त होते ही लोगों का इस ओर ध्यान गया और सर्वप्रथम भारतेन्दु इस क्षेत्र में अग्रणी बने। यहाँ नाटक आरंभ किए जाने के कुछ प्रधान कारण भी देखे जा सकते हैं। सबसे बड़ी बात तो गद्य का आरंभ था। इसके अतिरिक्त अँग्रेजी साहित्य से हमारा संपर्क का भी बहुत प्रभाव पड़ा। अब तक अरबी और फारसी साहित्य से हमारा संपर्क था पर उन दोनों ही में प्रायः नाटकों का अभाव था। इधर जब अँग्रेजी में एक ऐसी चीज़ लोगों को मिली जिसकी ओर अभी तक उनका ध्यान नहीं गया था तो लोग स्वभावतः आकर्षित हुए। तीसरी बात यह भी हुई कि बंगाल में नाटकों का आरंभ हो गया था। अपनी बंगाल यात्रा में भारतेन्दु ने इसका अनुभव किया और हिन्दी के लिए भी इसे आवश्यक समझा। अंतिम बात यह भी कही जा सकती है कि सुधार-आंदोलनों के कारण वह काल ही तर्क और कथोपकथन का था। इसका भी प्रच्छन्न रूप से नाट्य-रचना पर प्रभाव पड़ा, और इन सभी कारणों ने मिलकर हिन्दी नाटक को जन्म दिया।

हिन्दी नाटक के प्रथम काल को भारतेन्दु-काल कह सकते

हैं, क्योंकि उस युग के प्रधान नाटककार वे ही थे। उन्होंने स्वयं १८ नाटक लिखे जिनमें मौलिक, छाया एवं अनुवाद तीनों ही प्रकार की रचनाएँ थीं। भारतेन्दु ने 'नाटक' नाम का एक निबंध भी लिखा जिसका विषय नाटक की कला था। इस प्रकार हम देखते हैं कि रचना और आलोचना दोनों ही का जन्म प्रायः साथ ही साथ हुआ।

भारतेन्दु के प्रधान नाटक भारत दुर्दशा, चन्द्रावली तथा सत्य हरिश्चन्द्र आदि हैं। भारतेन्दु युग उनकी मृत्यु के बाद भी प्रायः १६०० तक चलता है, क्योंकि कला एवं विषय की दृष्टि से लोग उनसे आगे न बढ़ सके। इस युग के अन्य नाटककारों में बालकृष्ण भट्ट, लाला श्रीनिवास, राधाचरण गोस्वामी, राधाकृष्णदास और किशोरीलाल गोस्वामी आदि हैं जिनके प्रसिद्ध नाटक क्रम से कलि राज की सभा तथा बाल विवाह, प्रह्लाद चरित्र तथा संयोगिता स्वयंवर, चन्द्रावली तथा बूढ़े मुँह मुँहासे, दुखिनी बाला तथा पद्मावती, एवं चौपट-चपेट तथा मयंक मंजरी हैं।

कला की दृष्टि से भारतेन्दु काल नाटक की शैशवावस्था का था। अँग्रेज़ी, पारसी, संस्कृत तथा बंगला की मिश्रित शैली का प्रयोग होता था। आरंभ के नाटकों में संस्कृत का प्रभाव अधिक था पर धीरे-धीरे वे अँग्रेज़ी की ओर झुक रहे थे। संस्कृत के अनेक प्रकार के कथोपकथनों की अस्वाभाविकता स्पष्ट हो चुकी थी। मनोविज्ञान एवं स्वाभाविकता की ओर लोग धीरे-धीरे झुक रहे थे। विषय की दृष्टि से पौराणिक, ऐतिहासिक, सुधारवादी, सामाजिक (स्त्री शिक्षा, बाल-विवाह, विधवा विवाह, अछूत समस्या आदि), राष्ट्रीय, तथा प्रेमपरक प्रधान थे। अनुवाद अँग्रेज़ी, संस्कृत और बंगला तीनों ही

भाषाओं से हुए, और इस क्षेत्र में अनुवादकों को काफी सफलता मिली।

भारतेन्दु काल और प्रसाद काल के बीच का युग नाटक की दृष्टि से बड़ा निराशापूर्ण है। मोटे रूप से इसे १९०० से १९१५ तक मान सकते हैं। भारतेन्दु काल की नाटक-रचना की परंपरा उस काल में अबाध गति से न बह कर बहुत धीमी हो गई। बंग-भंग आदि के कारण देश-व्यापी हलचल तथा द्विवेदी जी का गद्य की शुद्धि की ओर विशेष ध्यान जाना, आदि इसके प्रधान कारण थे। फिर भी कुछ नाटक इस बीच में भी लिखे ही गए। लेखकों में रामगुलाम लाल, रामनारायण मिश्र, जयशंकर प्रसाद बद्रीनाथ भट्ट, वृन्दावन लाल, तथा नाटकों में जनक-बाड़ा, धनुषयज्ञ, करुणालय आदि प्रधान हैं। कला में कुछ विकास हुआ। नाटक धीरे-धीरे जीवन के समीप आने के पथ पर थे। विषय प्रायः वे ही रहे। अनुवाद भी अंग्रेजी, संस्कृत और बंगला तीनों से हुए।

१९१५ के बाद के नाटक-युग को प्रसाद काल कहा जा सकता है। इस समय तक गद्य का समुचित विकास हो चुका था लोग संस्कृत, अँग्रेज़ी तथा बंगला के नाटकों से पूर्णतः परिचित हो चुके थे। साथ ही धीरे-धीरे हिन्दी की स्वतंत्र नाट्य शैली का भी विकास हो चला था।

प्रसाद जी भारतीय संस्कृति और इतिहास के अध्येता थे अतः उनका ध्यान बराबर भारत के उस उज्वल अतीत पर था। इसी कारण उन्होंने प्रधानतः ऐतिहासिक नाटक लिखे जिनमें चंद्रगुप्त, स्कंदगुप्त, ध्रुवस्वामिनी तथा अजातशत्रु आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। इस काल के अन्य नाटकों में वियोगी हरि की

छद्मयोगिनी, मैथिली शरण गुप्त की तिलोत्तमा, कौशिक का भीष्म, मिश्रबंधुओं का पूर्व भारत, सुदर्शन का अंजना, गोविन्द-बल्लभ पंत का वरमाला, कामताप्रसाद गुरु का सुदर्शन, उग्र का ईसा, मिलिंद का प्रताप-प्रतिज्ञा, उदयशंकर भट्ट का चंद्रगुप्त, गोविन्ददास का हृष, लक्ष्मीनारायण मिश्र के अशोक, राक्षस का मंदिर, मुक्ति का रहस्य तथा प्रेमचन्द्र का कर्बला आदि अधिक प्रसिद्ध हैं।

विषयों की दृष्टि से शुद्ध पौराणिक तथा सुधारवादी नाटक इस युग में कम मिलते हैं। ऐतिहासिक, सामाजिक, प्रेमपरक तथा समस्या-प्रधान नाटकों की ही विशेषता है। जिस प्रकार इतिहास की ओर प्रसाद के कारण लोग विशेष झुके, उसी प्रकार सामाजिक समस्याओं की ओर लोग लक्ष्मीनारायण मिश्र के कारण झुके। कुछ लोगों ने अनुवाद भी किए। अँग्रेजी के माध्यम से फ्रांसीसी लेखक मालियर, रूसी लेखक टालस्टाय, वेल्जियम के मेटरलिंक तथा जर्मन लेखक शीलर आदि के अनुवाद हिन्दी में आए। अँग्रेज़ी, संस्कृत, बंगला, मराठी और गुजराती के भी अनुवाद हुए।

कला की दृष्टि से स्वाभाविकता की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। कथावस्तु, कथोपकथन, देश-काल, ·आदि का भी संतुलित रूप लोगों के मस्तिष्क में स्पष्ट हो गया और उनके कलात्मक संगम नाटकों में दिखाई पड़ने लगे। इसके स्थान पर लोग मनोविज्ञान की ओर विशेष ध्यान देने लगे। यह स्पष्टतः यूरोपीय प्रभाव था। गीतों के प्रयोग कम कर दिए गए। छंदमय कथोपकथन पूर्णतः हटा दिए गए। इस काल में कुछ नाटकों की भाषा तो बहुत काव्यात्मक रही, जैसे प्रसाद जी, पर दूसरी ओर लक्ष्मीनारायण मिश्र जैसे लोगों ने स्वाभाविक यथार्थवादी

भाषा का प्रयोग किया। इसी प्रकार कुछ नाटक केवल पढ़ने के लिए, लिखे गए। रंगमंचकी दृष्टि से वे पूर्णतः असफल थे। जैसे प्रसाद के नाटक पर दूसरी ओर मिश्रजी जैसे लोगों ने मंच के योग्य नाटक लिखे। कुछ ऐसे नाटक सफलता के साथ खेले भी गए। समवेत रूप से कविता, उपन्यास आदि की भाँति नाटक का भी यह बहुत सफल युग था।

प्रसाद के बाद नाटकों में और भी विकास हुआ है। अब मनोविज्ञान और चरित्र-चित्रण का ही विशेष ध्यान रखा जा रहा है। इधर जीवन की व्यस्तता के कारण नाटकों का स्थान एकांकियों ने ले लिया है। मनुष्य के बझे जीवन के लिए यह स्वाभाविक भी है। एकांकी यों तो संस्कृत में भी थे, भारतेन्दु ने भी लिखे और प्रसाद के भी आरंभ के दो-एक नाटक एकांकी थे, पर आधुनिक रूप में हिन्दी में इसका आगमन यूरोपीय प्रभाव का फल है। इस क्षेत्र में गोविन्ददास, रामकुमार वर्मा, भुवनेश्वर, उदयशंकर भट्ट, लक्ष्मीनारायण मिश्र, अश्क आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। प्रसाद का एक घूँट, भुवनेश्वर का कारवाँ, वर्माजी का चारुमित्रा, भट्टजी का स्त्री का हृदय, भगवतीचरण वर्मा का सबसे बड़ा आदमी आदि नाटक प्रतिनिधि एकांकी हैं। इस युग में सेठ गोविंददास तथा लक्ष्मीनारायण मिश्र आदि ने अमीरी गरीबी तथा नारद की वीणा आदि कुछ नाटक भी लिखे हैं। पर प्रधानतः यह युग एकांकियों का ही है। एकांकियों में कुछ नए प्रयोग भी इधर हुए हैं। जो रंगमंच की दृष्टि से बड़े सफल हैं। इस दृष्टि से श्री धर्मवीर भारतीय का नाम विशेष उल्लेख्य है।

इधर सिनेमा की टेकनीक ने नाटकों को काफ़ी प्रभावित किया है।

अन्त में यह कहना अनुचित न होगा कि हमारे नाटकों का स्तर काफी ऊँचा उठ आया है। गतिविधि को देखते हुए यह कहना अनुचित न होगा कि हिन्दी के नाट्य साहित्य का भविष्य बड़ा उज्ज्वल एवं आशापूर्ण है।

हिन्दी उपन्यास का विकास

१. विश्व में उपन्यास का आरंभ, २. भारत का कथा साहित्य, ३. पूर्व प्रेमचन्द काल, ४. प्रेमचन्द काल, ५. उत्तर प्रेमचन्द काल, ६. उपसंहार।

उपन्यास, नाटक-कविता आदि की भाँति बहुत प्राचीन नहीं है। इसका आरंभ आज से प्राय: १००० वर्ष पूर्व जापान में हुआ। वहाँ से यह यूरोप में पहुँचा और धीरे धीरे इसकी मान्यता बढ़ने लगी। इस क्षेत्र में यूरोप में इटली निवासी बोकैशियो पूरे महाद्वीप का प्रथम नेता बना। प्रारंभ में लोगों ने इसकी ओर अधिक ध्यान न दिया, पर १८वीं सदी के आरंभ तक लोगों को इसके महत्त्व का पता चल गया और यह नाटक कविता आदि से भी अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाने लगा। धीरे धीरे उसका प्रचार संसार में चारों ओर हुआ और आज साहित्य में इसका स्थान निस्संदेह सर्वोपरि है। कुछ दिन पूर्व तक भारत में भी पुराने लोग उपन्यास पढ़ना पाप समझते थे, पर आज यह भावना बहुत कम हो गई है।

भारत में ऋग्वेद, ब्राह्मण, उपनिषद, पुराण जैन तथा बौद्ध जातक, पंचतंत्र कथा, सरित्सागर आदि में कथा साहित्य तो है पर उपन्यास जैसी कोई चीज नहीं। कादम्बरी अवश्य कुछ इसके समीप है, पर समीप ही मात्र है। वह भी आज की परिभाषा में उपन्यास नहीं है। हिन्दी में इंशाअल्ला खाँ की कहानी,

कहानी होते हुए उपन्यास के ही समीप है अतः उसे प्रथम रचना मान सकते हैं। इसके बाद भारतेन्दु द्वारा अनुवादित मराठी उपन्यास 'पूरनप्रभा और चंद्रप्रभा' है। उपन्यास समझ कर लिखा गया हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास श्रीनिवास दास का 'परीक्षा गुरु' है।

'परीक्षा गुरु' से चलकर हिन्दी का उपन्यास-साहित्य चंद्र-कांता संतति, सेवा सदन, तितली आदि होते गोदान और 'शेखर एक जीवनी' तक पहुँचा है। इसके इस ६५-७० वर्ष के जीवन को स्पष्टतः ३ भागों में बाँट सकते हैं। पूर्व प्रेमचंद काल, प्रेमचंद काल तथा उत्तर प्रेमचंद काल।

पूर्व प्रेमचंद काल आरंभ से लेकर प्रायः १९१० तक आता है। इस काल के प्रतिनिधि उपन्यास लेखक देवकी नंदन खत्री, गोपालराम गहमरी तथा किशोरीलाल गोस्वामी हैं। देवकी-नंदनजी उपन्यास का उद्देश्य मनोरंजन मानते हैं और सचमुच इस दृष्टि से उनके उन्यास अद्वितीय है। उनके उपन्यास चंद्र-कांता, चंद्रकांता संतति तथा भूतनाथ अपने युग में इतने प्रच-लित हुए और लोगों को इतने पसंद आए कि बहुतों ने केवल इन उपन्यासों को पढ़ने के लिए हिन्दी सीखी। खत्री जी को तिलस्म और ऐयार का सम्राट रहें तो अत्युक्ति न होगी। एक आधुनिक आलोचक ने तो यहाँ तक लिखा है कि आकर्षण तथा धारा प्रवाहिता की दृष्टि से हिन्दी में आज तक ऐसे उपन्यास नहीं लिखे गए। गहमरी भी उपन्यास का ध्येय मनोरंजन ही मानते थे। उनका क्षेत्र 'जासूसी' था। गहमरी जी ने भी खूब लिखा और अपने क्षेत्र में पूर्णतः सफल रहे। इनके उपन्यासों में 'छः मामले' 'जासूसी डाली' तथा 'रहस्य विप्लव' आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। गोस्वामी जी के अनुसार उपन्यास का ध्येय मनोरंजन के

साथ-साथ सुधार भी था। उन्होंने सुधारवादी, सामाजिक तथा अर्द्ध ऐतिहासिक उपन्यास लिखे हैं। इन तीन के अतिरिक्त उपन्यास के क्षेत्र में कार्तिक प्रसाद खत्री, राधाचरण गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट, लज्जाराम शर्मा तथा बालमुकुन्द गुप्त आदि के भी नाम लिए जा सकते हैं। यह उपन्यास का शैशवकाल था अतः मनोरंजन या सुधार तक ही इनका क्षेत्र सीमित रहा। सुधारवादी उपन्यासों में नैतिकता और आदर्शवादिता का बाहुल्य था। प्रेम भी इस युग का विषय था। प्रधानतः ऐयारी और तिलस्मी उपन्यासों में तो इसकी छाप सर्वत्र है। इस युग के उपन्यासों में कथोपकथन की कमी है। प्रायः उपन्यासकार अपनी ओर से चलता है। भाषा की दृष्टि से कुछ तो संस्कृत मिश्रित हैं और दूसरी ओर कुछ संस्कृत से बिल्कुल दबे हैं। तीसरे वे उपन्यास हैं जिन्होंने आम जिंदगी की भाषा प्रयुक्त की है। विशेषतः देवकीनंदन खत्री और गोपालराम गहमरी की भाषा बड़ी ही स्वाभाविक और प्रवाहपूर्ण है। मौलिक उपन्यासों के अतिरिक्त अंग्रेजी, उर्दू, गुजराती तथा बंगला से अनुवाद भी किए गए। एक अनुवाद मराठी से भी हुआ जिसका ऊपर उल्लेख हो चुका है। ये सभी अनुवाद काफी सफल थे। कहना न होगा कि इस युग के मौलिक उपन्यासों में सच्चे जीवन के विश्लेषणात्मक चित्रों का सर्वथा अभाव है और कला की दृष्टि से भी वे अच्छे नहीं है सत्य यह है कि और ऐसा होना संभव भी नहीं था।

प्रेमचन्द ने अपने युग को अपनी अभूतपूर्व प्रतिभा तथा तीक्ष्ण और सूक्ष्म बुद्धि से उपन्यास का नया मार्ग दिखलाया। वे जासूस, ऐयार, तिलस्म और उपदेश से उतर कर रोज के जीवन में आये और मनोविज्ञान को प्रधानता दी। कथानक, कथोपकथन, देशकाल, शैली, भाषा, उद्देश्य आदि औपन्यासिक तत्त्वों

की ओर लोगों का ध्यान जाने लगा और सब का संतुलित रूप सामने आया। पूर्व प्रेमचन्द्र युगों में आर्य समाज आदि सुधारवादी आंदोलनों की छाप तत्कालीन उपन्यासों में थी। उसी प्रकार इस युग में राष्ट्रीय आंदोलन चले अतः इनका यथेष्ठ प्रभाव पड़ा। यह प्रभाव एक शब्द में गांधीवादी कहा जाता है। प्रेमचन्द ने तो इसे पूरी तरह अपनाया, और इसी कारण इनके उपन्यासों में युग की आत्मा बोल उठी और उत्तरी भारत के जीवन की कम से कम २५ वर्ष की साँस-साँस का चित्र उनके उपन्यासों में आ गया। स्वाभाविकता, मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण तथा चरित्र-चित्रण की ओर उनका ध्यान यथेष्ट रूप से गया। इसके पूर्व के युग में चरित्रों के स्थान पर घटनाओं को प्रधानता दी जाती थी पर प्रेमचन्द ने उसे उलट दिया। आप के उपन्यासों में सेवा सदन, रंगभूमि, गोदान आदि प्रमुख हैं। इन सभी में उपर्युक्त सारी विशेषताएँ देखी जा सकती हैं।

इस युग में प्रेमचन्द्र के उपन्यासों के अतिरिक्त, प्रसाद के कंकाल तथा तितली, विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक के माँ, भिखारिणी, जैनेन्द्रकुमार के सुनीता, परख तथा तपोभूमि, उग्रजी के दिल्ली का दलाल तथा चंद हसीनों के खुतूत, चतुरसेन शास्त्री के हृदय की परख तथा आत्मदाह आदि उपन्यास भी हिंदी के रत्न हैं। ऐतिहासिक उन्पयासों के क्षेत्र में वृन्दावन लाल वर्मा अग्रगण्य हैं। इनके विराटा की पद्मिनी, गढ़कुंडार आदि उपन्यास प्रसिद्ध हैं।

इस युग में विषय की दृष्टि से तिलस्मी, जासूसी, सामाजिक, प्रेमात्मक, ऐतिहासिक तथा पौराणिक, शैली की दृष्टि से कथा, या घटना प्रधान, भाव प्रधान तथा चरित्र प्रधान, तथा प्रमुखतः

आदर्शवादी या आदर्शोन्मुख यथार्थवादी और कुछ यथार्थवादी उपन्यास लिखे गए। इनमें सामाजिक तथा आदर्शोन्मुख यथार्थ वादी उपन्यास ही अधिक सफल रहे।

अनुवादों में अँग्रेजी बंगला तथा उर्दू के अतिरिक्त मराठी, गुजराती, रूसी और कुछ फ्रेंच उपन्यासो के भी अनुवाद हुए। इस युग में प्रत्येक दृष्टि से हिन्दी उपन्यासों में बहुत महत्वपूर्ण विकास हुआ।

हिन्दी उपन्यास का तृतीय युग उत्तर-प्रेमचन्द युग है। कुछ लोग इसे यशपाल युग कहने की प्रतीक्षा में थे पर ऐसा हो नहीं सका। इस युग में प्रगतिवाद, यथार्थवाद, फ्रायड तथा रूसी और फ्रेंच उपन्यासों का हमारे ऊपर बहुत प्रभाव पड़ा, जिसके फलस्वरूप हमारे उपन्यासों में जीवन का यथार्थवादी चित्रण, चरित्र का सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंकन, मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण आदि का प्राधान्य हो गया। भगवतीचरण वर्मा की चित्रलेखा तथा टेढ़े मेढ़े रास्ते, सियाराम शरण गुप्त के गोद तथा नारी, निराला जी के निरूपमा तथा अप्सरा, भगवतीप्रसाद बाजपेयी के लालिमा, पिपासा, जैनेद्र का शेखर, अश्क का गिरती दीवारें, इलाचंद्र जोशी के सन्यासी तथा निर्वासित, यशपाल के दादा कामरेड, दिव्या, हजारीप्रसाद द्विवेदी का बाण भट्ट की आत्मकथा तथा भारती का गुनाहों का देवता आदि इस युग की प्रतिनिधि रचनाएँ हैं। वृन्दावन लाल का नया ऐतिहासिक उपन्यास 'मृग-नयनी' प्रकाशित हुआ है जो अपने क्षेत्र में बहुत महत्वपूर्ण है। विषय की दृष्टि से इस युग में प्रधानतः यथार्थवादी सामाजिक उपन्यास लिखे गए हैं। कुछ ऐतिहासिक भी। जासूसी आदि की भी परंपरा चल रही है। पर अब उनकी गणना की आवश्य-कता नहीं।

अनुवादों की धारा भी अबाध गति से चल रही है। अंग्रेजी उर्दू और बंगला, मराठी, गुजराती, फ्रेंच और रूसी, चीनी आदि प्रायः सभी समृद्ध भाषाओं से सुन्दर अनुवाद आ रहे हैं।

उपन्यास का वर्तमान युग बड़ा स्वस्थ और आशापूर्ण है। यदि ऐसी प्रगति रही तो शीघ्र ही हम विश्व-साहित्य में अपने उपन्यासों को गर्व के साथ रख सकेंगे। हाँ एक बात इस स्थान पर कह देना आवश्यक होगा कि नागार्जुन जैसे कुछ नवीन लेखकों में श्लीलता का अतिक्रमण खटकने वाली चीज है। पश्चिम के लेखक जीवन की गंदी से गंदी या स्वाभाविक से स्वाभाविक बातों को सरलता के साथ कह देते हैं। वे उसका रस नहीं लेते अतः वह चित्रण खटकता नहीं है पर हमारे लेखकों में अभी उस निर्लिप्त भाव का अभाव है जिससे इनके चित्रों में अश्लीलता की गन्ध आने लगती है। कुछ लेखक तो प्रगति वादिता एवं यथार्थ वादिता केवल इसी को समझते हैं। आशा है धीरे-धीरे हम इससे ऊपर होंगे।

हिन्दी साहित्य की आवश्यकताएँ

१. ललित साहित्य को सुन्दर रूप देने के लिए जनजीवन के अध्ययन एवं विश्व साहित्य के मनन की आवश्यकता। २. देशी एवं विदेशी विभाषीय नवीन एवं प्राचीन ग्रंथों के प्रामाणिक अनुवाद। ३. आलोचना, जीवनी और पाठ निर्णय ४. निभिन्न विषयों के पाठ्य ग्रंथ। ५. विभिन्न भाषाओं के शिक्षक। ६. कोष ७. ग्रामीण शब्दों, मुहावरों, गीतों आदि के संग्रह। ८. बाल साहित्य। ९. ग्रंथ, वर्ष बोध (Year book) तथा सामान्य ज्ञान पुस्तिका (General Knowledge book) आदि श्रेणी की अन्य पुस्तकें। १० उपसंहार।

हिन्दी स्वन्तत्र भारत की राष्ट्र भाषा हो गई, और हम हिन्दी वाले यह अनुभव कर संतोष एवं गर्व की साँस लेते हैं। पर यदि हम तनिक गंभीरता से विचार करें तो आज हम लोगों का उत्तर-दायित्व बहुत बढ़ गया है। राष्ट्रभाषा हो जाने पर भी हमें हिन्दी को राष्ट्र भाषा के योग्य बनाना है। और इस दृष्टिकोण से हिन्दी की आवश्यकताओं को अच्छी तरह समझकर उनकी यथा शीघ्र पूर्ति करनी है।

इधर चालीस वर्षों में हिन्दी में उपन्यास कहानी, कविता और नाटक आदि का सृजन खूब हुआ है और अब भी हो रहा है। पर दुःख यह है कि हमारे लेखक अधिक संख्या में उच्चस्तर की चीजें नहीं दे पा रहे हैं। इसके प्रधान दो कारण हैं। एक तो विश्व साहित्य से हमारा परिचय नहीं है और कूपमंडूक की तरह हम अपने को सबसे बड़ा मान बैठे हैं, और दूसरे अपने समाज के हृदय से भी हम पूर्ण परिचित नहीं हैं। प्रायः अपने साहित्यिक भवन हम कल्पना पर आधारित करने के आदी हैं। आवश्यकता इस बात की है कि हमारे कलाकार भारतीय जीवन का अध्ययन करें और विश्व साहित्य से परिचय प्राप्त करते हुए उसका उचित चित्र खींचे। यथार्थता से दूर कोरे रोमांस से कहीं का भी साहित्य भरा-पूरा नहीं हो सकता।

ऊपर विश्व साहित्य से परिचित होने की हम बात कह चुके हैं। इसके लिए किसी संघ या संस्था का निर्माण हो जो विश्व की समुन्नत भाषाओं के प्राचीन और नवीन ग्रंथ रत्नों का प्रामाणिक अनुवाद सस्ते दाम पर देश को दे। संसार की शायद ही कोई ऐसी अच्छी पुस्तक होगी जिसका अँग्रेजी में अनुवाद न हो। इस क्षेत्र में हम अँग्रेजी से सहायता ले सकते हैं। सम्मेलन जैसी कोई संस्था ऐसे कार्यों को हाथ में ले तो अच्छी प्रकार इसकी

पूर्ति हो सकती है। कुछ छोटी-मोटी संस्थाएँ इधर इस कार्य को अंशतः कर रही हैं पर ओस चाटकर हम अपनी प्यास कब तक बुझा सकते हैं। कहना न होगा कि यहाँ विश्व साहित्य से अर्थ केवल अन्य देशीय साहित्य से न होकर बंगला, मराठी आदि स्वदेशीय साहित्य से भी है।

आलोचनात्मक पुस्तकों का अभी एकांत अभाव है। इसके लिए चंद से लेकर आधुनिक कवियों तक—सभी पर अलग अलग जीवन और काव्य दोनों ही दृष्टियों से आलोचना की आवश्यकता है। यह काम रिसर्चस्कालरों को दिया जाय तो अधिक अच्छा हो सकता है। प्रसन्नता है कि आगरा, लखनऊ तथा प्रयाग विश्वविद्यालयों ने इस ढंग से चंद, तुलसी, सूर तथा देव आदि पर कुछ काम करवाए हैं। किंतु हज़ार में चार पर कार्य समुद्र में बूँद के बराबर है। इस व्यक्ति-आलोचना के अतिरिक्त परंपराओं एवं विषयों के आलोचनात्मक और ऐतिहासिक विकास के अध्ययन की भी कम आवश्यकता नहीं है। यह कार्य भी रिसर्च के लिए दिया जाय तो अच्छा काम हो सकता है। इस दृष्टि से रहस्यवाद, छायावाद, आदर्शवाद, यथार्थवाद, प्रगतिवाद, रोमांसवाद तथा प्रयोगवाद; नाटक, कहानी, उपन्यास (ऐतिहासिक,—सामाजिक) एवं कविता (खंडकाव्य, महाकाव्य, मुक्तक) आदि सभी की ओर ध्यान देना होगा। इन प्रत्येक में भी शैली, विषय तथा अन्य दृष्टिओं से अनेकानेक भेद किए जा सकते हैं। व्यक्तियों के आलोचना के सम्बन्ध में उनकी प्रामाणिक जीवनी की भी कम आवश्यकता नहीं है। अतः इधर भी हमारा ध्यान जाना चाहिए। इसी प्रसंग में पुराने कवियों की पाठ समस्या की ओर संकेत कर देना भी उचित होगा। अभी तक चंद, विद्यापति, सूर, कबीर, तुलसी, केशव तथा ऐसे ही अनेकों अन्य

कवियों के पाठ बड़े भ्रष्ट हैं। किसी पुस्तक में उनका एक रूप में दर्शन होता है तो दूसरे में अन्य रूप में। इस काम को अनुभवी व्यक्तियों द्वारा कराकर सबके शुद्ध पाठ प्रकाशित करने की आवश्यकता है। प्रसन्नता है कि प्रयाग विश्वविद्यालय के इधर इस प्रकृति के कुछ कार्य हो रहे हैं। डॉ० माताप्रसाद गुप्त के तुलसी और जायसी के शुद्ध पाठ इधर प्रकाशित हुए हैं जो इस क्षेत्र में आदर्श माने जा सकते हैं।

अब वह भी समय आ गया है कि हिन्दी के माध्यम से ही आद्यन्त शिक्षा दी जाय। इसके लिए आवश्यक है कि हिन्दी में दर्शन, विज्ञान, भूगोल, इतिहास आदि सभी विषयों को पुस्तकें लिखी जायँ। यदि इनमें देर हो तो इस विषय की प्रामाणिक पुस्तकों के अनुवाद ही हिन्दी में कर दिए जायँ, जिससे कम से कम इस समय का काम न रुके। पाठ्य ग्रन्थों के अतिरिक्त सभी देशों के इतिहास वहाँ के साहित्य एवं संस्कृति के इतिहास एवं वहाँ के विज्ञानों आदि के विवेचन पर भी पुस्तकों की कम आवश्यकता नहीं है।

अपनी भाषा की उन्नति के लिए अन्य भाषाओं का ज्ञान भी आवश्यक है। इसके लिए हिन्दी में सभी भाषाओं के शिक्षक की आवश्यकता है। प्रांतीय भाषाओं के अँग्रेजी के तो कुछ शिक्षक (पुस्तकें) हैं, पर शेष का एकांत अभाव है।

कोषों की दृष्टि से तो हमारी भाषा बहुत ही दीन-हीन है बहुत पहले हिन्दी शब्द सागर नामक एक प्रामाणिक कोष निकला था जो अब समय के बहुत पीछे हो गया है। इस समय किसी प्रामाणिक विश्वकोष, शब्दकोष, लोकोक्तिकोष, मुहावरा-कोष, कथाकोष तथा व्युत्पत्ति कोष आदि अनेक कोषों की केवल

साहित्य को आवश्यकता है। अन्य विषयों के लिए भी अलग अलग कोष नितांत आवश्यक हैं। इनके साथ ही पारिभाषिक कोषों की ओर भी हमारा ध्यान जाना चाहिए।

गाँवों का अध्ययन भी कम आवश्यक नहीं है। प्रत्येक बोली से क्षेत्र में अलग संस्थाएँ बनाकर लोकोक्ति, कहावत, मुहावरा, चुटकुले, पहेलियाँ, कहानियाँ, गीत तथा बिरहे आदि के संग्रहों के पूर्ण संस्करण शीघ्र प्रकाशित होने चाहिएँ। साथ ही ग्रामीणों की शब्दावली के कोषों का भी संपादन होना चाहिए। इससे हमारे शब्दों की समस्या कुछ हद तक अवश्य सुलझ जायेगी। और हमारी भाषा को जीवन मिलेगा।

हिन्दी में बाल साहित्य का भी एकांत अभाव है। उधर प्रयाग से कुछ प्रकाशकों ने कुछ चीजें प्रकाशित की हैं पर उनकी संख्या कम है तथा स्तर बहुत साधारण है। बालकों के साहित्य में तीन बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिए। १. साहित्य सरल और आसान समझने योग्य हो। २. उससे बालकों की ज्ञान वृद्धि हो। ३. उसके पढ़ने से और पढ़ने की इच्छा उत्पन्न हो। अतः कुछ लेखकों को इन दृष्टियों से इस क्षेत्र में काम करने की आवश्यकता है। इस काम को तो सरकार यदि अपने हाथ में ले लें तो अधिक अच्छा है।

अन्त में प्रकाशक सूची, प्रत्येक वर्ष में प्रकाशित पुस्तकों की विषयानुसार सूची, संदर्भ ग्रंथ, वर्ष बोध, सामान्य-ज्ञान-पुस्तिका आदि अँग्रेजी में प्रकाशित अन्यान्य ग्रन्थों को भी हिन्दी में लाने की आवश्यकता है, जिनकी विस्तृत सूची विशेषज्ञों के परामर्श से बना ली जानी चाहिए।

इन सभी को एक दृष्टि से देखने से तो काम बड़ा भारी ज्ञात होता है पर यदि धीरे धीरे हम लोग करना आरंभ करें तो

१० वर्ष में इसका किया जाना असंभव नहीं है। इसमें विद्वान व्यक्तियों, संस्थाओं तथा सरकार तीनों के हार्दिक सहयोग की आवश्यकता है।

आशा है हिन्दी वाले गुटबंदियों से दूर होकर शुद्ध सेवा के भाव से इन कामों को हाथ में लेंगे। और शीघ्र राष्ट्र भाषा को अपने आसन के योग्य दीखने में समर्थ करेंगे।

———

हिन्दी भाषा और लिपि

नागरी लिपि में सुधार

१. लिपि के कार्य और गुण। २. नागरी लिपि के सुधार का संक्षिप्त इतिहास। ३. नागरी लिपि में आधुनिक युग की आवश्यकताओं की दृष्टि से कमी तथा उसमें सुधार की योजना। ४. सुधरी नागरी लिपि।

भाषा के विकास के बाद मनुष्य ने चित्र या रज्जुलिपि से अक्षर या वर्ण लिपि का विकास किया। इसके विकास के द्वारा वह इस योग्य हो गया कि अपने विचारों को काल और देश की सीमा से ऊपर उठा सके। आशय यह है कि मनुष्य जो कुछ कहना चाहता है उसे लिपि द्वारा उसी रूप में काग़ज़ पर रख देता है। इस आधार पर लिपि का सबसे बड़ा गुण यह होना चाहिए कि जैसी ध्वनि किसी के मुँह से निकले ठीक वही लिखी जा सके। इसकी परीक्षा इस प्रकार की जा सकती है कि लिखने के बाद जब कोई दूसरा उसे पढ़े तो ठीक वैसा ही पढ़े जैसे उसे लिखने वाला पढ़ता या बोलता। इसी के साथ यह भी कहा जा सकता है, कि किसी भाषा में ठीक उतने ही लिपिचिह्न होना चाहिए जितनी ध्वनियाँ उस भाषा में प्रयुक्त होती हों।

इन दोनों कसौटियों पर यदि हम नागरी लिपि को कसें तो इसमें बहुत सी कमियाँ हैं। कुछ प्राचीनता-वादियों का यह विचार है कि नागरी लिपि बहुत ही पूर्ण तथा वैज्ञानिक है, पर यदि कोई

अच्छी और वैज्ञानिक बात है तो केवल यह कि इसके वर्णों का क्रम उच्चारण के अनुसार रक्खा गया है, पर यथार्थतः यह लिपि की वैज्ञानिकता न होकर उसके क्रम की वैज्ञानिकता है। नागरी लिपि की कमी का अनुभव बहुत पहले तिलक ने किया था और उन्होंने इसमें सुधार की एक योजना भी बनाई तथा तद्नुसार टाइप भी बनवाए, पर उनकी योजना चल न सकी। बाद में इधर कुछ उसी आधार पर काका कालेलकर आदि की प्रेरणा से गुजराती क्षेत्र में सुधरी नागरी लिपि का प्रयोग होने लगा। इसकी प्रधान विशेषता यह है कि इ, ई, उ, ऊ ए, ऐ की जगह अि, अी, अु, अू, अे तथा अै लिखा जाता है। हिन्दी क्षेत्र में नागरी लिपि के सुधारकों के दो वर्ग किए जा सकते हैं। प्रथम वर्ग तो व्यक्तिगत है, जिसमें विभिन्न व्यक्तियों ने इस पर विचार कर अपनी राय प्रकट की है। ऐसे लोगों में श्री राहुल सांकृत्यायन, तथा डॉ० सत्यप्रकाश आदि के नाम उल्लेख्य हैं। दूसरा वर्ग सामूहिक कहा जा सकता है। इसमें प्रधानतः चार संस्थाओं या समूहों के नाम लिये जा सकते हैं। प्रथम नाम हिन्दी साहित्य सम्मेलन का है। सम्मेलन की ओर से डॉ० राम प्रसाद त्रिपाठी की अध्यक्षता में एक समिति बनी थी जिसने सुधार की एक योजना प्रकाशित की थी। इसी प्रकार नागरी प्रचारिणी सभा, प्रांतीय सरकार तथा केंद्रीय सरकार की ओर से भी सुधार की योजनाओं के लिए समितियाँ बनाई गईं। नागरी प्रचारिणी तथा प्रांतीय सरकार की योजनाएँ तो प्रकाशित हो चुकी हैं, पर केंद्रीय का अभी तक कुछ पता नहीं। प्रकाशित तीनों योजनाओं में नागरी प्रचारिणी के अनुसार तो नागरी लिपि को छोड़कर हमें एक नई लिपि स्वीकार करनी चाहिए जिसे उन्होंने 'प्रति देवनागरी लिपि' की संज्ञा दी है। इस संबंध

में डॉ० सत्यप्रकाश की राय ही ठीक है कि यदि नई लिपि हीं अपनानी हो तो कोई ऐसी लिपि अपनावें जो हर एक दृष्टियों से अधिक पूर्ण हो। या फिर डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के मत से रोमनलिपि को अपना लें। उचित बात तो यह है कि नागरी लिपि को सुधार कर हम अपना सकते हैं, पर उसे छोड़कर पूर्ण तथा नवीन लिपि को अपनाना हमें कभी मान्य नहीं हो सकता। नागरी को छोड़ने से उसके पीछे की सारी परंपराओं को छोड़ना होगा। इस प्रकार नागरी प्रचारिणी की योजना हमें कभी स्वीकार नहीं हो सकती। शेष दो में तथा व्यक्तिगत प्रयत्नों में बहुत सी उपयोगी बातें हैं जिनके आधार पर आगे हम अपनी योजना उपस्थित करेंगे।

इस संक्षिप्त इतिहास के देखने के बाद हम नागरी लिपि की कमियों पर विचार करते हुए सुधार पर विचार करेंगे। नागरी लिपि में सुधार, टेलीप्रिंटर, टंकन यंत्र; प्रेस तथा लेखन कई दृष्टियों से हो सकता है। कुछ लोगों ने ऐसी योजनाएँ बनाई हैं जिनके अनुसार प्रेस, लेखन, टंकनयंत्र तथा टेलीप्रिंटर की लिपियों में साधारण अन्तर रहेगा। पर सत्य यह है कि ऊपर कही गई किसी नवीन लिपि की तरह चार तरह की लिपि भी हमें मान्य नहीं हो सकती। अतः योजना ऐसी होनी चाहिए जिससे चारों ही के लिए कुछ कुछ सुविधा हो जायँ, कमियाँ भी दूर हो जायँ तथा कम से कम परिवर्तन में और परिवर्द्धन करना पड़े। इस दृष्टि से निम्न बातें कही जा सकती हैं—

१. हिन्दी में कुछ अक्षर व्यर्थ के हैं। उनका उच्चारण नहीं होता। इस श्रेणी में ऋ, ङ, ञ, ण, तथा ष अक्षर आते हैं, जिनका उच्चारण क्रम से रि, ं, ं, तथा श से भिन्न नहीं है। कहना अनुचित न होगा कि इन्हें त्याग देना ही समीचीन होगा

और क्रम से ऋ के स्थान पर 'रि' ङ (रङ्ग) के स्थान पर ॰ (रंग), ञ (पञ्च) के स्थान पर ॰ (पंच) ण (चण्डी) के स्थान पर चंडी तथा ष के स्थान पर श का प्रयोग किया जा सकता है। इस प्रकार यह कमी आसानी से दूर हो सकती है।

२. हिन्दी में कुछ ध्वनियों के लिए लिपि चिह्न नहीं हैं अतः उनके लिए कुछ नए चिह्नों के बनाने की आवश्यकता है। ह्रस्व ए के लिए ऐ, ह्रस्व ओ के लिये औ, आदि लिए जा सकते हैं। इस सम्बन्ध में डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने जैसा कि अपनी विचार-धारा पुस्तक में नए चिह्नों के लिए संकेत दिया है, हमें मान्य होना चाहिए या कुछ उसी आधार पर सर्वमान्य चिह्न बना लिए जाने चाहिए।

३. ह्रस्व 'इ' का चिह्न 'ि' हमारी लिपि में नितांत अशुद्ध है। उदाहरण के लिए शान्ति शब्द लें। इसमें ह्रस्व 'इ' का उच्चारण बोलने में 'त' के बाद होता है पर लिखने में इसका स्थान 'त' से ही नहीं बल्कि 'न' से भी पहले होता है। इस सम्बन्ध में सम्मेलन की योजना सुन्दर है। उनके अनुसार छोटी 'इ' के लिए ी तथा, बड़ी 'ई' के लिए ी मात्राएँ काम में लाई जानी चाहिएँ। इसका आशय यह कि 'आरती' को आरती लिखा जाना चाहिए और शान्ति को शान्ती। हम समझते हैं यह परिवर्तन किसी भी दृष्टि से आपत्तिजनक नहीं है। काम भी चल जाता है और अंतर भी बहुत कम करना पड़ता है।

४. हिन्दी के कुछ लिपि चिह्नों के नियम में एक विचित्र गड़-बड़ी है। अ के लिए 'अ' और 'अ'; ल के लिए 'ल' और 'ल' श को लिए 'श' तथा 'श' आदि दो दो लिपि चिह्न हैं। भ, भ के विषय में भी कुछ ऐसी ही बातें हैं। ख की गड़बड़ी यह है कि इसमें प्रायः र और व का संदेह हो जाता है। इसके लिए प्रथम

गड़बड़ी में दो अक्षरों में एक को निश्चित कर लेना चाहिए और दूसरी में ख के स्थान पर ष का प्रयोग होना चाहिए, जैसा कि मध्य युग में कभी कभी हुआ है।

५. संयुक्त व्यंजनों के लिए भी हिन्दी में कुछ नए चिह्न हैं। क्ष का काम 'क्श' से त्र का काम 'त्र' से तथा ज्ञ का काम 'ज्न' से चल सकता है। इससे प्रेस टंकन यंत्र तथा टेलीप्रिंटर आदि को भी आसानी होगी क्योंकि कुछ टाइप कम रखने पड़ेंगे। यहाँ भी परिवर्तन कुछ इतना नवीन नहीं है कि आँखों को बुरा लगे या अभ्यास में अड़चन पड़े।

६. प्रेस, टंकनयंत्र तथा टेलीप्रिंटर आदि की इस विषय में परेशानी यह है कि टाइप अधिक रखने पड़ते हैं जिनसे काम कम हो पाता है तथा ग़लतियाँ अधिक होती हैं। इस के लिए गुजराती पद्धति से इ, ई, उ, ऊ, ए तथा ऐ की जगह अ में मात्रा लगाकर ६ टाइप कम कर सकते हैं। कुछ लोगों ने अल्पप्राण वर्णों लगाकर महाप्राण को हटाने की योजना भी रक्खी है पर उतना अधिक परिवर्तन सर्वमान्य नहीं हो सकता।

संक्षेप में नागरी की ये ही कमियाँ हैं। यदि हिन्दी वाले इतने भी सुधारों को अपना लें तो काफी सुविधा हो जाय।

निबंध को समाप्त करते हुए अंत में हम सुधरी लिपि को एक स्थान पर इस प्रकार रख सकते हैं—

अ, आ, अि, अी, अु, अू, अे, अै, ओ, औ।

क	ख	ग	घ	
च	छ	ज	झ	
ट	ठ	ड	ढ	
त	थ	द	ध	न
प	फ	ब	भ	म

य र ल व
श स ह ०

हिन्दी भाषा की आवश्यकताएँ

१. भाषा का कार्य। २. हिंदी की अभिव्यंजना शक्ति बढ़ाने के लिए आम शब्दों मुहावरों एवं लोकोक्तियों के अपनाने तथा लेखकों के जन-जीवन के समीप जाने की आवश्यकता। ३. हिन्दी वर्तनी में एक रूपता की आवश्यकता। ४. व्याकरण सम्बन्धी छूट। ५. पारिभाषिक एवं अन्य शब्दों की समस्या। ६. विभिन्न शैलियों के स्वागत एवं उनको एक सूत्र में रखने की आवश्यकता।

अपवाद ही किसी को खट्टा नहीं लगता। इसी कारण शायद हिन्दी वाले हिन्दी को संसार की पूर्णतम भाषाओं में से मानते हैं। किन्तु यदि ध्यान से देखा जाय तो हिन्दी को बहुत-सी दृष्टियों से सुधारने तथा पूर्ण बनाने की आवश्यकता है।

भाषा का एकमात्र कार्य है भावों को सफलता के साथ व्यक्त करना। इस कला में जो भाषा जितनी ही आगे होगी उतनी ही वह पूर्ण समझी जायगी। इस दृष्टि से अंग्रेजी विश्व की सर्वश्रेष्ठ भाषा है।

अंग्रेजी के मुकाबिले में हिन्दी-अभिव्यक्ति बहुत पीछे है। अंग्रेजी की बात यदि थोड़ी देर के लिए छोड़ भी दी जाय, तो अपने ही देश की बंगला, गुजराती तथा मराठी आदि भाषाएँ इस क्षेत्र में बहुत आगे हैं। और तो और हिन्दी की बहन उर्दू भी हिन्दी से बीस पड़ती है। इबारत की जो सफाई, शैली का जो प्रवाह तथा अभिव्यक्ति की जो चुस्ती उर्दू में है, वह बालकृष्ण भट्ट तथा प्रतापनारायण मिश्र आदि कुछ पुराने लेखकों को छोड़ कर हिन्दी में दर्शन करने को भी नहीं मिल सकती। यहाँ

प्रत्येक बात बोझिल शैली में कही जाती है। अतः आवश्यकता है शैली और अभिव्यक्ति को अधिक जीवित बनाने की। इस संबंध में तीन चार बातें कही जा सकती हैं। हिन्दी के लेखक अपनी भाषा में भारी-भरकम शब्दों का प्रयोग न करना अपनी शान के खिलाफ समझते हैं। इस प्रवृत्ति में सुधार की आवश्यकता है। 'यह आँखों देखी बात है' और 'यह नेत्र दर्शिता वार्ता हैं' का अंतर समझाने की आवश्यकता नहीं। आज के लेखकों को चाहिए कि आम जनता के जीवित शब्दों को अपनाएँ तथा मुहावरे और लोकोक्तियों का अधिकाधिक प्रयोग करें। हिंदी की शैली के अप्रवाहपूर्ण होने का एक कारण यह भी है कि हिंदी के लेखक मुहावरों और लोकोक्तियों का बिल्कुल ही प्रयोग नहीं करते। इसके लिए गाँवों की जीवित शब्दावली तथा लोकोक्तियों—मुहावरों के पूर्ण संग्रहों की आवश्यकता है। साथ ही लेखकों का यह पुनीत कर्तव्य है कि वे जन-जीवन और जन-भाषा के संपर्क में अधिक से अधिक रहें। इससे हिंदी की शैली को जीवन मिलेगा। हिंदी भाषा की यह सबसे बड़ी आवश्यकता है।

वर्त्तनी या Spelling की दृष्टि से हिंदी में बड़ी ही अव्यवस्था है। ई, यी, ए, ये, वो, ओ में किसी एक के निश्चित न मान्य होने के कारण गई, गयी; गए, गये; आवो, आओ; आदि सभी रूप प्रचलित हैं। कंबल, कम्बल, चंचल, चञ्चल; रंग, रङ्ग; आदि में भी यही अव्यवस्था है। एक अहिंदी भाषा-भाषी आज जब राष्ट्र-भाषा के रूप में हिंदी को सीखना चाहता है तो इन बातों के कारण उसे कितनी कठिनाई पड़ती है, कहने की आवश्यकता नहीं। अतः इनमें किसी को सर्वमान्य निश्चित करने की आवश्यकता है।

हिंदी का व्याकरण बहुत दृष्टियों से अस्पष्ट, क्लिष्ट तथा अपूर्ण है। इस सम्बन्ध में प्रथम बात तो है हिंदी की लिंग समस्या। इसके लिए कोई सीधा नियम नहीं है कि शब्द को देखते ही पहचान जायँ। इसमें कोई शक नहीं कि संसार की कुछ अन्य भाषाओं में भी लिंग संबंधी कुछ कठिनाइयाँ हैं, पर अंतर यह है कि उन भाषाओं में लिंग का क्रिया या विशेषण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अतः लिंग का स्पष्ट निर्णय न करके भी वक्ता या लेखक बातें लिख सकता है। दूसरी ओर हिंदी की क्रिया लिंग से प्रभावित होती है, विशेषण पर भी उसका असर पड़ता है।

अतः लिंग का ठीक ज्ञान हुए बिना हिंदी शुद्ध रूप से बोली ही नहीं जा सकती। हिंदी बोलने वाले तो प्रयोग के अभ्यास से कुछ अनुमान लगा भी लेते हैं पर जो लोग हिंदी से अपरिचित हैं उन्हें बड़ी कठिनाई पड़ती है। लिंग प्राकृतिक लिंगों पर तो आधारित नहीं है कि समझ लें और न तो उनके लिए नियम हैं। ऐसी दशा में जब वे हिंदी के विद्वान् से इसका हल पूछते हैं तो स्वभावतः उसे निरुत्तर हो जाना पड़ता है। इसके हल के लिए दो बातें की जा सकती हैं। या तो लिंग का झगड़ा बिल्कुल हटा दिया जाय और स्त्री लिंग या पुल्लिंग कोई एक क्रिया सबके लिए प्रयुक्त हो। या फिर सीधा कोई नियम बना दिया जाय कि जिन शब्दों के अंत में 'ई' स्वर आवे वे स्त्रीलिंग हैं और शेष सभी पुल्लिंग।

हिंदी की शब्द समस्या भी कम कठिन नहीं है। विदेशी तो विदेशी, अपने देश की प्रांतीय भाषाओं से भी कम हिंदी का शब्द-भंडार है। शब्द की समस्या को मोटे रूप से दो भागों में बाँटा जा सकता है। एक भाग तो पारिभाषिक शब्दों का है,

जिसमें विभिन्न शास्त्रों-विज्ञान, एवं कलाओं से संबंधित शब्दों की आवश्यकता है। इसके लिए सर्व श्री राहुल सांकृत्यायन, प्रभाकर माचवे, विद्या-निवास, रामचन्द्र वर्मा, डॉ० सत्यप्रकाश तथा आचार्य रघुवीर आदि विद्वानों ने इधर काम किया है, पर इन शब्दों से हमारी समस्या हल होती नहीं दिखाई देती। इसके लिए अच्छा तो होगा कि अंग्रेजी ही से शब्द ले लिए जायँ और उनका भारतीय-करण कर भारत की सभी भाषाएँ स्वीकर लें। या संस्कृत-अरबी आदि से ऐसे शब्द लिए जायँ जो सभी भाषा भाषियों को मान्य हों। उधर शब्दों के संबंध में अपनी अपनी डफली, अपना अपना राग वाला जो तमाशा हिंदी मंच पर खेला जा रहा है, बहुत ही भयावह है। इसमें व्यर्थ में समय, द्रव्य तथा शक्ति का अपव्यय तो हो ही रहा है हिंदी का अहित भी कम नहीं हो रहा है। शब्द समस्या का दूसरा भाग अन्य शब्दों से संबंध रखता है। इसके लिए स्वतंत्रता के साथ अंग्रेजी, अरबी, फारसी, तुर्की तथा ग्रामीण शब्द अपनाए जा सकते हैं। कुछ लोग समझते हैं कि इन विजातीय या ग्राम्य शब्दों को लेने से भाषा अशुद्ध हो जायगी। पर सत्य यह है कि ऐसे लोग भाषा की यथार्थ प्रकृति से पूर्णतया अपरिचित हैं। जीवित भाषा का सबसे बड़ा गुण यह है कि वाह्य शब्दों को अधिकाधिक संख्या में आत्म-सात कर सके। संस्कृत ने ही, कितने चीनी, मुंडा, द्राविड़ तथा ग्रीक शब्दों को पचाया है, गणना नहीं की जा सकती। कहने का आशय यह है कि इस शब्द लेने की क्रिया से भाषा नहीं बिगड़ सकती अतः उदार मना होकर हमें शब्दों को अपनाना है। पर इसका अर्थ यह भी नहीं कि व्यर्थ के विजातीय शब्द लिए जायें। केवल आवश्यक और उचित शब्दों का ही लेना उपयुक्त होगा।

हिन्दी आज जब भारत की राष्ट्र-भाषा हो गई है तथा पंजाब

से कन्या-कुमारी एवं राजपूताने से बंगाल तक इसके प्रसार एवं प्रचार की संभावना है, आधार सिद्धांत (Substratum Theory) के आधार पर इसमें अवश्य ही व्याकरण एवं शब्द-प्रयोग की दृष्टि से अनेकानेक शैलियों का विकास होगा। अब तक भी हिन्दी की पूर्वी और पश्चिमी दो शैलियाँ स्पष्टतः थीं। हजारीप्रसाद द्विवेदी, बेनीपुरी तथा राहुल जी की शैली को एक ओर और अज्ञेय जी, उपेन्द्रनाथ अश्क आदि की शैलियों को दूसरी ओर रखकर हम भेद देख सकते हैं। इसी प्रकार अब अति पूर्वी तथा दक्षिणी शैलियाँ भी होंगी। इसके लिए हमें घबराने की आवश्यकता नहीं। केवल हमारा इतना ही प्रयास होना चाहिए कि उस अनेकरूपता में भी एकरूपता का सूत्र बना रहे। कहने का आशय यह है कि यह भी एक हिन्दी भाषा की आवश्यकता है कि शुद्ध हिन्दी बोलने-लिखने वाले विभिन्न शैलियों के स्वागत के लिए तैयार रहें, यदि वे हिन्दी को राष्ट्र भाषा के पद पर आसीन देखना चाहते हैं।

मोटे रूप से हिन्दी की इन प्रधान आवश्यकताओं की ओर ध्यान देते हुए हम कह सकते हैं कि हिन्दी भाषा-भाषियों का यह पुनीत कर्तव्य है कि वे इन आवश्यकताओं की शीघ्रातिशीघ्र पूर्ति करें।

हिन्दी व्याकरण में लिंग की समस्या

१. हिन्दी व्याकरण की कठिनाई और अवैज्ञानिकता। २. लिंग के अनियमित रूप। ३. उसे दूर करने की युक्ति।

साधारणतः अपनी भाषा होने के कारण हिन्दी को हम बहुत ही सरल सुबोध तथा वैज्ञानिक भाषा समझते हैं, पर यथार्थतः बात इसके ठीक विपरीत है। इसकी सरलता के विषय

मे तो इतना ही कहना पर्याप्त है कि इसके बड़े बड़े विद्वान भी बोलने में अशुद्धि कर जाते हैं। और जहाँ तक वैज्ञानिकता का प्रश्न है इसमें लिंग के नियम इतने अव्यवस्थित हैं कि जिनकी यह मातृ भाषा है वे भी निश्चय के साथ बोलने में कठिनाई का अनुभव करते हैं। हिन्दी व्याकरण में लिंग की समस्या बड़ी विचित्र है। समझ में नहीं आता कि एक ही कपड़े के बने कुर्त्ते और कमीज़ आपस में लिंग भेद क्यों रखते हैं? इसी प्रकार कलम और पेन्सिल दोनों अकारांत हैं पर प्रथम पुल्लिग है और दूसरा स्त्रीलिंग। यदि आप से पूछा जाय कि आप कोई वैज्ञानिक नियम या कसौटी बतावें जिसके आधार पर हिन्दी का यह लिंग निर्णय किया जा सके तो आपको मौन हो जाना पड़ेगा। अब तक हिन्दी अपने घर में प्रयोग होती थी अतः अभ्यास से हम इसका निर्णय कर लेते थे पर आज जब हमें पूरे भारत में ही नहीं अपितु विश्व के सभी प्रधान राष्ट्रों में इसकी शिक्षा देनी है तो इस अव्यवस्था के कारण हमें कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। एक तो यह अव्यवस्था अन्य भाषा भाषियों के हँसने का कारण हो सकती है, पर यदि इस ओर आप ध्यान न भी दें तो सबसे बड़ी कठिनाई यह होगी कि लोग इसे पढ़ने में घबराएँगे और इस प्रकार इसके प्रचार में बाधा पड़ेगी। इसके अतिरिक्त राष्ट्रभाषा के रूप में इस अव्यवस्थित अवस्था को लेकर आप किस मुँह से मराठी, गुजराती, बंगाली या द्राविड़ भाइयों से इसे सीखने की प्रार्थना कर सकते है? हिन्दी की लिंग समस्या केवल उन संज्ञा शब्दों से ही संबद्ध न होकर विशेषण सर्वमान एवं क्रिया से भी सम्बन्ध रखती है। इसके कारण गड़बड़ी और भी बढ़ जाती है। अँग्रेजी में गुड ब्याय और गुड गर्ल आप कह सकते हैं पर हिन्दी में आपको अच्छा लड़का और अच्छी लड़की कहना पड़ेगा। इसी

प्रकार क्रिया में भी अँग्रेजी या संस्कृत या अन्य सभी भाषाओं में लिंग के कारण कोई अंतर नहीं पड़ता। ही गोज़, शी गोज़, इट गोज़; पर हिंदी में राम जाता है और सीता जाती है शुद्ध है। इसी प्रकार अँग्रेज़ी में तो माइ सन और माइ डॉटर कहेंगे पर हिन्दी में मेरा लड़का और मेरी पुत्री कहना होगा। आशय यह है कि बिना लिंग ज्ञान के एक क़दम भी चलना संभव नहीं। यही कारण है कि हिन्दी भाषा भाषिओं में भी ९०% से भी अधिक लोग शुद्ध हिन्दी नहीं बोल पाते।

इस गड़बड़ी से छुटकारा पाने के दो ही रास्ते हो सकते हैं। या तो यह मान लिया जाय कि सभी इकारांत संज्ञा शब्द स्त्रीलिंग हैं तथा शेष अ, आ, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ से अंत होने वाले शब्द पुल्लिग हैं। या फिर विशेषण और क्रिया के सम्बन्ध में यह छूट दे दी जाय कि लिंग के अनुसार उनमें परिवर्तन न होगा। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध भाषा विज्ञ डॉ० सूनितिकुमार चातुर्ज्या का मत है कि पुल्लिग क्रिया और पुल्लिग विशेषण का ही प्रयोग किया जाय। उदाहरण के लिए अच्छा लड़की, मेरा लड़की और सीता जाता है को शुद्ध माना जाय। कुछ दिनों तक यह कानों को बुरा अवश्य लगेगा पर अभ्यस्त होने के बाद इसमें भी हम पुरानी मिठास का ही अनुभव करने लगेंगे। आशा है, हिन्दी वाले शीघ्र इस सम्बन्ध में निश्चित घोषणा कर अपनी भाषा के सरल होने में सहायता पहुँचाएँगे।

दर्शन और धर्म

४६. पुराण और हिन्दू धर्म

(१) भूमिका (२) पुराणों के अध्ययन के विशेष रूप (३) पुराण और इतिहास (४) पुराण और धर्म—वे हिन्दू धर्म, हिन्दू चर्या और हिन्दू संस्कृति के कोष हैं (५) वर्तमान परिस्थितियों के कारण अँग्रेज़ी पढ़ी जनता में पुराणों का विरोध (६) पुराणों की बहुमुखी महत्ता—पुराणों में सौन्दर्य शास्त्र, काव्य, इतिहास, देवमाला एवं धर्माध्यात्म (७) उपसंहार।

भारतीय धार्मिक चिन्ता जिन ग्रन्थों में प्रस्फुटित हुई है वे हैं वेद, उपनिषद, रामायण, महाभारत, पुराण और उपपुराण एवं तंत्र-ग्रन्थ तथा षट्दर्शन और उन पर लिखी हुई टीकाएँ। परन्तु इनमें हिन्दू धर्मचर्या और हिन्दुओं के धामिक विश्वासों का सम्बन्ध केवल रामायण, महाभारत और पुराणों से है। शेष ग्रन्थों में कर्मकांड और आध्यात्मिक चिन्ता ही सुरक्षित है, परन्तु इन ग्रन्थों में हिन्दू धर्म का हृदय भरा हुआ है। जिन शास्त्रों का सहारा पकड़ कर ब्राह्मणों ने हिन्दू धर्म का अवस्थान किया, जिनमें ब्राह्मण धर्म की आत्मा प्रविष्ट है (हिन्दू धर्म है ब्राह्मण धर्म), वे हैं पुराण।

पुराणों के अध्ययन के कई रूप हो सकते हैं। वे हमारे इतिहास हैं, चर्याशास्त्र हैं, धर्म-विचारों के मूलस्रोत हैं,

लोकभावनाओं और लोककथाओं के समूह हैं। एक स्थान पर इतनी विशेषताएँ कहीं नहीं मिलेंगी। आधुनिक दृष्टि से वे रोमांसमूलक कथाकाव्य भी हैं। रामायण महाभारत भी पुराण से भिन्न नहीं हैं, चाहे इनका जन्म किसी रूप में हुआ हो परन्तु कालान्तर में शैली, विस्तार, भावना और प्रकार की दृष्टि से वे पुराण से अभिन्न बन गए हैं।

इतिहास की दृष्टि से देखने से हमें यह पता लगता है कि पुराणों में हमारे राजन्य और क्षत्रियवर्ग के लोगों का इतिवृत्त सुरक्षित है; किसी एक निश्चित समय का नहीं, बहुत लम्बे काल का, सृष्टि के आरम्भ से लेकर कलयुग के आगमन तक का। यह भी किसी एक तल का नहीं—अनार्यों, आर्यों और आर्योतर उन कितनी ही जातियों का जो हिन्दू समाज पर आक्रमण करके समय-समय पर उसी में विलुप्त होती गईं। प्रत्येक पुराण में कोई एक इतिवृत्त एक-सा भी नहीं मिलता। बहुधा परिवर्तन-परिवर्द्धन और संक्षेप हो गया है। इसका कारण यह है कि एक ही कथा को लोकसूत्र द्वारा विभिन्न स्थानों पर एकत्र किया गया है। अन्य राजनैतिक और सामाजिक कारण भी हो सकते हैं। प्रसाद भी हो सकते हैं; परन्तु इसमें कुछ सन्देह नहीं कि पिछले ४-५ हजार वर्षों का बहुत कुछ भावात्मक इतिहास इन ग्रन्थों में है और संभव है पिछले २-३ सहस्र वर्षों का भारतवर्षीय और विदेशीय बहुत कुछ इतिहास सच्चा भी सिद्ध हो।

परन्तु इतिहास ठीक हो या न हो, पुराण हमारे लिए इसलिये महत्पूर्ण हैं कि वे हिन्दूधर्म, हिन्दूचर्या और संस्कृति के कोष हैं। एक शब्द में, उनके लिए महाभारतकार के शब्दों में कहा जा सकता है—

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्॥
[आदिपर्व ५६। ३३।

अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जीवन के चार पुरुषार्थों से सम्बन्ध रखनेवाला जो कुछ ज्ञान महाभारत में है, वही दूसरी जगह है; जो यहाँ नहीं है वह कहीं और भी न मिलेगा। हिन्दू संस्कृति को समझने के लिए विशेषकर ब्राह्मण-धर्म, दूसरे शब्दों में, वैष्णव-धर्म को समझने के लिए, हम पुराणों को छोड़ कर एक क़दम आगे नहीं बढ़ सकते।

वर्तमान समय विचित्र है। पादरी-धर्म के संघर्ष के कारण हमारे यहाँ जो नए धार्मिक आन्दोलन आरंभ हुए, उन्होंने अपनी नींव उपनिषद् (ब्रह्मसमाज) और वेद (आर्यसमाज) पर रखी। उन्होंने हिन्दू-धर्म की पुराण-प्रियता की निन्दा की और उसे भारत के धार्मिक जीवन से हटाने के लिए घोर प्रयत्न किया। फलतः नव्य जनता पुराणों को एकदम भ्रष्टकल्पना की उपज समझ कर उनको दूर से नमस्कार करने लगी, नहीं तो गाली देने लगी। पुराणों का धर्म था भक्तिप्राण, श्रद्धाप्राण और चर्च्या-प्रधान। ईसाइयों का धर्म ऐहिकता प्रधान था, तर्कप्राण था। खंडन-मंडन चल पड़ा। फल यह हुआ कि हिन्दू नेताओं में अति-नैतिक चेतना और अतिबुद्धि का प्रादुर्भाव हुआ। धर्म को अनुभूति पर नहीं, बुद्धि के पीछे चलाने की चेष्टा हुई। उधर अँग्रेजी-शिक्षा-प्राप्त वर्ग विज्ञान की तुला पर विकासवाद के बाट धर कर सब कुछ तोलने लगा। पुराण कहीं के न रहे। सब ओर से लांछित। लोग भूल गये कि इसी प्रकार एक बार हिंदू-धर्म पर एक दूसरे विदेशी धर्म (इस्लाम-धर्म) का आक्रमण मध्ययुग में हुआ था और तब हिन्दू-धर्म और हिन्दू समाज इन्हीं पुराणों की डोंगी में बैठ कर झंझावात से पार हो सका था।

आज लोग कहते हैं, भारत की धर्मचिंता का इतिहास उपनिषद् वेद हैं या केवल उपनिषद् हैं, अतः अन्य शास्त्र अग्राह्य हैं। क्षेपक हैं। इसका तो अर्थ यह हुआ कि हिन्दू जाति ने जो कुछ धर्मचिंता की थी, वह वेद या उपनिषदों के समय तक। फिर शेष कुछ रह ही नहीं गया। तंत्रशास्त्र, आगमशास्त्र. भक्तिवाद, पौराणिक धर्म और अनुष्ठान-- ये जैसे भारत के धर्म-विकास के मानचित्र में कोई स्थान ही नहीं रखते या इनसे धर्म की क्रमिक अवनति ही हुई है। परन्तु वे नहीं जानते कि पुराणों का स्वयम् एक लम्बा समय है, उनमें वेद-उपनिषद् के समय की धर्मचिंता एवं इतिकथा के दर्शन हो सकते हैं और ये ग्रंथ भारत के जनसाधारण की धर्म-चेतना के समतल पर चल रहे हैं जब कि वेद-उपनिषदों में समाज के एक अत्यन्त छोटे वर्ग की धर्मचिंता प्रस्फुटित हुई है। हमें यह समझ रखना चाहिये कि वेद, उपनिषद और षट्दर्शन भले ही हिन्दू-चिंतकों को प्रभावित करते रहे हों, हिन्दू धर्म जिस जीवित, स्पंदित, अनुप्राणित विशाल महाराष्ट्र को प्रभावित करता रहा उसका सच्चा रूप रामायण-महाभारत में, पुराणों में है। भारतवर्ष और वृहत्तर भारत के देव-मंदिर, कथोपाख्यान और कला-प्रयत्न इस बात के साक्षी हैं।

पुराण हमारे इतिहास हैं। वे बहुत कुछ भावात्मक इतिहास हैं। जिस रूप में हम आज के इतिहास को देखते हैं, उस रूप में उन्हें देखना उचित नहीं। परन्तु हैं वे हमारे पूर्व पुरुषों की कहानियाँ। सूर्यवंश, चंद्रवंश, अग्निवंश, प्रभृति कितने ही वंशों का इतिवृत्त, राज्यों का उत्थान-पतन, आर्य-अनार्य सभ्यताओं के संघर्ष की कहानियाँ—यह इस इतिहास का मूल ढाँचा है। उसके साथ सटी चलती हैं देवकथाएँ। आर्यों के आने से पहले जो देवता अनार्यों में प्रतिष्ठित थे (जैसे शिव-उमा, विष्णु-शिव, कार्तिकेय) उन्हें आर्यों ने अपने इन्द्र, वरुण प्रभृति देवताओं

के साथ स्थान दिया। कालान्तर में अनार्य देवताओं ने उभर कर वैदिक देवतावाद को नीचे दबा दिया है। विष्णु-शिव हो गए हैं प्रधान, इन्द्र-वरुण नाम-मात्र रह गए। इतने बड़े संघर्षों की कथा इन पुराणों में छिपी है। देवकथाएँ स्वतः स्फूर्तिप्रद रोमांस हैं। उनमें स्थान-स्थान पर नीति की सुन्दर प्रतिष्ठा हुई है। फिर व्रतचर्या, रहन-सहन, तीर्थयात्रा, कलाकौशल-जीवन के समस्त अंगों पर पुराणकार विशाल दृष्टि डालता हुआ चलता है। उसके पास सबके संतोष के लिए सब कुछ है। और जो कुछ उसके पास है, वह आज के पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान पर भी भारी है। श्रद्धा-विश्वास, समाज-समस्त जीवन चर्या, धर्म-परिचालित ऐहिक जीवन-व्यवहार। मनुष्य के जन्म से लेकर मरण तक के समस्त कार्यों पर पुराणकारों ने जो व्यवस्था दी, आजतक हिन्दू धर्म उसको पकड़े चला आ रहा है। कथा कहानी के रूप में उच्चतम आध्यात्मिक, मानसिक और लौकिक व्यवहार-चर्या इस प्रकार संसार के साहित्य में कहाँ मिलेगी?

फिर दो डेढ़ हजार वर्ष के साहित्य, शिल्प, कला का विषय पुराणों को छोड़ कर और क्या है। हम अत्यन्त धर्मभाव से अपने साहित्य की ओर पहुँचते हैं। इसका कारण? हमारा साहित्य धर्म है, धर्म साहित्य है। उदाहरण हैं पुराण। पुराणों के आख्यानों को लेकर संस्कृत में माघ, भास, कालिदास, भारवि ने रचना की है। हिन्दी के तुलसी-सूर के साहित्य का मूल भागवत् और रामायण ही है। वास्तव में, मध्ययुग का सारा साहित्य राधाकृष्ण और मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र सम्बन्धी पौराणिक साहित्य के भीतर से ही प्रस्फुटित हुआ है। आधुनिक काल में भी गिरीशचन्द्र घोष के नाटक, रवीन्द्र स्कूल के चित्र, उदयशंकर के नृत्य--ये सब पुराणों की सामग्री तथा तद्प्रभावित सामग्री लेकर ही आगे बढ़े हैं। हिन्दू धर्म के इन

बिश्वकोषों की ओर हमारे प्रतिभाशाली कवि और कलाकार सदैव ही मुड़ते रहेंगे।

परन्तु पुराण केवल सौन्दर्यशास्त्र, काव्य, इतिहास, देव-माला एवं चर्याग्रन्थ ही नहीं हैं उन्हें गम्भीर आध्यात्मिक चिन्ता का भांडार समझना चाहिये। यदि पुराणों की आध्यात्मिक-साधना-सम्बन्धी एवं धर्म-दर्शन-सम्बन्धी सूक्तियों को एक स्थान पर इकट्टा करके अध्ययन किया जाय तो हम निःसन्देह कह उठेंगे--"यह तो है भारत की आध्यात्मिक चिन्ता। उपनिषद् और गीता से यह किसी प्रकार कम नहीं।" हमें यह भी नहीं भूलना चाहिये कि कितनों ही के लिए ये ग्रंन्थ उसी प्रकार अध्यात्म साधना ग्रन्थ रहे हैं जिस प्रकार साम्प्रदायिक ग्रन्थ। कथा-रूप में उन्होंने धार्मिक विश्वासों का प्रचार किया हैं। देश में हिन्दू संस्कृति को विजातीय धर्मों के आघात से अक्षुण्ण बनाए रखा है। आकाशचारी आध्यात्मचिन्तन को जगत तारिणी गंगा की भाँति सर्वसुलभ बनाया है।

४७. निर्गुण पन्थ

(१) निर्गुण पंथ में प्राचीन आध्यात्मिक परम्पराएँ (२) निर्गुणियों में सार ग्रहण की महत्ता और उसका "मधुकरी"—रूप (३) निर्गुण पंथ को मान्यताओं का विश्लेषण (४) कबीर का मौलिक निर्गुण पंथ और परवर्ती निर्गुण पंथ (५) आधुनिक काल के निर्गुण पंथ।

निर्गुण पन्थ में भिन्न-भिन्न धार्मिक सम्प्रदायों, धर्म ग्रन्थों दर्शन शास्त्रों और रहस्यवादी संस्थाओं की बातें मिलती हैं। उसमें बुद्धमत के शून्य और निब्बान का भी स्थान है, वैष्णव धर्म की भक्ति भी है, वेदांत का अद्वैत है और गोरखनाथ का तंत्रवाद भी है। सन्तों की वाणियों में योग-सम्बन्धी जो विचार लिए

गये हैं, वे पातंजलि और कपिल के योगसूत्रों से नहीं, वरन् प्रचलित नाथ सम्प्रदाय से जिसमें इन प्राचीन पौराणिक सिद्धांतों का बौद्ध तंत्रवाद से मेल होकर कुछ और ही रूप हो गया था। इसीलिए निर्गुण सन्तों के योग को समझने के लिए योग के बिगड़े रूप अर्थात् नाथ सम्प्रदाय की यौगिक क्रियाओं को समझना आवश्यक है। इसी प्रकार निर्गुण पंथ में बुद्धमत का जो है, वह गोरखनाथ के माध्यम से प्राप्त हुआ है। सभी कुछ बिगड़े-सुधरे रूप में यहाँ मौजूद हैं।

हम उसे इन सब का बिगड़ा रूप कहें, परन्तु एक दूसरा दृष्टिकोण भी हो सकता है। स्वयम् निर्गुणियों या सन्तों का यही दृष्टिकोण था। वह यह कि प्राचीन मतों, धर्मों और सम्प्रदायों का सार ले लिया गया है। इसके लिए सन्तों ने विशेष परिश्रम नहीं किया। समय का प्रवाह ही ऐसा था और परिस्थितियाँ इस तरह काम कर रही थीं कि यह सब काम अनायास ही हो गया। हम यह भी कह सकते हैं कि एक प्रकार से इन सन्तों ने मध्यममर्ग का प्रचार किया। यह लक्ष्यपथ की परम्परा गीता, बुद्धमत, महायान योगाचार और नाथ सम्प्रदाय में होकर निर्गुण पन्थ तक आई। भारतीय मस्तिष्क की एक विशेषता यह है कि वह विद्रोह और अमूल परिवर्तन में विश्वास नहीं करता। उसमें मध्यमार्ग से संतुष्ट हो जाने की प्रवृत्ति है। सन्तों ने ऐसा ही मध्यमार्ग जनता को दिया।

भिन्न-भिन्न धर्मों, सम्प्रदाय और दर्शनों की धाराएँ निर्गुण-पंथ के रूप में एक हो गईं, यह हम कह चुके हैं। या प्राकृतिक प्रक्रिया थी। एकांतिक धर्म के विकास से लेकर रामानन्द के आविर्भाव तक यह मिश्रण होता रहा। एकांतिक धर्म में उपनिषदों के सिद्धान्तों का समावेश तो पहले ही हो गया था, फिर भी महाभारत में हमें ईश्वरवाद के दर्शन होते हैं और

अद्वैतवाद की पुष्टि मिलती है। शंकराचार्य ने उपनिषदों पर भाष्य करते हुए ईश्वरवाद को अधिक मान नहीं दिया, इसीसे उन्हें "प्रच्छन्न" बुद्ध कहा गया। परन्तु वैष्णव धर्म की आत्मा मृत नहीं हुई थी और शंकर के दर्शन के विरुद्ध अन्य दार्शनिक मत (विशिष्टाद्वैत, द्वैत, भेदाभेद आदि) उठ खड़े हुए। यह सब होने पर भी शंकराचार्य का प्रभाव बना रहा। १'वीं शताब्दी में महाराष्ट्र के मुकुन्दराज ने विवेकसागर लिखा और १२४० में ज्ञानेश्वर महाराज ने ज्ञानेश्वरी नाम से भगवद्गीता की टीका उपस्थित की। दोनों पर वेदान्त का प्रभाव है। उत्तरी भारत में रामानन्द के द्वारा विशिष्टाद्वैत और अद्वैत का मिश्रण हुआ। जान पड़ता है कि उन्होंने शंकराचार्य के अद्वैतवाद में वैष्णव भक्ति को मिला लिया।

प्राचीन योग और बौद्ध मत के संयोग से योगाचार तंत्रवाद चला। इस तंत्रवाद पर शृंगार की छाया पड़ने पर वज्रयान और सिद्ध सम्प्रदाय की सृष्टि हुई। कुछ सिद्धों ने शृंगार-भाव या भैरवीचक्र का विरोध किया। गोरखनाथ ऐसे ही सिद्ध थे। उनसे नाथ सम्प्रदाय की नींव पड़ी। वैष्णव धर्म में योग का अपना स्थान था। उसमें योग के नये प्रकार की पहुँच हो गई। राघवानन्द प्रसिद्ध योगी भी थे, अद्वैतवादी तो थे ही। इन्हीं से रामानन्द ने विशिष्टाद्वैत और योग की शिक्षा ली। इससे रामानन्द में वैष्णव, वेदान्त और योग की तीन धाराओं का मिलाप हो गया। कबीर ने इसे पैतृक सम्पत्ति के रूप में पाया। यह स्पष्ट है कि निर्गुण पन्थ का रूप रामनन्द के समय में ही उनके द्वारा स्थिर हो चुका था। कबीर ने उसमें मूर्ति-पूजा और अवतारवाद का विरोध जोड़ दिया। भक्ति में स्त्री-पुरुष के सांसारिक प्रेम के प्रतीक का आरोप भी उन्होंने ही किया। यह

दोनों बातें उन्हें मुसलमानों से मिलीं अथवा उनके कारण उन्हें कबीर मत में प्रमुख स्थान मिला।

इस प्रकार मिश्रित होने पर भी वैष्णव धर्म की भक्ति-भावना निर्गुण पन्थ का मेरुदंड होने के कारण हम उसे वैष्णव धर्म का नया रूप कह सकते हैं। उसका वही स्थान होगा जो आज आर्य-समाज का है, यद्यपि भक्ति-भावना के कारण वह आर्यसमाज की अपेक्षा वैष्णव धर्म के अधिक निकट है। उसके मूल में अनेक वैष्णव भावनाओं का समावेश है। परन्तु जिस प्रकार आर्य-समाज का सनातनी मत ने विरोध किया, उसी प्रकार वैष्णवों, शैवों और शाक्तों ने मूर्ति-खंडक निर्गुण सम्प्रदाय का विरोध किया; फलतः उन लोगों के प्रति निर्गुणियों में विरोध की भावना भर गई यद्यपि कबीर और अन्य सन्तों ने स्थान-स्थान पर वैष्णवों की प्रशंसा भी की है। वस्तुतः कबीर को वैष्णव कहना ही ठीक होगा, वे उनके कर्मकाण्ड और मूर्ति-पूजा के सम्बन्ध में अवश्य मतभेद रखते थे। वे विष्णु और उनके अवतारों को भी नहीं मानते थे। इसलिए वैष्णवों के प्रति प्रेम होने पर भी वे वैष्णव नहीं माने गये और निर्गुण पन्थ वैष्णव पन्थ से अलग चलता रहा।

निर्गुण पंथ एक विशेष सम्प्रदाय के रूप में कबीर के समय में उठ खड़ा हुआ था, यह कहने के लिए हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है। कबीर स्वयम् मतों और सम्प्रदायों के विरोधी थे। उन्होंने अपने "शब्दों" में सम्प्रदाय और धार्मिक दलबन्दी का घोर विरोध किया है। वह स्पष्ट देखते थे कि हिन्दू और इस्लाम धर्मों के भीतर सम्प्रदायों के विरोध ने कितना विष इकट्ठा कर रखा है। उन्होंने जान-बूझ कर नया पंथ चलाने का प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने तो प्रत्येक धर्म का सार संग्रह किया था और

कोई भी उस सार को ग्रहण कर सकता था। उसे अपना पंथ छोड़ने की आवश्यकता नहीं थी। इससे स्पष्ट है कि कबीर प्रचलित मतों में सुधार चाहते थे, नया धर्म चलाना उन्हें वाञ्छनीय नहीं था। निर्गुण की भावना के साथ पंथ की भावना चलती ही नहीं। पंथ की विशेषता कर्मकांड है। पंथ और धार्मिक असहिष्णुता का अत्यन्त निकट का सम्बन्ध है। धार्मिक असहिष्णुता का यह कारण है कि मनुष्य केन्द्र को छोड़कर बाहर के आचार-विचारों को प्रधानता दे देता है और फिर इन वाह्योपचारों में असमानता देखकर, तत्त्व न समझते हुए, दूसरे से अपने आचार-विचार मनवाना चाहता है। प्रत्येक धर्म-सुधारक की चेष्टा गौण को छोड़कर प्रधान की ओर लौटती है। बाहरी कर्मकांड तो प्रतीक मात्र हैं जिनके सहारे ऊँचे तत्त्वों तक पहुँचना होता है। परन्तु मानव-मन इन्हीं प्रतीकों में अटक कर रह जाता है। सुधारक प्रतीक के पीछे सत्य की प्रतिष्ठा करते हैं और समय के अनुसार उसी एक तत्त्व के लिए नये प्रतीक गढ़ लेते हैं। यहीं उनका कार्य समाप्त हो जाता है। परन्तु यही प्रतीक और वाह्याचार मनुष्यों को सम्प्रदायों में बाँधने के लिए आवश्यक है। कबीर पंथ अथवा निर्गुण पंथ में इनकी सत्ता ही नहीं मानी गई। उसमें न उपसना की व्यवस्था थी, न कर्मकांड की। वह तो सत्य को मानता था। जहाँ भी हो, वहाँ से उसको ग्रहण करना चाहिये। इसी भावना ने हमारी इसी बीसवीं शताब्दी में थ्यासोफ़ी मत को जन्म दिया है। यदि इस सार-ग्रहणता की भावना को धर्म की भावना माना जाय तो निर्गुण पंथ अवश्य पंथ है।

जो हो, आधुनिक काल में जो निर्गुण पंथ चल रहे हैं अथवा कबीर के बाद जो पंथ अस्तित्व में आये, वे इतना ऊँचा न उठ सके उनमें वाह्योपचारों को स्थान मिला जिन्होंने उनका क्षेत्र

सीमित कर दिया। कबीर की सार-ग्राहिणी प्रकृति के तो कहीं दर्शन ही नहीं होते। कबीर ने जिस निर्गुण मत का प्रचार किया उसकी आत्मा से ये पंथ इतने ही दूर हैं जितने वे धर्म थे कबीर ने विरोध किया था। स्वयं कबीर-पंथ में कबीर को "साहब" का स्थान दिया गया है। चौका की उपासना-प्रथा वैष्णवों की षोड़सोपचार सात्विक पूजा का दूसरा रूप है। प्रत्येक पंथ में गुरु में ईश्वरत्व का आरोप कर लिया है, कुछ कर्मकांड बना लिये गये हैं, अन्य धर्मों की उपासना-पद्धति और अनेक प्रथाओं को अपना लिया गया है। वास्तव में कबीर पंथ, दादू पंथ, नानक पंथ, जग्गू पंथ, सतनामी पंथ, दरिया पंथ, साहिब पंथ, राधास्वामी पंथ निर्गुण की उपासना करते हुए भी इन्हीं वाह्योपचारों और कर्मकांडों के कारण कबीर मौलिक निर्गुण पंथ या मत से भिन्न हैं।

४८. धर्म का सौन्दर्य

(१) धर्म की परिभाषा (२) धर्म और "ऋण"—धर्म की सामाजिक भावना (३) मनु और व्यास की धर्म सम्बन्धी महत् धारणा—लोक-स्थिति को बनाये रखने के लिए जो किया जाय, वह धर्म है (४) धर्म में लोक मंगल की साधना (५) धर्म के सौन्दर्य को ग्रहण करने में हमारी अक्षमता।

हम प्रतिदिन "धर्म" शब्द का प्रयोग करते हैं, परन्तु वास्तव में हम उसका ठीक-ठीक रूप नहीं जानते। जिस चीज़ का ठीक-ठीक रूप ही हमारे ज्ञान में नहीं है, उसका सौन्दर्य हम भला कैसे समझेंगे?

धर्म क्या है? वेदव्यास कहते हैं—

धारणाद्धर्म इत्याहुः धर्मोधारयते प्रजाः
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इत्युदाहृतः।

अर्थात् धर्म वह शक्ति है जो प्रजाओं और समाज को धारण करती है। स्पष्ट है कि वेदव्यास श्रेष्ठ सामाजिक आचार को धर्म का नाम दे रहे हैं। अधर्म है अनाचार जिसका फल होगा सामाजिक उच्छृङ्खलता। दूसरे स्थान पर मनु ने भी वही बात कही है—आचारः परमोधर्मः। यही नहीं ऋग्वेद का भी यही मत है —

ऋतस्य पन्थां न तरंति दुष्कृतः

अर्थात् अनाचारी सत्य के पथ के पार नहीं पहुँच पाते। अतः धर्म का मूल रूप है अनाचार-मूलक जीवन। इस आचार-मूलक जीवन के लिये क्या कर्तव्य है। मनु ने कहा है—

ऋणानि त्रीण्यापाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्

तीनों ऋणों को चुका कर मनुष्य मोक्ष या आध्यात्म-चिन्तन में लगे। ये तीनों ऋण हैं--ऋषिऋण, देवऋण और पितृऋण। इनको किस तरह चुकाया जाय? ऋषिऋण—ऋषियों द्वारा उपलब्ध ज्ञान की प्राप्ति करके, देवऋण—हवनयज्ञादि पुण्य-कर्म करके, पितृऋण—प्रजनन द्वारा। इसी मनुष्य मात्र के लिये चार आश्रमों की कल्पना की गई—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास। प्रत्येक मनुष्य के लिये इन आश्रमों का क्रमानुसार पालन करना आवश्यक है। जब समाज का प्रत्येक व्यक्ति इस आश्रम-व्यवस्था को मान कर चलेगा तो आचार-हीनता और दुख का कोई कारण ही उपस्थित न हो सकेगा। धर्म ऐसी सामाजिक व्यवस्था है जिसके द्वारा एक निश्चित कार्यक्रम का पालन करता हुआ मनुष्य इहलौकिक जीवन में अभ्युदय और और अन्त आध्यात्मिक शांति प्राप्त कर सके। महाभारत के भीषण युद्ध के बाद इसी सामाजिक व्यवस्था की हानि देख कर महाप्राण महर्षि व्यास कातर चीत्कार कर उठे थे—

"मैं भुजा उठा कर कह रहा हूँ, पर कोई मेरी बात सुनने वाला ही नहीं है। धर्म से ही धन और काम मिलते हैं, उस धर्म का आश्रय क्यों नहीं लेते ?"

मनु और व्यास ने जिस धर्म की कल्पना की है, वह कर्म-तत्पर है। संसार के सब जीवों में मनुष्य श्रेष्ठ है (नहि मानुषात् श्रेष्ठकर हि किंचत्) और मनुष्य का लक्षण है कर्म (मनुष्याः कर्म लक्षणाः)। आज धर्म के अर्थ हैं अकर्म, परन्तु महर्षि जानते हैं कि सामाजिक व्यवस्था से भाग कर स्वेच्छा और अनाचार को आश्रय देना उसकी जड़ें खोदना है। समाज तो कर्मशील व्यक्तियों पर ही आश्रित है। इसी से वे पलायनवादियों से कहते हैं—पहले यह लोक है, इसके कर्त्तव्य हैं, परलोक इसके बाद है—

भृत्यानामुपरोधेन यः करोत्यौर्ध्व देहिकम्
तद्भवत्यसुखोदर्कं जीवितस्य मृतस्य च

अर्थात् जिनका भरण-पोषण अपना अवश्यक कर्त्तव्य है उन को कष्ट देकर जो परलोक साधता है, उसके लिए इस जीवन में और इसके बाद मृत्यु में भी दुख ही दुख है। वस्तुतः ऋषि तो इससे भी ऊपर उठ गए हैं। उनके लिए तो धर्म वह शाश्वत, सर्वोपरि नियम है जो व्यक्ति, राष्ट्र, जीवन, संस्थाओं, लोक और परलोक को धारण करते परिवर्तनशील इस संसार में जो सनातन तत्व है, वही धर्म है।

इस रूप में धर्म को देखने के लिये तत्ववेत्ता और द्रष्टा की दृष्टि चाहिये। एक बार इससे परिचित होने पर इसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाना पड़ेगा। उच्छृङ्खलता, अराजकता, अनियम—ये असुन्दर हैं। सनातन नियमों को जानना और समाज की स्थिति को स्वीकार करके उसे आदर देना—ये सुन्दर हैं। अनियम से नियम बड़ा है। बड़ा ही नहीं, सुन्दर भी है।

धर्म के इस मूल तत्त्व को जानने के पश्चात् और कुछ जानना शेष नहीं रह जाता। लोकस्थिति को बनाए रखने के लिए जो कुछ किया जाय, वह धर्म है। सामाजिक सहयोग और सामाजिक व्यवस्था का पालन पहली सीढ़ी।

हमारे प्राचीन मनीषियों ने इसे जाना था। इसीसे उन्होंने व्यवस्थाशास्त्र को भी "धर्मशास्त्र" कहा था। मनु, पराशर, वशिष्ठ आदि धर्म शास्त्रज्ञ ऋषि माने गये हैं और समाज ने उनके कथनों को धर्म ही समझा है और उनके अनुकूल आचरण बनाया है। स्वयम् उन जैसे एकांतवासी तपस्वियों ने धर्म-द्वारा लोकसंग्रह-भाव को अपने अंतिम समय तक निभाया है। उन्होंने समाज, व्यवस्था, ऋषिनियम और गुणों को कहीं भी अस्वीकार नहीं किया। लोक-मंगल की साधना ही उनके लिये "धर्म" हो गई थी। उनके साहित्य में अधर्म के पराभव और धर्म की जय के सुन्दरतम चित्र हैं। धर्म और लोक-मंगल की भावना का अत्यन्त निकट का सम्बन्ध है। ऋषियों और महाकवियों ने अपने काव्य में लोक-मंगल को ही साधनावस्था उपस्थित की है। वाल्मीकि और व्यास की साहित्यिक साधना की परख करते हुए तत्त्व-चिन्तक और साहित्य मर्मज्ञ श्री पं० रामचन्द्र शुक्ल ने उनकी धर्मप्राण कला का विश्लेषण इस प्रकार किया है--"वह व्यवस्था या वृत्ति जिससे लोक में मंगल का विधान होता है, 'अभ्युदय' की सिद्धि होती है, धर्म है। अतः अधर्मवृत्ति को हटाने में धर्मवृत्ति की तत्परता--चाहे वह उग्र और प्रचंड हो, चाहे कोमल और मधुर--भगवान् की आनन्दकला के विकास की ओर बढ़ती हुई गति है। यह गति यदि सफल हुई तो "धर्म की जय" कहलाती है। इस गति में भी सुन्दरता है और इसकी सफलता में भी। यह बात नहीं कि जब यह गति सफल होती है तभी इसमें

सुन्दरता आती है। गति में सुन्दरता रहती ही है--आगे चल कर चाहे वह सफल हो, चाहे विफल। विफलता में भी एक एक निराला ही विषण्ण सौन्दर्य होता है। तात्पर्य यह कि यह गति आदि से अंत तक सुन्दर होती है, अन्त चाहे सफलता के रूप में हो, चाहे विफलता के। उपर्युक्त दोनों आर्षकवियों ने पूर्णता के विचार से धर्म की गति का सौन्दर्य दिखाते हुए उसकी सफलता में पर्यवसाय किया है। ऐसा उन्होंने उपदेशक की बुद्धि से नहीं किया है; धर्म की जय के बीच भगवान की मूर्ति के साक्षात्कार पर मुग्ध होकर किया है। यदि राम द्वारा रावण का वध तथा कृष्ण द्वारा जरासंध और कौरवों का दमन न हो सकता तो भी रामकृष्ण की गति-विधि में पूरा सौन्दर्य रहता, पर उनमें भगवान की पूर्णकला का दर्शन न होता, 'क्योंकि भगवान की शक्ति अमोघ है।" ऋषयों और तत्ववेत्ताओं ने सामाजिक सहकारिता, दुष्टों के नाश और पुण्यात्माओं की जय, प्रकृति और मानव के सम्बन्ध—सभी में भगवान की कल्याणकारी अमोघ शक्ति के दर्शन किये हैं। इस अमोघशक्ति के दर्शन में ही उन्हें "धर्म का सौन्दर्य" भी दिखाई पड़ता है। इसी से कवि ने कहा है—

धर्म दे प्रगट होइ भगवान

धर्म का सौन्दर्य हम इसलिए ग्रहण नहीं करते कि हम उसके उतने ऊँचे स्तर तक नहीं पहुँच जाते जितना उसके आत्मसात के लिए आवश्यक है। हम धर्म के अत्यन्त संकीर्ण अर्थ लेते हैं और नैतिक एवं धार्मिक विधि-विधानों में ही उसकी समाप्ति समझ लेते हैं। वास्तव में धर्म का सौन्दर्य हम इसी समय समझ सकेंगे जब हम उसे व्यापक रूप में लें। यह व्यापकरूप, फिर आचार्य शुक्ल जी के शब्दों में, "सत्स्वरूप प्रवृत्ति" है जिसकी कई भूमियाँ हैं-१गृहधर्म, कुलधर्म, समाजधर्म, लोकधर्म, विश्वधर्म। "किसी परिमित वर्ग के कल्याण से सम्बन्ध रखने

वाले धम की अपेक्षा विस्तृत जन-समूह के कल्याण से सम्बन्ध रखनेवाला धर्म उच्च-कोटि का है। धर्म की उच्चता उसके लक्ष्य के व्यापकत्व के अनुसार समझी जाती है। गृह-धर्म या कुलधर्म से समाजधर्म श्रेष्ठ है, समाजधर्म से लोकधर्म, लोकधर्म से विश्वधर्म, जिसमें धर्म अपने शुद्ध और पूर्ण स्वरूप में दिखाई पड़ता है। यह पूर्ण धर्म अंगी है और शेष धर्म अंग पूर्ण धर्म, जिसका सम्बन्ध अखिल विश्व की स्थिति-रक्षा से है; वस्तुतः पूर्ण पुरुष या पुरुषोत्तम में रहता है, जिसकी मार्मिक अनुभूति सच्चे भक्तों को ही हुआ करती है। इसी अनुभूति के अनुरूप उनके आचरण का भी उत्तरोत्तर विकास होता जाता है। गृह-धर्म पर दृष्टि रखने वाला किसी परिवार की रक्षा देखकर, वर्ग धर्म की रक्षा करने वाला किसी कर्म या समाज की रक्षा देख कर और लोकधर्म की रक्षा करने वाला लोक या समस्त जाति की रक्षा देख कर आनन्द का अनुभव करता है। पूर्ण या शुद्ध धर्म का स्वरूप सच्चे भक्त ही अपने और दूसरों के सामने लाया करते हैं, जिनके भगवान पूरे धर्म-स्वरूप हैं। अतः वे कीट-पतंग से लेकर मनुष्य तक सब प्राणियों की रक्षा कर आनन्द प्राप्त करते हैं। विषय की व्यापकता के अनुसार उनका आनन्द भी उच्चकोटि का होता है।" कहना नहीं होगा कि इस आनन्द के साथ सौन्दर्य के भी दर्शन होते हैं। कुल-व्यवस्था, गृह-व्यावस्था, समाज-व्यवस्था, लोक-व्यवस्था और विश्व-व्यवस्था के सुष्ठु, आदर्श रूप मन में आनन्द की प्रेरणा करते हैं परन्तु इस आनन्द के मूल में इन व्यवस्थाओं में सन्निहित सौन्दर्य की प्रेरणा मुख्य रूप से रहती है।

४६. ज्ञान-प्राप्ति के साधन

(१) पूर्व और पश्चिम के ज्ञान-प्राप्ति के साधनों में मतभेद

(२) पश्चिमी मतवाद का इतिहास (३) ज्ञान-प्राप्ति के तीन साधन—इन्द्रिय-जन्य ज्ञान, तर्क-जन्य ज्ञान, अनुभूति-जन्य ज्ञान (४) तीनों साधनों द्वारा प्राप्त ज्ञान की असम्पूर्णता (५) ज्ञान प्राप्ति का एक मात्र सत्य साधन—दर्शन (६) उपसंहार।

पूर्व और पश्चिम के ज्ञान-प्राप्ति के साधन के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है। पश्चिम के मनीषी तर्क-बुद्धि और विज्ञान पर बल देते हैं। पूर्व के हिन्दू दार्शनिकों का विश्वास है कि हमारे पास तर्क-बुद्धि से ऊँची एक ऐसी वस्तु है जिसके द्वारा हम ज्ञातव्य वस्तु से एकात्म स्थापित कर सकते हैं और तब हम उस वस्तु का अन्यतम परिचय पा जाते हैं, हमारी दृष्टि केवल सतह पर ही नहीं रह जाती। इसी से हिन्दूशास्त्र में ज्ञान को दर्शन कहा है। इस प्रकार के ज्ञान की जो वस्तु की पूर्णता से हमारा साक्षात्कार करा दे और जो इंद्रियों और तर्क-बुद्धि पर आश्रित नहीं है, "प्रज्ञान", "प्रतिभा", "आर्षज्ञान", "सिद्धदर्शन", "योगीप्रत्यक्ष" कहा गया है। शंकराचार्य उसे "अनुभव" कहते हैं। बुद्ध ने उसे "बोधि" कहा है। बुद्धिघोष प्रज्ञान को विज्ञान (तर्क-जन्य ज्ञान) और संज्ञान (इंद्रियजन्य ज्ञान) से ऊँचा मानते हैं।

पश्चिम ने तर्क और आलोचक-बुद्धि को ज्ञान-प्राप्ति का साधन माना है। संभव है कि यह उन परिस्थितियों के कारण हो जिनमें रहकर यूनान के दार्शनिकों को काम करना पड़ा था। संभव है इस विचार की जड़ उनकी विकसित नागरिक भावना में हो जिसमें मानसिक शक्तियों का पूर्ण विकास अपेक्षित था परन्तु हमें यह देख कर आश्चर्य होता है कि विज्ञान पर बल देते हुए भी पाश्चात्य प्राचीन दार्शनिकों ने उससे बड़े किसी दूसरे साधन की ओर इंगित किया हैं। प्लेटो Neosis को सर्वोच्च ज्ञान मानता है; वह बुद्धि के परे है प्रत्यक्ष और Immediate है। Plotinus और Neo-platonists को यह विश्वास था कि

केवल तर्कजन्य ज्ञान ही काफ़ी नहीं हैं। उनके अनुसार तर्क का आधार अनुभूतिजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान है। बाद के दार्शनिकों का दृष्टिकोण संकीर्ण हो गया और भौतिक विज्ञानों के विकास के साथ दर्शन को विज्ञान पर आश्रित कर दिया गया। विज्ञान का साधन प्रयोग और तक था।

इस प्रकार डेसकारटीस Descartes से यूरोप के दर्शन ने सत्य की एक नई संकीर्ण व्याख्या की और अपनी दिशा बदली। सत्य की परिभाषा गणित के सत्य के दृष्टिकोण से की गई। स्पौंनोज़ा, लेबनिज़, हैगल और रसल सभी ने तर्क को ज्ञान का एक मात्र साधन माना है उनका तर्क विश्लेषण प्रधान है। हाँ, कांट ने श्लेषणशील तर्क Synthetic Logic की कल्पना की परन्तु वह उसे बहुत आगे नहीं बढ़ा सका। बाद के चिंतकों पर हैगल का प्रभाव ही अधिक रहा, यद्यपि उन्हें कहीं-कहीं कांट के दृष्टिकोण से भी सामञ्जस्य करना पड़ा। कांट का समर्थक ब्रेडले है। उसके अनुसार बुद्धि विभिन्न सम्बन्धों की परिधि के बाहर नहीं जा सकती और इसी से वह सत्य को पूरा-पूरा पकड़ भी नहीं सकता। बसनकट Bosanquet ब्रेडले से अधिक यथार्थवादी और उसका दृष्टिकोण हैगल-जैसा है।

इस तरह यदि हम पश्चिम के दर्शन के इतिहास का अध्ययन करें तो उसके नीचे हमें तर्क की सर्वप्रधानता मिलेगी। एक-प्रकार का बुद्धिवाद यूरोप की कल्पना को इतना जकड़े है कि वह-उसकी हाड़मज्जा का अंश हो गया है। सत्य विज्ञान है, विज्ञान सत्य है। धार्मिक विश्वास मूर्खता है।

ज्ञान प्राप्त के तीन साधन हैं—इंद्रियाँ, तर्क और प्रज्ञान या अनुभव-ज्ञान। जो ज्ञान हमें इन तीन साधनों से प्राप्त होता है, उसे हम क्रमशः इंद्रियजन्य-ज्ञान, तर्कजन्य ज्ञान और अनुभूति-जन्य ज्ञान कह सकते हैं। इंद्रियजन्य ज्ञान से हमें संसार के

बाह्यरूप के ज्ञान में सहायता मिलती है। इंद्रियों के द्वारा हम वस्तु से उतने ही परिचित हो जाते हैं जितना इंद्रियगम्य है। इस प्रकार का ज्ञान विज्ञान का विषय है। तर्कजन्य ज्ञान विश्लेषण और संश्लेषण से प्राप्त होता है। इंद्रियों के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है उसका तर्क विश्लेषण करता है और फलस्वरूप हमें ज्ञातव्यवस्तु का अधिक पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है। अनुभव और विश्लेषण-शक्ति के विकास के साथ तर्क बदल सकते हैं और उनके द्वारा प्राप्त ज्ञान भी बदल सकता है या उसके मूल्यांकन में भेद आ सकता है। परन्तु यह दोनों प्रकार का ज्ञान वस्तु से सच्चे-स्वरूप को जानने के लिए यथेष्ट नहीं है।

प्लेटो ने एक आदर्श संसार की कल्पना की। उसके अनुसार इन्द्रियजन्य संसार उस आदर्श संसार की छाया थी जो स्रष्टा के मन में उद्भूत हुआ है। वही सत्य है। उसका ज्ञान सत्य ज्ञान है। अतएव इन्द्रियजन्य संसार सत्य नहीं है। तर्कजन्य ज्ञान भी सत्य नहीं है क्योंकि तर्क के द्वारा बाह्यवस्तु का जो रूप हमारे सामने आता है, वह रूप नहीं होता जो हमें इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होता है। बुद्धि की क्रिया में इन्द्रियों-द्वारा प्राप्त चित्र छिन्न-भिन्न हो जाता है और फिर उसी तरह बन नहीं पाता। तर्क द्वारा प्राप्त ज्ञान भी असम्पूर्ण है। वस्तु जो है, बुद्धि उसके चारों ओर चक्कर काटती रहती है और उसके हृदय में पैठ नहीं सकती। ब्रेडले के अनुसार मानसिक विश्लेषण में सत्य असत्य हो जाता है क्योंकि इस प्रक्रिया में वस्तु की एकता को आघात पहुँचता है। इसके सिवा भावना और अनुभूति बुद्धि के बाहर रहती हैं। केवल बुद्धि इन दोनों के अभाव की पूर्ति नहीं कर सकती।

वस्तुतः ठीक-ठीक ज्ञान न भावना (Emotion) से पाया जा सकता है, न अनुभूति (Intuition) से, न बुद्धि (Intellect) से। केवल तीनों के उपयुक्त सम्मिश्रण से हम किसी वस्तु के

पूर्ण रूप से परिचित हो सकते हैं। हम तीनों से अलग-अलग भी किसी वस्तु के विषय में बहुत कुछ जान सकते हैं, परन्तु हमारा ज्ञान उतनी सीमा तक सम्पूर्ण होते हुए भी व्यापक और अलिप्त सत्य की दृष्टि से अपूर्ण होगा। हमारे मनीषियों ने "आत्मज्ञान" को सत्यज्ञान कहा है। कुछ पश्चिमी विद्वान् भी आत्मज्ञान, अनुभूतिजन्यज्ञान (अथवा Intuition) को ही एक मात्र सत्य और पूर्ण ज्ञान मानते हैं। बर्गसाँ का कहना है कि तर्क के द्वारा हम वस्तु को पूर्ण रूप में ग्रहण नहीं कर सकते, उसके विभिन्न अंगों भर को पहचानते हैं। कल्पना कीजिये आपने संध्या के समय आकाश की शोभा देखी। आप उसे-शब्दों में बाँधते हैं तो प्रकाश, स्वर्ण, रजत आदि कुछ विशेषण आपके सामने आते हैं। यदि यह सम्भव भी हो कि आकाश की शोभा को वर्णन करने के लिए आपको उपयुक्त शब्द मिल भी जायें तो भी कुछ विशेषणों भर का नाम "सूर्यास्त" नहीं है। आप सूर्यास्त को सम्पूर्णतः केवल अनुभूति से ही पकड़ सकते हैं। कवि अपने काव्य द्वारा उसका सम्पूर्ण चित्र देने की चेष्टा करता है परन्तु असफल होता है। क्रोसे ने इसी प्रकार के भेद को दृष्टि में रखते हुए ज्ञान के दो भेद कर दिये हैं—वह ज्ञान जो अनुमान, कल्पना और अनु-भूति के द्वारा प्राप्त होता है और वह ज्ञान जो बुद्धि-द्वारा विश्लिष्ट और संश्लिष्ट रूप में प्राप्त होता है। पहला ज्ञान "आत्मज्ञान से भिन्न नहीं है", दूसरा ज्ञान परम्परागत धारणाओं(Concepts) तक ही सीमित रह जाता है। ब्रेडले, बर्गसाँ, क्रोसे और कितने ही पाश्चात्य तत्त्ववेत्ता यह मान लेते हैं कि बुद्धि-द्वारा जीवन निश्चित धारणाओं में बँधकर जड़ हो जाता है। अनुभूति के द्वारा वह अपना अनुभव करता है, अपने को जीवित रखता है और अपनी जीवनीशक्ति का विकास करता है। हमारे उपनिषदों ने भी ज्ञान-प्राप्ति के दो साधन माने थे अनुभूति और जिज्ञासा। उनका

कहना था कि अनुभूति या हृदय की साधना के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति सहज है, जिज्ञासा या मन की साधना के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति कठिन है। इसी तरह उन्होंने ज्ञान के भी दो भेद किये— परा और अपरा। "दो विद्याएँ जानने योग्य हैं। उन्हें ब्रह्मादि परा और अपरा विद्याएँ कहते हैं। परा विद्या में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष का ज्ञान है। परा विद्या से मनुष्य अक्षर का ज्ञान प्राप्त करता है" (मुंडकोपनिषद) ऋषियों की दृष्टि में परा विद्या का ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है। इसमें पारंगत हुए बिना मुक्ति नहीं। इसे जानने के बाद "और भी कुछ" नहीं जाना जा सकता। अनेक कथाओं द्वारा इसी मत की पुष्टि की गई है। नारद जी ने सनत्कुमार के पास जाकर कहा—"हे भगवान्, मुझे उपदेश कीजिये।" सनत्कुमार ने पूछा—तुम जो-जो जानते हो, बताओ? नारद ने उन विद्याओं के नाम लिए जिनमें वे पारंगत थे। "ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चौथा अथर्ववेद जानता हूँ। इतिहास-पुराण रूप पाँचवा वेद, वेदों का वेद (व्याकरण), श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातज्ञान, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीति, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्वविद्या और देवजन विद्या—हे भगवान, मैं ये सब जानता हूँ।" नारद मंत्रवेत्ता थे, आत्मवेत्ता नहीं। उन्हें दुख है। शोक को वे प्राप्त होते हैं और तब यह सारा ज्ञान उन्हें शान्ति नहीं दे सकता। "हे भगवान्, मैं शोक करता हूँ, आत्मवेत्ता सुना है, शोक को पार कर लेता है। मुझको शोक से पार करा दीजिये।" तब सनत्कुमार ने उनसे कहा—"तुम यह जो कुछ जानते हो, वह नाम ही है।" नारद ने पूछा—हे भगवान्, क्या नाम से भी कुछ अधिक है? ऋषि ने उत्तर दिया—"नाम से भी अधिक है"। "तो भगवन्, मुझे वही बतलावें!" सनत्कुमार ने जिसे नाम मात्र

कहा है, उसे ही क्रौंसे ने "धारणाबद्ध ज्ञान" (Conceptual Knowledge) होना क ा है। नाम से अधिक जो ज्ञान है वह आत्मानुभूति या ज्ञातव्य वस्तु से आत्मसाक्षात्कार के द्वारा ही प्राप्त होता है।

इस प्रकार ज्ञान-प्राप्ति के साधनों को दो बड़े भागों में विभाजित करने के पश्चात् भी यह समस्या रह जाती है कि दोनों में कौन मुख्य है, क्या दोनों के ज्ञान से वस्तु का पूरा ज्ञान हो जाता है या फिर भी जो ज्ञान हमें प्राप्त होता है, वह सच्चा ज्ञान नहीं होता। तत्त्वज्ञानी इसी सत्य पर पहुँचे हैं कि हम सच्चाज्ञान प्राप्त ही नहीं कर सकते। अनुभूति-द्वारा प्राप्त रहस्यात्मक ज्ञान भी सत्य से उतनी ही दूर होगा जितना बुद्धि-द्वारा प्राप्त धारणात्मक ज्ञान। कदाचित् इसी कठिनाइ को हल करने के लिए ऋषियों ने कहा था—"एकं सद् विप्रं बहुधा वदन्ति" इस प्रकार उन्होंने सभी कथनों में सच्चाई होना स्वीकार किया था। वास्तव में ज्ञान-प्राप्ति की समस्या का हल अभी हो ही नहीं पाया है और कदाचित् हो भी न सके। कवि जिसके लिए "जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः (अर्थात् हे मेघ मैं यथार्थतः तुम्हारे स्वरूप को जानता हूँ, तुम इस प्रकृति के कामरूप पुरुष हो), उसे ऐतिहासिक दूसरी तरह देखता है—"जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्त्तकानाम्" (अर्थात् पुष्कर और आवर्त्तक नामक मेघों से विशाल वंश में इस सामने देख पड़ने वाले मेघखंड का जन्म हुआ है), साधारण कृषक दूसरी तरह—"त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति" (अर्थात् यह जो लहलहाती हुई शस्य सम्पत्ति है, हे मेघ, इसका श्रेय तुम्हारे वरद जल कणों को है), और वैज्ञानिक अपने ही ढङ्ग पर—"धूम-ज्योतिः सलिल मरुतां सन्निपातः—क्व मेघः" (अर्थात् धुआँ आग, पानी और हवा—इन्हीं के जमघट का नाम मेघ है)। इनमें प्रत्येक सत्य को अपने ढङ्ग से पकड़ता है

और उसी को पकड़ कर बैठ रहता है। वास्तव में मेघ पकड़ में नहीं आता। हम सच्चा ज्ञान न अनुभूति द्वारा प्राप्त कर सकते हैं, न तर्क-वितर्क द्वारा। दोनों प्रकार से प्राप्त ज्ञान हमारे लिये महत्त्वपूर्ण है। कवि का तत्त्वदर्शन भी उतना ही सत्य है, जितना वैज्ञानिक का चीरफाड़ द्वारा प्राप्त विश्लेषणात्मक ज्ञान। एक को सत्य और दूसरे को मिथ्या मानना भूल है।

५०. विज्ञान और हिन्दू धर्म

(१) विज्ञान और धर्म के सम्बन्ध में साधारण विश्वास (२) विज्ञान में श्रद्धा का स्थान और धर्म से ज्ञान का सम्बन्ध (३) विज्ञान की भौतिकी परत के नीचे महान समस्याओं का रूप धार्मिक ही है (४) जीवन, मृत्यु, विराट और काल के सम्बन्ध में हिन्दू ऋषियों और वैज्ञानिकों मान्यताओं में समानता (५) जहाँ दर्शन और विज्ञान की समाप्ति है, वहाँ हिन्दू धर्म का पहला चरण है (६) उपसंहार।

साधारण रूप से विज्ञान और धर्म विरोधी माने जाते हैं। लोग कहते हैं विज्ञान का आधार है तर्क, धर्म का आधार है श्रद्धा। पहले से बुद्धि का नाता है, दूसरे से हृदय का सम्बन्ध है। विज्ञान और धर्म में सामञ्जस्य बिठलाना असम्भव है। विज्ञान प्रगति है, धर्म रूढ़िवादिता है।

परन्तु क्या सचमुच ऐसा है? क्या विज्ञान और सत्य, धर्म और श्रद्धा इतनी भिन्न वस्तुएँ हैं? क्या विज्ञान में श्रद्धा को स्थान ही नहीं है और धर्म का ज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं है? जहाँ तक हिन्दू-धर्म की बात है, हम कहे देते हैं कि यह दृष्टिकोण भ्रामक है। हमारा धर्म श्रेष्ठ महती सत्यों पर आश्रित है और वह मूलरूप में अंध श्रद्धा का विरोधी भी है। उपनिषद् का ऋषि ईश्वर से प्रार्थना करता है--

असतो मा सद् गमय ।
तमसो मा ज्योतिर्गमय ॥
मृत्योर्मामृतं गमय ॥

(हमें असत् से सत् की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर एवं मृत्यु से अमृत की ओर ले चलो ।)

अतः, सत्य का सम्बन्ध धर्म से भी उतना ही है जितना विज्ञान से है । परन्तु सत्य क्या है, इस विषय में मतभेद हो सकता है ।

यदि हम विज्ञान की भौतिक परत के नीचे उन महान् समस्याओं को देख सकें जिनके सुलझाने में वैज्ञानिक अपना सुख होम कर देता है तो हमें निश्चय रूप से वही समस्याएँ मिलेंगी जो धर्म की समस्याएँ कही जाती हैं । यह जीवन क्या है ? यह जीवन कैसे है ? यह जीवन क्यों है ? क्या जीवन सतत परिवर्तनशील है ? ृत्यु और जीवन में क्या भेद है ? चेतना क्या है ? मन क्या है ? जो हम इन्द्रियों द्वारा देख सुन-समझ पाते हैं, क्या वह सत्य है या मिथ्या, या इससे परे है सत्य ? यही दर्शन के प्रश्न हैं, यही धर्म की मूल समस्याएँ । शुद्ध विज्ञान इन्हें ही सुलझाने में लगा है । धर्म ने अपने ढङ्ग पर इन समस्याओं को सुलझाया है, विज्ञान आज अपने ढङ्ग पर सुलझा रहा है, परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि दोनों के उत्तर एक ही हैं ।

जीवन की कोई वैज्ञानिक परिभाषा नही बन सकी है, परन्तु मृत्यु की बात से जीवन की बात समझाई जा सकती है । वैज्ञानिक मृत्यु की परिभाषा देता है ।

"It is the inability of the Life-force to raise to the requisite rate of vibration the nervous tissue upon which it acts, its manifestation thus being rendered impossible."

"शतायुःपुरुष" की घोषणा करने वाले ऋचाओं के ऋषियों ने भी कहा—अमृतयु बै प्राण (अमृत प्राण है)। ऊर्जित प्राण मनुष्य ही जीवित रहता है, अधःप्राण मनुष्य मरण को प्राप्त होता है।" "प्राणोः विराट।" प्राण है सृष्टि की विराट् शक्तियों के साथ संपर्क स्थापित करने का नाम। ये विराट शक्तियाँ हैं प्रकाश, ताप, स्वस्थ जलवायु। इन्हें देवता कहा है जो अमृत पीकर अमर हो गए हैं। इन विराट शक्तियों का उपासक प्राण का संग्रह करता हुआ योग द्वारा नाशकारक विकारों को दूर करता हुआ ऊर्ध्ववीर्य होकर अमृततत्त्व की प्राप्ति करता है।

इसी प्रकार वैज्ञानिक और धर्मवेत्ता लगभग एक ही समान जीवन को अनबूझ पहेली मानते हैं। विज्ञान ने बुलबुले के समान परन्तु सतत केन्द्र से परिधि की ओर फैलते हुए विश्व की घोषणा की है यद्यपि नीहारिकाओं के अनेक आवर्तों और सौर्य-मण्डलों की असंख्यता के कारण वह अब भी उसके लिए पहेली भर है। वैदिक ऋषि ने भी आज के वैज्ञानिक की भाँति ही कभी प्रश्न किए थे—

"इस विश्व को जब प्रजापति बनाने लगे, तब क्या उसका आधार था, और कौन सी सामग्री थी? यदि विश्व का कोई उपादान था तो वह कैसा था?" वह ऐसा कौन-सा महावन था? उस महावन में ऐसा कौनसा महावृक्ष था जिसे काट-छाँट कर द्यावापृथिवी-रूप संसार बनाया गया?"

तैत्तिरीय ब्राह्मण के ऋषि ने इन प्रश्नों का उत्तर दिया—

ब्रह्मवनं ब्रह्म स वृक्ष आस
यतोद्यावा पृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा वि ब्रवीमि यो
ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्

("ब्रह्म वन था, ब्रह्म ही वृक्ष था, जिससे द्यु लोक और पृथ्वी तरासे गये हैं। हे विद्वानों, मन से चिन्तन करके यह बताता हूँ कि ब्रह्म ही भुवनों को धारण करके उनका अधिष्ठाता बना हुआ है"। विज्ञान के अणु—परमाणु भी अबूझ हैं और यह ब्रह्म भी। गीताशास्त्र में जिस "ऊर्ध्वमूलमधः शाखम्" अवश्वत्थ के रूप में सनातन संसार की कल्पना की गई है वह आइंस्टाइन के "बुदबुद" जैसे संसार से अभिन्न है।

जीवन, मृत्यु विराट और काल की खोज से थक कर ऋषि उसे ब्रह्म की तरह अनन्त, अनिर्वचनीय कह देता है। आजका वैज्ञानिक भी हार कर कह देता है—"....Unfathomable mysteries, such as life, being, infinity, eternity space and, in general, if you look into the depths of things, nearly all that exists" यहाँ तक साधनों और प्रयोगों का भेद होते हुए भी हम अन्त में एक ही स्थान पर पहुँचते हैं।

अब यहीं से हिन्दू धर्म शुरू होता है। जहाँ दर्शन और विज्ञान की समाप्ति है, वहाँ हिन्दू-धर्म का पहला चरण है। सब कुछ जानने के पश्चात् जब यह जान लिया जाय कि हम कुछ नहीं जान सकते तो इस ज्ञान के सहारे जीना भी असम्भव हो जाये। इसीलिए जीवनदर्शी प्राच्य ऋषियों ने जनता को यह नहीं बताया कि सब माया है, सब पहेली है, सब अबूझ है। जाना कुछ नहीं जाता। चाहे श्रद्धा को आत्म-प्रतारणा ही कहा जाय, परन्तु जहाँ जीवन और मृत्यु में से एक को चुनना है वहाँ आत्मप्रतारणा के साथ जीते रहना अविश्वासी होकर दुख से मरने की अपेक्षा अच्छा समझ गया। इसी से हिन्दू धर्माचार्यों ने कहा ब्रह्म विष्णु है। वह कालरूपी शेष पर शयन करते हैं। उनकी भक्ति में अमृत का वास है। उन्होंने विष्णु के रूप की

कल्पना की, उन्हें आयुध दिये, दिव्य वस्त्रों से सुसज्जित किया और अत्यन्त ग्राह्य रूप में जनता के सामने उपस्थित किया। अनेक देवी-देवताओं और अनेक रूपकों के द्वारा उन्होंने "सत्य" को जनता के लिए सुलभ बनाया। वास्तव में पुराण की भित्ति हिन्दू दर्शन है। आज पश्चिमीय,विज्ञान ने नीहारिकाओं और नक्षत्र-जगत के विषय में अत्यन्त परिश्रम से खोज करके विश्व की अनन्तता का निर्माण किया है। हिन्दू धर्म ने इस ज्ञान को भगवान के विराटरूप की कल्पना के द्वारा जनसुलभ बना दिया है। काग्भुशुण्डि राम के मुँह में चले जाते हैं। वहाँ परिस्थिति यह है—

उदर माँझ जन् अंडज राया।
देखेंहुँ बहु ब्रह्माण्ड निकाया॥
एक एक ब्रह्माण्ड महँ रहेउँ बरस सत एक।
यह विधि मैं देखत फिरेउँ अंडकटाह अनेक॥

भला इसमें और वैज्ञानिकों की असमर्थता में अन्तर कहाँ है? जीवन की अविनश्वरता, अनन्तता का जो शुतमुखगान आज विज्ञान के संसार में सुन पड़ रहा है, यही वैदिक ऋषियों के ज्ञान का विषय था जिन्होंने कहा था—

जीवन तेरी जय हो।

अपने आधे से तूने यह सृष्टि बनाई, आधा शेष,
बढ़ता रहा उमड़ता चलता रहा नहीं, जाने किस देश?
(अर्धेनविश्व भुवनं जजात। यो अस्यार्थः कतमः सकेतुः)

मनुष्य इस अनन्त के एक बहुत छोटे अंश को ही बुद्धि द्वारा ग्रहण कर सकता है परन्तु वह भी सर्वसाधारण के पौरुष की बात नहीं है। हिन्दू धर्म में शेषशायी विष्णु की कल्पना के द्वारा इस ज्ञान को प्रत्येक घर में पहुँचा दिया गया। विष्णु हैं निरञ्जन ब्रह्म का वह अंश जो सृष्टि में प्राप्त हो गया है, जो सृष्टि की

परिधि से बचा रहा वह "शेष" है। इसी शेष को आधार बनाकर विष्णु शयन करते हैं। विष्णु सात विश्व हैं, शेष अनन्त विश्व के प्रतीक हैं। वस्तुतः पुराणों में विज्ञान के उच्चतम सिद्धान्तों को कल्पना द्वारा मूर्ति और भावना द्वारा रस-सिक्त कर जन-साधारण तक पहुँचा दिया गया है।

५१. वल्लभाचार्य और मध्य युग का भक्ति आन्दोलन

(१) वल्लभाचार्य से पूर्व की भक्ति-सम्बन्धी मान्यताएँ (२) वल्लभाचार्य ने दास्य भावना मूलक श्रद्धा-समन्वित ज्ञानाश्रित भक्ति के स्थान पर व्यक्तिगत मधुर भक्ति की प्रतिष्ठा की जिसका एक रूप मर्यादा था, एक प्रपत्ति (आत्मा समर्पण) (३) वल्लभाचार्य का जीवन और उनकी महत्ता (४) वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त (५) पुष्टि मार्ग (६) कृष्ण-काव्य के रूप में वल्लभाचार्य का हिन्दी साहित्य और हिन्दी-प्रदेश की जनता पर प्रभाव।

श्रद्धामूलक और रहस्यमूलक, ज्ञानमूलक भक्ति की परम्परा बहुत प्राचीन है और दास्य भक्ति, सन्तों की भक्ति और सूफ़ियों की भक्ति के रूप में ये तीन प्रकार मध्ययुग के आरम्भ से ही चले आते थे। सूफ़ियों और सन्तों की भक्तिपद्धति वैष्णवों को अग्राह्य थी, अतः उन्होंने दास्यभक्ति के प्रचार में ही विशेष भाग लिया। मध्ययुग के भक्ति आन्दोलन में सूफ़ियों और सन्तों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है, परन्तु वैष्णव भक्ति का स्थान इन दोनों से महत्त्वपूर्ण है। उसने समाज, संस्कृति और साहित्य पर इतना प्रभाव डाला जितना भक्ति के पिछले दो प्रकारों ने नहीं डाला। मध्ययुग में भक्ति का पहला प्रचार रामानुज के मायावाद के विरोध के सिलसिले में हुआ। रामानुज का भक्तिवाद उपनिषदों की उपासना के आगे न बढ़ सका। उनकी भक्ति-साधना में ज्ञान का महत्त्वपूर्ण स्थान था। उनकी भक्ति का

अर्थ था भगवान का चिन्तन और चिन्तन का ज्ञान से निकट का सम्बन्ध है। भक्ति का यह ज्ञानाश्रित रूप केवल द्विजों के लिए उपस्थित किया गया था। शूद्रों के लिए रामानुज ने "प्रपत्ति" की व्यवस्था की थी जिसका अर्थ है ईश्वर पर सर्वथा आश्रित होकर आत्मविस्मरण। इसे "आत्मसमर्पण" कह सकते हैं जिसके विषय में गीताकार ने कहा है--

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहम् त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

स्पष्ट है कि रामानुज की प्रपत्ति और गीता की इस "शरणागति" में कोई भेद नहीं है। रामानुज नारायण और लक्ष्मी को उपास्य मानते थे। उनके बाद वनिंबार्क आये। उन्होंने कृष्ण और राधा को उपास्य माना। उन्होंने द्विजों और शूद्रों के लिए अलग-अलग भक्ति-पद्धतियों की योजना नहीं की। उनकी भक्ति का वही रूप था जो रामानुज के यहाँ "प्रपत्ति" का था—उपास्यदेव के प्रति शरणागति। तद्पश्चात् माधवाचार्य अवतीर्ण हुए जिन्होंने विष्णु के दोनों अवतारों—रामकृष्ण—को उपास्य ठहराया। इन्होंने वैराग्य और नवधा भक्ति का प्रचार किया। श्रद्धामूलक तथा ज्ञानाश्रयी भक्ति की इस परम्परा में अन्तिम आचार्य रामानन्द हुए। इन्होंने शूद्रों को ज्ञानश्रयी कर्मकांडी भक्ति का अधिकारी माना। मूलतः उनके सिद्धान्त वही हैं जो रामानुज के थे, परन्तु वे राम को उपास्य मानते थे। उन्होंने संस्कृत को छोड़कर लोकभाषा को ही प्रचार का माध्यम बनाया और इस तरह उनके द्वारा भक्ति आन्दोलन का रूप अधिक व्यापक हो गया। सारा भारत भक्ति के रंग में रंग गया। शीघ्र ही इसके दो रूप हो गये। एक सनातनी हिन्दू जनता में चलता रहा। दूसरा संतों द्वारा निम्नश्रेणी के लोगों में चला। पहला

कर्मकांडी था। दूसरा कर्मकांड का विरोध करता था। परन्तु दृष्टिकोण दोनों का एक ही था, या प्रायः एक ही था।

अब तक भक्ति का रूप केवल दास्य भावना तक सीमित था और वह श्रद्धासमन्वित और ज्ञानाश्रित थी। वात्सल्य और श्रृंगार को स्थान नहीं मिला था। इस कमी को वल्लभाचार्य और चैतन्य ने पूरा किया। वास्तव में वल्लभाचार्य और चैतन्य से पहले भी व्यक्तिगतरूप से श्रृंगार भक्ति या मधुर भक्ति की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। वल्लभाचार्य और चैतन्य दोनों माधवेन्द्र पुरी के शिष्य थे और उनके साहित्य और जीवन वृत्त के अध्ययन के बाद हम यह कह सकते हैं कि दोनों आचार्यों को श्रृंगारभक्ति का सन्देश उन्हीं से मिला होगा। फलतः वल्लभाचार्य और चैतन्य के सम्प्रदायों में भी बहुत समानता है। अन्तर केवल इतना है कि चैतन्य सम्प्रदाय की भक्ति भावुकताप्रधान है और वल्लभ-कुल सम्प्रदाय की कर्मकांड-प्रधान है। परन्तु श्रृंगारभक्ति को स्वीकार करते हुए भी आचार्य वल्लभ ने अपने भक्तियोग में वात्सल्य को अधिक प्रधानता दी है और "नवनीत कृष्ण" तथा "गोपाल कृष्ण" की पूजाविधि को सम्प्रदाय में महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है।

वल्लभाचार्य तेलंग ब्राह्मण थे। मध्यप्रदेश के चंपारण्य स्थान में उनका जन्म हुआ था। नवजात शिशु को लेकर उनके पिता-माता काशी पहुँचे और वहीं बस गये। वल्लभाचार्य ने छोटी अवस्था में ही माधवेन्द्रपुरी से जो माध्वसम्प्रदाय के अनुयायी थे विद्याध्ययन किया। पिता की मृत्यु के उपरांत वे दक्षिण गए। इस समय उत्तर भारत में लोदी वंश का शासन था परन्तु दक्षिण में विजयनगर का हिन्दूराज्य अपने ऐश्वर्य के शिखर पर था। महाराज कृष्णदेवराय की सभा में भी अनेक

पंडित थे और शास्त्रचर्चा बराबर चलती रहती थी। वल्लभाचार्य ने एक ऐसी सभा में जिसमें महाराज अध्यक्ष थे अद्वैतमतावलंबी पण्डितों को पराजित कर दिया। इसका अत्यन्त व्यापक प्रभाव पड़ा। सारे दक्षिण ने उनके आचार्यत्व को स्वीकार कर लिया। विजयनगर में महाराज के सम्मान की छाया में रह कर ही उन्होंने अपने उन विशिष्ट सिद्धान्तों को निश्चित किया जो शुद्धाद्वैत अथवा पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तों के नाम से प्रसिद्ध हैं। इसके बाद अपने मत के प्रचार के लिए उत्तरखण्ड चले। झारखण्ड में पहुँचकर उन्हें भगवान कृष्ण ने स्वप्न दिया कि मैं गोबर्द्धन पर प्रकट हुआ हूँ, वहाँ जाकर मेरी प्रतिष्ठा करो। वल्लभाचार्य ब्रज आये, वहाँ उन्हें श्रीनाथ जी की प्रसिद्ध मूर्ति गोवर्धन पर मिली। श्रीनाथ जी के प्रादुर्भाव ने ब्रज की जनता को इनकी ओर आकर्षित किया। शीघ्र ही अनेक शिष्य हो गये। वल्लभाचार्य ने गोवर्धन पर एक छोटा-सा मन्दिर बनवा दिया और पूजा का भार शिष्यों पर छोड़ कर वे फिर यात्रा को निकले। तीस वर्ष की आयु तक उन्होंने तीन बार भारत भ्रमण किया और सहस्रों मनुष्यों को अपने मत में दीक्षित किया। तीसरी यात्रा के बाद वे प्रयाग के समीप अड़ैल ग्राम में गृहस्थ के रूप में बस गये। वहीं उनके दो पुत्र हुए। प्रौढ़ावस्था के बाद वे सन्यास आश्रम में दीक्षित हो गए और कुछ समय बाद काशी में स्वर्गस्थ हुए।

वल्लभाचार्य के अनुसार ब्रह्म, जीव और जगत में मूलतः कोई भेद नहीं है, इस दृष्टि से वे अद्वैतवादी हैं। परन्तु ब्रह्म ही जीव और जगत हो केवल माया में आच्छन्न, यह बात नहीं है। शङ्कराचार्य के अद्वैत में माया का स्थान अनिवार्य रूप से आवश्यक हो जाता है क्योंकि वे जीव और जगत को भी ब्रह्म ही मानते हैं। वल्लभाचार्य ब्रह्म, जीव और प्रकृति जगत

के अतिरिक्त किसी चौथे "माया" नाम के तत्त्व को नहीं मानते। उन्होंने मूलतः ब्रह्म, जीव और जगत का अभेद सिद्ध करते हुए भी थोड़ा भेद माना है। ब्रह्म के तीन गुण हैं सत्, चित, आनन्द। जीवात्मा भी ब्रह्म है परन्तु उसमें आनन्द का गुण तिरोहित है, प्रकृति या जगत भी ब्रह्म है परन्तु उसमें आनन्द और सत् गुणों का तिरोभाव है। "आनन्द" गुण प्रकट हो जाने पर जीव ब्रह्म हो जाता है। आचार्य के मत में श्रीकृष्ण परम-ब्रह्म, परम पुरुषोत्तम हैं। उनका विहारस्थल परम बैकुण्ठ या गोलोक है। इसी गोलोक में उन्होंने पृथ्वी के अनेक उपादानों की कल्पना की है। वहाँ वृन्दावन है, यमुना है, लताकुंज हैं, राधा हैं, गोपी-गोपियाँ हैं और परमानन्द श्रीकृष्ण भक्तों के साथ अनन्तविहार में मग्न रहते हैं। भक्त भगवान के इस अनन्तलीला-विहार में साहचर्य प्राप्त करने को ही उच्चतम पद मानता है।

इस पद के प्राप्त करने का साधन जहाँ एक ओर भक्ति है, वहाँ दूसरी ओर भगवान की अनुकम्पा, कृपा या वल्लभाचार्य के शब्दों में "पुष्टि" अर्थात् अनुग्रह। भगवान के अनुग्रह के बिना भक्ति भी प्राप्त नहीं होती, दृष्टिकोण यह है। इसी पुष्टि-भावना के कारण वल्लभाचार्य के मत को "पुष्टिमार्ग" भी कहते हैं।

वल्लभाचार्य के इन दार्शनिक सिद्धान्तों ने धर्म का रूप पाकर मध्यभारत की भक्ति-धारा में क्रांति उपस्थित कर दी। जब कृष्ण आनंदमय हैं तो उनको आनंद के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। वल्लभाचार्य ने कहा—लीला ही मोक्ष है, लीला में भाग लो। इसका फल यह हुआ कि भगवान् की दास्यभाव की उपासना के स्थान पर लीलानंद की प्राप्ति ही मुख्य हो गई।

कृष्णलीला में वात्सल्य, सख्य और शृंगार भागों की प्रधानता थी, अतः भक्त को इन्हीं लीलाओं में आनन्द लेना था। वल्लभाचार्य ने कहा—जिस प्रकार नंद-यशोदा कृष्ण को वात्सल्यभाव से प्रेम करते थे, जिस प्रकार सुबल-सुदामा सखा भाव से उनके साथ छाया की तरह लगे रहते थे, जिस प्रकार गोपियाँ कृष्ण को शृंगार भाव से आत्मसमर्पण कर देती थीं—उसी प्रकार भक्त भी समय-समय पर नंद-यशोदा, सुबल-सुदामा अथवा गोपियाँ बनकर कृष्ण के मिलन और वियोग का अनुभव करे। यह लीला में भाग लेने की प्रक्रिया ही उसे आनंदतत्व में स्थित करेगी। फलतः, पुष्टिमार्ग का भक्त भगवान के आगे "घिघियाता" नहीं (दैन्य नहीं प्रकट करता)। वह भगवान की लीला में भाग लेता हुआ उत्तरोत्तर भगवान की ओर बढ़ता जाता है; इन्द्रियों के सारे व्यापारों में उसे भगवान की लीला का आनन्द मिलता है। सृष्टि उसके लिए कृष्णमय हो जाती है। जहाँ भक्ति के अन्य सम्प्रदायों का कहना था कि भगवान की महत्ता और अपनी क्षुद्रता का अनुभव करो, वहाँ वल्लभाचार्य उसे एकदम भुलाने की बात करते हैं।

राजनीति और राष्ट्रनीति

५४. एकतन्त्र और प्रजातन्त्र

(१) वाल्मीकि के काव्य में "अराजक राष्ट्र" का वर्णन (२) मनु, व्यास और कालिदास में स्वराष्ट्र और राजा (३) बुद्ध के समय के प्रजातन्त्र (४) प्रजातन्त्र की भावना के ह्रास का इतिहास (५) वर्तमान प्रजातन्त्र सिद्धान्त पश्चिम से आया है (६) क्या प्रजातन्त्र सन्भव है ? क्या एकतन्त्र को ही इस प्रकार नहीं गढ़ा जा सकता जिससे वह 'बहु संख्यक जनता" को सुख दे सके (७) रूसो का सिद्धान्त-वाक्य और उसका अर्थ।

राजसत्ता के एकतंत्र-रूप की स्थापना कब से चली आती है, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता, परन्तु मनुष्य ने पहले-पहल राज्य-संचालन का यही ढंग खोज निकाला था। उसने राजा को दैवी शक्तियों से समन्वित माना। वह पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि था। संस्कृत-साहित्य में दो ही प्रकार के राज्यों की कल्पना मिलती है—एक अराजक राज्य, एक राजा द्वारा शासित राज्य। अराजक राज का वर्णन वाल्मीकि ने इस प्रकार किया है—'अराजक राज्य विनाश को प्राप्त हो जाता है। अराजक जनपद में मेघ दिव्यजल से पृथ्वी को नहीं सींचते। अराजक जनपद में बीज की मूठ खेतों में नहीं बिखेरी जाती।

अराजक देश में पुत्र पिता के, स्त्री पति के वशीभूत नहीं रहते। अराजक राष्ट्र में न धन रहता है, न स्त्री। सत्य अराजक स्थान में कहाँ रह सकता है? अराजक देश में मनुष्य सभा नहीं कर पाते, प्रसन्न होकर उद्यान और घर नहीं बनवा सकते। अराजक देश में यज्ञ करने वाले ब्राह्मण व्रत ग्रहण करके सत्रों में नहीं बैठ पाते। अराजक देश में महाशील धनी ब्राह्मण भी महायज्ञों में रत्नों से पूर्ण पूरी दक्षिणा नहीं पाते। अराजक देश में राष्ट्र की वृद्धि करने वाले नट और नर्तकों से युक्त समाज और उत्सव नहीं हो पाते। अराजक देश में व्यवहार करने वालों के मनोरथ पूरे नहीं होते। कथाप्रिय लोग कथा कहने वालों के साथ प्रेम नहीं रखते। अराजक देश में सायंकाल के समय कुमारियाँ स्वर्ण के अलंकार पहन कर उद्यानों में क्रीड़ा के लिये नहीं जा पातीं। अराजक देश में धनी लोग, जो कृषि और गोरक्षा से जीविका करते हैं, सुरक्षित रह कर घर के किवाड़ खोल कर नहीं सो सकते। अराजक देश में, शीघ्रगामी वाहन और यानों पर स्त्री-पुरुष बन में घूमने नहीं जाते। अराजक देश में साठ वर्ष के जवान हाथी घन्टे बाँधकर राजमार्गों पर झूमते हुए नहीं निकलते। अराजक देश में बाण चलाने का अभ्यास करने वाले योद्धाओं का टंकार घोष नहीं सुनाई पड़ता। अराजक देश में दूर की यात्रा करने वाले बणिक् बहुत-सी पण्य-सामग्री लेकर कुशल-पूर्वक मार्गों में नहीं चल सकते। अराजक देश में आत्मा से आत्मा का ध्यान करने वाले, अकेले विचारने वाले, जहाँ साँझ हो, वहीं बसेरा करने वाले मुनि कुशल से नहीं रह पाते। अराजक देश में योग और क्षेम का नाश हो जाता है। अराजक राष्ट्र की सेना शत्रुओं से युद्ध नहीं करती। अराजक देश में अलंकृत मनुष्य प्रसन्न अश्वों और रथों पर चढ़ कर नहीं चल सकते।

अराजक देश में शास्त्र-विशारद मनुष्य बनों और उपवनों में शास्त्र की चिंता करते हुए एक दूसरे से नहीं मिलते। अराजक देश में जितेन्द्रिय पुरुष माला, मिष्ठान्न और दक्षिणा से देवताओं की पूजा नहीं कर सकते। अराजक देश में राजकुमार लोग चंदन और अगुरु से देह सजा कर बसन्त में धान की तरह सुशोभित नहीं होते। जैसे बिना जल के नदी, बिना घास के बन और बिना गोपाल के गाएँ होती हैं, वैसे ही बिना राजा के राष्ट्र होता है। जल में मछलियों के समान एक दूसरे को हड़पने लगते हैं। वर्णाश्रम की मर्यादाएँ जिन्होंने तोड़ दी हैं, उन्हें पहले राजदंड दिया जाता था, वे नास्तिक लोग निडर होकर अराजक राष्ट्र में प्रभावशाली बन जाते हैं। जिस प्रकार शरीर के हित-अहित की प्रवर्तक आँख है, उसी प्रकार राष्ट्र में जो सत्य और धर्म है, उसका प्रवर्तक राजा है। राजा सत्य और धर्म है, राजा कुलीनों का कुल है। राजा माता-पिता और राजा ही हितकारी है। यदि साधु-असाधुओं का पृथक विभाग करने वाला राजा इस लोक में नहीं होता, तो जैसे दिन अन्धकार में विलीन हो जाता है, वैसे ही सब कुछ तम में डूब जाता है।" इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दू मनीषी अराजकता को कितनी घृणा से देखते थे और उनकी स्वराष्ट्र-विषयक कल्पना कितनी उच्च थी। व्यास ने कहा ही है—मृतं राष्ट्रमराजकम् (अराजक राष्ट्र मृत है) कालिदास के समय तक राजा का यह महत्व बना था। "राजा प्रकृति रंगनात्" "राज्ञां प्रजापालनमेवधर्मः" "सपिता पितरस्तोषां केवल जन्महेतवः" "धर्म संरक्षणार्थैव प्रवृत्तिः स्व-राष्ट्र" और राजा विषयक उक्तियों को दुहराया है। हिन्दू समाज में अब तक रामराज्य की भावना कर रही हैं। अभी ३०० वर्ष हुए तुलसीदास ने "सुराज" और "राजा" की महिमा स्थापना की है।

'सुखी प्रजा जिमि पाय सुराजा'
'बाढ़ प्रजा जस पाय सुराजा'
'पालिय प्रजा करम मन बानी'
'जनु सुराज मङ्गल चहुँ ओरा'
'जिमि सुराज खल उद्यम गयऊ'

और हिन्दू कल्पना बार-बार उसकी ओर मुड़ रही है। परन्तु यह न समझना होगा कि प्रजातन्त्र की सत्ता भारत में रही ही नहीं। सिकन्दर ने जब भारतवर्ष पर आक्रमण किया था तो पंजाब में कई प्रजातंत्र राष्ट्र थे। गौतम बुद्ध के समय में वैशाली भी ऐसा प्रजातंत्र राष्ट्र था जिसमें राजपुत्रों का निर्वाचन होता है और कई सहस्र निर्वाचित राज्यपुत्र मिल कर शासन करते थे। हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दू राजनीति में राज-तंत्र की ही महत्ता अधिक थी। परन्तु राजा के लिए स्वेच्छाचार का कोई स्थान नहीं था, अतः हिन्दू राष्ट्र और हिन्दू राजा आजकल के स्वेच्छाचारी "डिक्टेटरों" से भिन्न थे।

प्रजातन्त्र के जिस रूप को हम आज जानते-बूझते हैं, वह पश्चिम से आया है। सामंती युग के बाद राजशक्ति सामंतों और राजाओं के हाथ से निकल कर जनता के हाथ में आ गई, ठीक बात कहें तो जनता के एक विशेष वर्ग के हाथ में जिसे हम अमीर-वर्ग कह सकते हैं। एक ओर फ्रान्सीसी क्रांति के दार्शनिकों, कवियों और रूसो जैसे महान लेखकों ने "साम्य, स्वतंत्रता और बंधुत्व" की आवाज़ उठाई, दूसरी ओर मशीनों के स्वामीत्व ने एक महाजनी सत्ताधार-वर्ग खड़ा कर दिया। धीरे-धीरे एक-तन्त्र शासकों के हाथ से शक्ति निकल कर इन महाजनों या अमीरों के हाथ में पहुँच गई जिनका उत्पादन के साधनों पर स्वत्ताधिकार था। इन्होंने लार्ड्स और कामन्स सभाओं द्वारा

जनता पर शासन किया, जनता के लिए क़ानून बनाए, अपने तन्त्र को प्रजातन्त्र के नाम से चलाया। आज संसार में प्रजातन्त्र के नाम से कितने ही तन्त्र चल रहे हैं परन्तु उनका रूप भिन्न-भिन्न है। इनमें चाहे जो कुछ हो, प्रजातन्त्र के पैग़म्बर बैन्थम (Bentham) का यह सिद्धांत कि "The greatest good of the greatest number" या "बहुसंख्यक जनता का अत्यधिक सुख पहुँच सके, ऐसा शासन हो" चालू नहीं है। शक्ति एक सीमित वर्ग के हाथ में है जो, जैसे इङ्गलैंड और अमेरिका में, व्यापारी वर्ग है और जर्मन और जापान में फौजी वर्ग। जनता के सुख-दुख के साधनों पर नियन्त्रण रखता हुआ यह वर्ग-विशेष अपने हित-अहित पर ही अधिक ध्यान देता है। इसे ही सबसे अधिक सुख है। करोड़ों-करोड़ों जन इसी वर्ग विशेष के बोझ को ढ़ोकर मर रहे हैं। आज संसार भर में जो युद्ध चल रहे हैं, उनमें क्या सचमुच प्रजा की सम्मति है? क्या जनता का हित-अहित सोच कर ही ये युद्ध उठाए गए हैं? ऐसा तो नहीं है। साधारण मनुष्य प्रजनन-कार्य, गृह, कुटुम्ब, खेल-तमाशे, बेटी-पोतों, उत्सवों-त्यौहारों और इसी प्रकार के कामों में आनन्द लेता है। उसका क्षेत्र निर्माण का है। विध्वन्स से उसे कोई मतलब नहीं। परन्तु राष्ट्रनीतियों का आधार ही विध्वन्स है। वहाँ "मत्स्यन्याय" सम्पूर्ण रूप में चरितार्थ रहता है।

क्या प्रजातन्त्र सम्भव है? और एकतन्त्र को ही क्या इस प्रकार नहीं बनाया जा सकता है कि उससे "बहुसंख्यक जनता को अत्यधिक सुख मिले?"

प्रजातन्त्र के आदि गुरु रूसो का एक सिद्धान्त-वाक्य हमारे सामने है—"सच्चा प्रजातन्त्र कभी रहा ही नहीं क्योंकि यह प्रकृति के विरुद्ध है कि जनता की बहुसंख्या, अल्प संख्या पर

शासन करें।" सच तो यह है कि आज के प्रजातन्त्रवादी इसी सिद्धान्त-वाक्य के सत्य पर चल रहे हैं। वास्तव में जनता के हाथ में शक्ति उस समय तक आ ही नहीं सकती जब तक वह उच्चशिक्षा-प्राप्त न हो और उसमें नागरिक भावों का समुचित विकास नहीं हो गया हो। "राजशक्ति जनता के हाथ में हो" इसका अर्थ यह है कि राज्य के जायदाद, व्यवसाय और उपज भी जनता के हाथ में हो? परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है। जहाँ जनतन्त्र के सिद्धांत सब से व्यापक रूप में लागू होते हैं, वहाँ भी जनता के अज्ञान और रूढ़िवादिता के कारण शक्ति वर्गों और दलों के हाथ में सीमित है और समय-समय पर वह उनके हाथ से भी निकल कर व्यक्ति-विशेष के हाथ में आ जाती हैं।

५५. आज अशान्ति क्यों?

(१) भूमिका (२) अशान्ति के कुछ कारण--अनेक क्षेत्रों में असंतुलन (३) आर्थिक क्षेत्र में असंतुलन का इतिहास (४) भौतिकवाद की प्रधानता और उससे हानि (५) पुराण प्रियता—धर्म के नाम पर वगवाद (६) नवीन ज्ञान का अनुपयोग या दुरुपयोग (७) उपसंहार।

आज मनुष्य ने वैज्ञानिक अनुसंधानों में इतनी उन्नति कर ली है और सुख के इतने नये साधन उत्पन्न कर लिए हैं कि हममें से बहुत से वर्तमान परिस्थितियों को देखकर आश्चर्यचकित होकर कह उठते हैं—आखिर यह अशान्ति क्यों? मनुष्य ने यातायात के साधनों को इतना विकसित कर लिया ह कि आज इस सम्बन्ध की पौराणिक कथाएँ पीछे छूट गई हैं। उसने विद्युत को वश में कर लिया है, उसे गृहसेविका और गृहपरिचालिका ही बना लिया है। रोगों से लड़ने के लिये उसके पास ऐसे-ऐसे शस्त्र हैं, ऐसी-ऐसी औषधियाँ हैं कि बेचारे चरकसुश्रुत

और धनवन्तरि होते तो धन्य हो जाते। सारा संसार एक बड़े कुटुम्ब की भाँति हो गया है। फिर दुःख क्यों? अशान्ति क्यों?

मूल रूप में अशान्ति के कुछ थोड़े ही कारण हैं। सबसे प्रधान कारण है अनेक क्षेत्रों में असंतुलन। हम सबसे पहले आर्थिक क्षेत्र को लेंगे। १९वीं शताब्दी में विज्ञान ने मशीनों का आविष्कार किया। उनको पहले कोयले से चलाया गया। फिर विद्युत से। हाथ की कताई-बुनाई, चीरा-फाड़ी का युग गया। सब उद्योग-धन्धे मशीनों के द्वारा होने लगे। इस उन्नति ने जहाँ एक ओर उद्योग-व्यवसायों को केन्द्रीय बना दिया, वहाँ एक ऐसे दल को भी जन्म दिया जिसने मशीनें शीघ्र ही अपने हाथ में कर लीं। यह पूँजीपतियों का दल है। पहले व्यावसायिक शक्ति ही इस दल के हाथ में गई फिर धीरे-धीरे आर्थिक, सामरिक और राष्ट्रीय नीतियाँ भी इसके हाथ में चली गईं। इस दल ने राष्ट्रीयता की भावना को नया रूप दिया। नये बाज़ार ढूँढे जाने लगे। पहले प्रत्येक देश अपनी आवश्यकता के अनुसार ही माल तैयार करता था। अब वही अधिक माल तैयार करने लगा। यह माल कहाँ खपाया जाय? फल यह हुआ अनेक दुर्बल देशों को सभ्य बनाने के दावे के साथ हजम कर लिया गया। उनको राजनैतिक दृष्टि से पंगु कर दिया गया और उनके उद्योग-धन्धे नष्ट करके उनका शोषण करना ही परराष्ट्र नीति के नाम से पुकारा जाने लगा। आज एशिया और अफ्रीका का एक बड़ा भाग गोरी जातियों की सम्पत्ति है। यही नहीं, युरोप और अमरीका के छोटे-छोटे राष्ट्र भी आर्थिक दृष्टि से बड़े राष्ट्रों के गुलाम हैं जो उन्हें अपने माल के लिए बाजार बनाए हुए हैं। बाजारों के लिए प्रतिस्पर्द्धा ने उपनिवेशों के लिए प्रतिस्पर्द्धा उत्पन्न कर दी है और सब बड़े-बड़े राष्ट्र परस्पर शत्रु हो रहे हैं। मशीनें

खाली नहीं बैठ सकतीं। उन्हें काम चाहिए। इसका मतलब है कि माल बनायें। वह कहाँ खपे? जो राष्ट्र बाजारों और उपनिवेशों की दौड़ में पिछड़ गए वे उन राष्ट्रों से ईर्ष्या करते हैं जो पहले पहुँच गए। इसका फल होता है युद्ध। तब ठीक बँटवारा नहीं हुआ तो अब अस्त्र-शस्त्र फैसला करेंगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि विज्ञान ने जिन मशीनों को वरदान रूप उत्पन्न किया था, वे पूँजीवाद को जन्म दे चुकी हैं और पराधीनता, प्रतिस्पर्द्धा और युद्ध के दानव मुक्त हो गए हैं। क्षुद्र राष्ट्रीयता की भावना के मूल में भी यही मशीनें हैं।

परन्तु इन मशीनों से बाहर ही अशांति नहीं हुई है, स्वयं घर में भी अशांति हो गई है। घरेलू उद्योग-धंधे नष्ट हो गए हैं जिसने करोड़ों की रोटियों पर चोट की है। ग्राम नगर का गुलाम है। मशीनों के मालिक पूँजीपति और मशीनों को चलाने वाले वर्ग मजदूरों में तनातनी है। वर्ग-संघर्ष बड़े वेग से चल रहा है। मशीनों की सभ्यता खतरे में है।

दूसरा कारण है भौतिकवाद की प्रधानता। अध्यात्म के नाम मात्र से लोग चिढ़ते हैं। जिस सभ्यता में अर्थ ही सब कुछ हो गया है, वहाँ आत्मा-परमात्मा की बात कौन चलाए? "कस्त्वं कोऽहम्" ऊँचे दर्जे के प्रश्न हैं। इसे आज का भौतिकवादी मनुष्य नहीं मानता, परन्तु वह माने या न माने, इतना जरूर है कि आज पेट भरा नहीं है, अतः ये आज के प्रश्न नहीं रह गए। अर्थ-संघर्ष ने नैतिकता को समाप्त कर दिया। जीना सब चाहते हैं परन्तु जीने के साधन सब के पास एक समान प्रस्तुत नहीं। अतः छीना-झपटी है। इस ले-दे में मानवता के लिए स्थान कहाँ, सहृदयता के लिए जगह कहाँ? उपनिषदों ने कहा है—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यक् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्

अर्थात् सत्य, तप, सात्विक ज्ञान और नित्य निर्विकार रहने से आत्मतत्त्व का दर्शन हो सकता है। आत्मतत्त्व का दर्शन भले ही नहीं हो, इसमें कुछ सन्देह नहीं, सत्य, तप, सात्विक ज्ञान और निर्विकार रहने से शांति अवश्य मिलती है। इस कलियुग में सत्य कहाँ रह गया, तप कहाँ रह गया, सात्विक ज्ञान किसे प्राप्त है और निर्विकार कौन रह सकता है। विज्ञान ने मनुष्य को सृष्टि के रहस्य के परिचित कराया, परन्तु ज्ञान के साथ उदय हुई अश्रद्धा। श्रद्धा आत्म-विश्वास को जन्म देती है। अश्रद्धा से आत्म-विश्वास की हानि होती है। फलतः आज हम श्रद्धा और विश्वास से दूर जा पड़े हैं और अशांति के मरुस्थल में मरीचिका के पीछे दौड़ रहे हैं।

तीसरा कारण है हमारी पुराण-प्रियता। समय बदल गया है, मनुष्य नहीं बदला है। विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य-मनुष्य समान हैं, वर्गहीन चेतना के अंश मात्र है, परन्तु समाज और धर्म के नाम पर वर्ग चल रहे हैं। रोमन, केथोलिक, प्रोटेस्टेंट, हिन्दू, पारसी, मुसलसान, बौद्ध, जैन—ऐसे कितने ही असंख्य सम्प्रदाय अपनी डेढ़-डेढ़ ईंट की मस्जिदें अलग-अलग खड़ी किए हैं। विज्ञान मनुष्य-मनुष्य को पास लाता है, पुराने धर्मसंस्कार उन्हें अलग-अलग कर देते हैं। धर्म के नाम पर साम्प्रदायिक दंगे होते हैं, हत्याएँ होती हैं। सच बात तो यह है ज्ञान आगे बढ़ गया है, हृदय पीछे छूट गया है। उसने न जाने कितने उपद्रव मचा रखे हैं। यह भी कह सकते हैं कि ज्ञान जहाँ पहुँचना चाहिए वहाँ पहुँचा नहीं। ज्ञान के वितरण में विषमता है। संसार की अस्सी-नब्बे प्रतिशत जनता लगभग "निरक्षर भट्टाचार्य" है। फिर शांति कहाँ से हो? विज्ञान ने सांसारिक सुखों के साधनों में वृद्धि कर दी है। उसे धर्म का विरोधी

समझा जाता है। प्राचीन विश्वास दूर हो गए हैं। नए विश्वासों ने जन्म नहीं लिया है। यह अनिश्चितता का युग है। अविश्वास का युग है। जिन आध्यात्मिक गुणों को हमारे पूर्वज उपादेय समझते थे, ग्राह्य समझते थे उनकी खिल्ली उड़ाई जाती है। दया, क्षमा, सत्य, अहिंसा, अतिथि सेवा, दुख-कातरता ये सब आध्यात्मिक गुण लोप हो गए हैं। आज न संतोष है, न शांति। जहाँ सब लोग अधिक से अधिक सांसारिक सुखों के साधन में लगेंगे, वहाँ दुःख और अशांति ही होनी चाहिये, सुख कहाँ ?

चौथा कारण है नवीन ज्ञान का अनुपयोग या दुरुपयोग। विज्ञान के सुखों को हम स्वीकार करते हैं, परन्तु वैज्ञानिक दृष्टिकोण हमें अग्राह्य है। भौतिकवादी बनते हैं, परन्तु धर्म के ढोंगों के ऊपर नहीं उठ पाते। हम मनोविज्ञान के पंडित हैं परन्तु हमने स्वयम् अपने को न समझने का हठ कर लिया है। हम रह रहे हैं विज्ञान की २०वीं शताब्दी में और सोच रहे हैं अठारहवीं शताब्दी की बात। वही रूढ़िवादिता, वही धर्मांधता, वही संकीर्णता। यह "कथनी-करनी", ज्ञान-कर्म का असामञ्जस्य हमारे वर्तमान दुखों को कई गुना बढ़ा रहा है। नए ज्ञान के प्रकाश ने जिस सत्य को उद्घाटित किया है उसकी ओर हम खास चीज़ है। विचारों की विभिन्नता विकास का द्योतक है, परन्तु हमारे यहाँ मतभेद झगड़े उत्पन्न करता है। उदाहरण के लिये, राजनैतिक क्षेत्र में एकतन्त्रवाद, साम्यवाद, प्रजातन्त्रवाद की कई कल्पनाएँ--कितने ही विचार चल रहे हैं परन्तु उन विचारों को एक-एक दल पकड़ कर, अपने स्वार्थ से मिला कर बैठ गया है। उसे लेकर वह अन्य दल को जिहाद (धार्मिक युद्ध) के लिए ललकारता है। जहाँ जनता का राज्य कहा जाता

है, वहाँ भी शक्ति जनता के विकास का ठेका अपने ऊपर लेकर डिक्टेटरों को ललकारते हैं। राष्ट्र-राष्ट्र, जाति-जाति, वर्ग-वर्ग अपना दल समेट-समेट कर बैठते हैं और दूसरे दल को संदेह की दृष्टि से देखते हैं। जनता का अरबों, पद्मों रुपया सामरिक अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण में लग जाता है। यह निःसन्देह ही कभी युद्ध का रूप पकड़ सकता है। फूस तैयार है। चिनगारी चाहिये।

तृतीय महायुद्ध और उसे दूर करने के उपाय

(१) प्रस्तावना। (२) शांति स्थापन के प्रयास ऊपरी हैं। (३) युद्ध के कारण। (४) दूर करने के उपाय। (५) स्थायी शांति स्थापना की संभावना और युक्ति।

द्वितीय महायुद्ध का शव संस्कार अभी पूर्णतः हुआ भी नहीं था कि तृतीय महायुद्ध के प्रलयंकर बादल क्षितिज पर मँडराने लगे। युद्ध के कारण थके राष्ट्र अभी दम भी नहीं ले पाये थे कि नवीन युद्ध की तैयारी में गरीबों की रोटी काटकर बचाया गया पैसा पानी की तरह बहाया जाने लगा। और आज कोरिया, काश्मीर या ईरान में जो दृश्य दिखलाई दे रहे हैं, निस्संदेह वे तृतीय महायुद्ध की भूमिका हैं।

आश्चर्य तो यह होता है कि प्रत्येक युद्ध के बाद शांति स्थापन के लिए सभी राष्ट्र पूरा प्रयास करते हैं और फिर भी युद्ध आरंभ हो जाता है। प्रथम महायुद्ध के बाद शांति स्थापन के लिए लीग ऑव नेशन्स की स्थापना हुई, और उस स्थापना के साथ ही साथ असंतोष, संघर्ष एवं घृणा की आग सुलगने लगी जो १९३९ में भड़क कर द्वितीय महायुद्ध बन गई। द्वितीय महायुद्ध के बाद शांति के लिए संयुक्त राष्ट्र का संगठन किया गया है पर फिर आग सुलगने लगी है और कहा नहीं जा सकता कि किस क्षण यह भड़क उठे। यहाँ स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि सभी राष्ट्र शांति चाहते हैं तो यह आग कैसे भड़क उठती है?

इस प्रश्न के उत्तर में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि यदि किसी काम को करने वाले ही उसे न करना चाहें तो वह काम कैसे हो सकता है? और यदि सचमुच वह काम हो जाता है तो इसका अर्थ यही है कि करने वाले केवल ऊपर से उसे नहीं करना चाहते हैं; और भीतर से कुछ और ही सोचते हैं। युद्ध के संबंध में ठीक यही बात है। एक ओर तो शांति के लिए संस्थाएँ बन रही हैं, पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं और भाषण दिए जा रहे हैं और दूसरी ओर इन कामों के साथ ही साथ ये ही संस्था बनाने वाले, पुस्तकें लिखने वाले तथा भाषण देने वाले युद्ध की तैयारियों में व्यस्त हैं। एक ओर तो अणुबम को रोकने के लिए प्रयास किया जा रहा है और दूसरी ओर हाइड्रोजन बम, डेथडस्ट, डेथ क्लाउड आदि बनाने की होड़ लगी है। क्या यही शांति-स्थापन का प्रयास है?

यदि युद्ध के कारणों पर विचार करें तो प्रधानतः दो ही बातें दिखाई पड़ती हैं। जहाँ तक तैयारी का प्रश्न है, भय ही इस का मूल कारण है। शांति के प्रयत्न में तल्लीन अमेरिका इसलिए युद्ध की तैयारी कर रहा है और इसलिए पूर्व देशों को रुपए देकर युद्ध के लिए तत्पर कर रहा है कि उसे रूस से भय है। यही भय की भावना रूस में भी काम कर रही है। आगे यही बात ब्रिटेन या फ्रांस आदि के भी विषय में भी सत्य है। यह तो रही तैयारी की बात। दूसरी ओर जहाँ तक युद्ध लड़ने का प्रश्न है, सैद्धांतिक विरोध ही सबसे बड़ा कारण है। द्वितीय महायुद्ध में अमेरिका और रूस जर्मनी और जापान को हराने के लिए एक साथ खड़े हुए थे। युद्ध के बाद फिर वे दोनों अलग हो गए और आज दोनों के सिद्धांतों में जमीन आसमान का अन्तर है। अपने सिद्धांतों की रक्षा द्वारा अपने व्यक्तित्व एवं राष्ट्र की रक्षा के आगे आज बाजार (market) पाने (capture) का प्रश्न

भी धुँधला पड़ गया है। इन दोनों बातों के मूल में यदि हम जाने की कोशिश करें तो यह बहुत स्पष्ट है कि आगामी युद्ध मूलतः पूँजीवाद और साम्यवादी दो सिद्धांतों का है, या दूसरे शब्दों में धनिकों और दीनों का है। इसका अर्थ यह नहीं कि अमेरिका धनी है और रूस उससे गरीब है। बल्कि आशय यह है कि दोनों दो वर्गों के प्रतीक हैं और इस प्रकार यह आगामी युद्ध वर्ग-संघर्ष या श्रेणी-संघर्ष का ही विराट् रूप है।

कारणों पर विचार कर लेने पर उसे दूर करने की युक्तियों पर प्रकाश डाला जा सकता है। कटुता या कटु सत्य की ओर से थोड़ी देर के लिए यदि हम आँख मूँद लें तो यह कहना अनुचित न होगा कि लोहे से लोहा कटता है और इस आधार पर यह संभव है कि इस बार रूस विजयी हो और संभवतः पूरा विश्व साम्यवादी हो जाय। यदि ऐसा हुआ तो संभव है कि इस तृतीय युद्ध के बाद फिर संघर्ष का वातावरण समाप्त हो जाय। इसके विरुद्ध यदि इस युद्ध से भी हम बचना चाहें और चाहते हैं तो सबसे पहले आपसी भय से हमें छुटकारा पाना पड़ेगा। इसके लिए एक मंगलमय विश्वास की आवश्यकता है। यह कार्य आसान नहीं है पर यदि सभी राष्ट्र इस पर तुल जायँ तो इसकी प्राप्ति असंभव भी नहीं। इसके साथ ही दूसरी बात सैद्धांतिक विरोधों के बारे में है। सिद्धांत की दृष्टि से पूर्ण समझौता भी बहुत आवश्यक है। बिना इसके शाश्वत शांति नहीं आ सकती। सैद्धांतिक समझौते के बाद आर्थिक दृष्टि से संतुलन की आवश्यकता होगी। जब तक राष्ट्रों में अपने तैयार सामान बेचने की लालसा रहेगी और उसके लिए बाजार चाहेंगे, हार्दिक भाईचारे का आना असंभव है। इस दृष्टि से रूस हम लोगों के श्रद्धा का पात्र है। वहाँ प्रायः प्रत्येक सामान उतनी ही मात्रा में

बनता है जितनी देश को आवश्यकता है। इसी प्रकार यदि सभी राष्ट्र करें तो कितना अच्छा हो। यहाँ एक अड़चन अवश्य है कि जन-संख्या की वृद्धि के कारण दूसरे देश का अन्न-धन छीनना आवश्यक हो जाता है। और बहुत से राष्ट्र यदि बाहर का न छीनें तो उनकी जनता मरने लगे। प्रसंग वश यहाँ यह भी कहना अनुचित न होगा कि जन संख्यावृद्धि भी यथार्थतः आधुनिक युद्धों का बहुत बड़ा कारण है। इसके लिए संतति निरोध की शरण ही एक मात्र रामवाण है। यदि सभी देश चाहें तो संतति विरोध द्वारा अपनी जनसंख्या १०-२० वर्ष में उतनी कर सकते हैं जितनी के लिए अपने देश में पर्याप्त सुख सुविधा तथा अन्न-वस्त्र मिल सके। ऐसी अवस्था में भी दो राष्ट्रों के स्वार्थों के टकराने की बहुत कम आशंका रहेगी। और इस प्रकार जन-संख्या नियमन और आर्थिक संतुलन के बाद लड़ने के लिए कोई कारण ही नहीं रह जायगा।

संघर्ष को सर्वदा के लिए समाप्त करने के लिए अंतिम बात के रूप में कुछ और भी कहा जा सकता है। यदि संपूर्ण विश्व को एक राष्ट्र बना दें। संपूर्ण विश्व के लिए एक भाषा हो जाय, और सारा विश्व किसी एक धर्म (मानव धर्म) को मानने लगे, तो निस्संदेह किसी भी प्रकार विश्वव्यापी संघर्ष की संभावना न रहेगी। अभी तो ये सभी बातें स्वप्न के समीप हैं, पर नई पीढ़ी के लोगों में यदि नैतिक शक्ति रही और शुद्ध बुद्धि से लोगों ने मंगलमय भावना के साथ युद्ध के प्रश्न पर विचार किया तो संभव है उपर्युक्त बातें सबको मान्य हो जायँ और सारा संसार एक प्रेमरूप में बँधे परिवार की भाँति रहने लगे जिसमें एक मनुष्य के दुख में सब मनुष्य दुखी हों और एक के सुख में सब सुखी।

समाज

५६. समाज पर कविता का प्रभाव

(१) भूमिका (२) किसी समाज पर कविता का कितना प्रभाव है, यह आँकना कठिन है (३) हमारे समाज में कवि की प्रतिष्ठा और उसका प्रभाव (४) इस प्रभाव का रूप—रसोद्रेक और रसानुभूति द्वारा भावों का परिमार्जन (५) हमारे कवियों की कविता और उसका जन-समाज पर निश्चित प्रभाव (६) उपसंहार ।

समाज पर कविता का प्रभाव आँकना बड़ा कठिन कार्य है । निश्चय ही यह वैसा काम नहीं है जैसा जन-संख्या के आँकड़े तैयार करना । समाज पर साहित्य का क्या प्रभाव पड़ता है, कितना प्रभाव पड़ सकता है, किन परिस्थितियों में प्रभाव अधिक पड़ता है, किनमें कम, इन महत्वपूर्ण बातों का अनुसंधान नहीं हुआ है । ऐसी दशा में निश्चय रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता, वस्तु-स्थिति की एक रूप रेखा मात्र बनाई जा सकती है ।

समाज व्यक्तियों का समूह है । प्रत्येक समाज के व्यक्ति पाठ्य-पुस्तकों में और मनोरंजन के रूप में कविता पढ़ते भी हैं । अतः व्यक्तियों पर और उनके द्वारा समाज पर कविता का प्रभाव पड़ना आवश्यक है । परन्तु कठिनाई यह है कि उस प्रभाव की दिशा क्या है, मात्रा क्या है, कहाँ उस प्रभाव को ढूँढा जाय । अपने साहित्य और देश की बात तो हम समझते हैं और उससे

हम यह निष्कर्ष निकालने के लिए स्वतन्त्र हैं कि हमारे देश की जनता भाव-प्रवण है, अधिक भौतिक नहीं है, उस पर काव्य का प्रभाव निश्चित रूप से पड़ा है। अब भी पड़ता है, परन्तु व्यापक रूप से यह कहना कठिन है कि विलायती समाज पर भी कविता का प्रभाव पड़ता है क्योंकि वहाँ कविता की अपेक्षा उपन्यास-कहानियाँ अधिक पढ़ी जाती हैं। विलायती समाज इतना भाव-प्रवण भी नहीं है जितना हमारा समाज।

हमारे समाज में कवि और काव्य की प्रतिष्ठा इतिहास-पूर्वकाल से चली आती है। वेद, उपनिषद्, पुराण, धर्मशास्त्र, महाभारत और रामायण जैसे महाकाव्य और गीता जैसे श्रेष्ठ दर्शन-ग्रन्थ कविता के रूप में ही हमारे सामने आए। हमारी धर्मप्राण जनता में आज भी इन ग्रन्थों का इतना महत्त्व है जितना अन्य ग्रन्थों का नहीं। वास्तव में जनता का एक बड़ा भाग काव्य के रूप में किसी समय में इन्हीं ग्रन्थों को जानता-मानता था। परन्तु यह कहना कठिन नहीं है कि इन ग्रन्थों का प्रभाव समाज पर काव्य-तत्त्वों के कारण नहीं पड़ा, वरन् इनके विषय के कारण। हमारे मनीषियों में अपनी धर्मभावना और तत्त्वचिन्ता को काव्य के माध्यम में प्रगट किया और जनता ने उन्हें स्वीकार किया। पुराण और महाकाव्यों में रस की मात्रा भी पर्याप्त थी और उसमें जनता को आकर्षित करने की शक्ति थी। साधारण जनता तक यही दो अधिक पहुँचे और उनके काव्य-तत्त्व ने भी समाज पर उतना ही प्रभाव डाला जितना धर्म तत्त्व ने। जैसे जैसे समय बीतता गया, समाज ने उसके काव्य-तत्त्व और धर्मचिन्तन को आत्मसात कर लिया। आज समाज रामायण और महाभारत की कथा से बहुत कुछ पा गया है, परन्तु राम, सीता, लक्ष्मण, हनुमान और भरत के आदर्श और कृष्ण-सुदामा की मित्रता जैसे आदर्शों के प्रति श्रद्धा और उन आदर्शों को

जीवन में उतारने की भावना के सिवा निश्चित रूप से और क्या मिला है, यह कहना कठिन है। हाँ, रामभक्ति और कृष्ण-भक्ति मिली है; अवतार-पूजा मिली है, पूर्वजों के गौरवगान से जो बल मिलता है वह बल मिला है, परन्तु इन सबको कविता के रस से किस प्रकार सम्बन्धित किया जाय।

कविता की एक ही विशेषता है जो उतनी मात्रा में साहित्य के और किसी भी अंग में नहीं है। वह विशेषता है रसोद्रेक और रसानुभूति द्वारा भावों का परिमार्जन। कविता जब जिह्वा से उतर कर आत्मा के साथ हिलमिल जाती है तब वह भाव-संसार में क्रान्ति कर देती है। कठोर हृदय कोमल हो जाता है। चट्टान से रस के स्रोत बहने लगते हैं। भवभूति के उत्तर रामचरित के पाठ के बाद किसका हृदय द्रवित न होगा? सूरदास के बालक कृष्ण के बाल-विनोद से परिचित पाठक प्रत्येक बालक के प्रति वात्सल्यभाव रखेगा, उसके उठने-बैठने, गिरने-पड़ने का ध्यान रखेगा। बालक का हास उसके हृदयतन्त्री के तारों को झंकार देगा। उसका कष्ट उसे रुला देगा। यही काव्य की सार्थकता है। आज भी आल्हा-ऊदल की युद्धवार्त्ता भारतीय हृदयतन्त्री को गर्व, गौरव और उत्साह से भर देती है। अल्हैत के स्वर के साथ वीरभाव आँखों में झूलने लगता है। कम-से-कम कबीर, सूरदास, तुलसीदास और जगनिक के काव्य के सम्बन्ध में यह अवश्य कह सकते हैं कि उन्होंने भिन्न-भिन्न प्रकार से भारतीय समाज की अनुभूति और धारणा को विकसित किया है और आज दिन भी समाज पर उनका अमिट प्रभाव है। समाज की वैराग्य-भावना दरिद्रता में उच्चता की कल्पना, संसार की नश्वरता, वात्सल्य और शृङ्गार, भक्ति, आदर्श प्रेम और वीर-भावना आज भी इन्हीं कवियों के सहारे खड़ी है।

परन्तु जैसा हम पहले कह चुके हैं काव्य के प्रभाव की परीक्षा

अभी नहीं हुई है। अब हम यह भी नहीं समझते कि व्यक्ति के निर्माण में काव्य का कितना हाथ रह सकता है और हम किस प्रकार व्यक्तित्व के निर्माण में कविता से सहारा ले सकते हैं। समाज तो अभी दूर है। इसमें कुछ सन्देह नहीं कि कविता ने सहस्रों को ऊपर उठाया है, सहस्रों को जीवन-ज्योति प्रदान की है, परन्तु कविता के विषय का इनमें कितना महत्त्व रहा है, कविता की आत्म-रस-का कितना हाथ था, यह आँकना नहीं हो सका है।

५७. भक्ति और समाज

(१) भूमिका (२) भक्ति की परिभाषा—भक्ति वैयक्तिक साधना है (३) भक्ति में सामाजिक गुणों का संग्रह—शील, सदाचार, सन्तोष, अनासक्ति, परहित साधन, मिष्ठ भाषण, भावहीनता समबुद्धि (४) वैष्णव भक्ति धारा का समाज पर प्रभाव—सहिष्णुता, अहिंसा, आंतरिक स्वच्छता पर बल (५) भक्ति साहित्य पर लांच्छन और उसका उत्तर (६) उपसंहार।

हमारे देश में लगभग १००० वर्ष तक भक्ति की धारा अनेक आवर्त्तो-विवर्त्तों में हो कर बही है और उसका और समाज का सम्बन्ध इतना अधिक रहा है कि यह असम्भव है कि उसने समाज पर प्रभाव न डाला हो। यहाँ भक्ति और समाज के सम्बन्ध को जानना ही उद्देश्य है, अतः इस ऐतिहासिक भूमिका को सामने रखने की आवश्यकता भी है। यदि अति कौर समाज के सम्बन्ध में कहीं निश्चयपूर्वक कुछ कहा जा सकेगा तो हमारे ही देश में कहा जा सकेगा जहाँ दस शताब्दियों तक भक्तों और उनके प्रभाव की परम्परा चली आती रही है।

मूलतः भक्ति वैयक्तिक साधना है। वह उपासक के साथ

इष्टदेव का ऐसा सम्बन्ध है जिसे उपासक किसी भी माध्यम के बिना स्वतः स्थापित करता है। समाज म मनुष्य-मनुष्य का कोई-न कोई सम्बन्ध है। भक्ति के क्षेत्र में प्रारम्भिकरूप से इस प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं। प्रत्येक भक्त भक्ति की साधना अपने ढंग से करता है और अपनी साधना में वह जितना सफल होता जाता है उतना ही वह समाज से दूर होता जाता है और भगवान के निकट पहुँचता जाता है। परन्तु इस वैयक्तिक साधना से समाज का दूर का भी कोई सम्बन्ध हो सकता है या नहीं, यही देखना है। इसके लिए पहले हमें भक्ति की मूलगत विशेषताओं पर प्रकाश डालना होगा।

भक्ति की पहली सीढ़ी है शील और सदाचार का संग्रह। भक्त का प्रत्येक क्षण इस प्रयत्न में जाता है कि वह भगवत् कृपा का अधिकारी हो। तुलसी की भाँति वह भी सोचता है—

कबहुँ हौं यहि रहनि रहौंगो !

श्री रघुनाथ-कृपालु कृपा तें संतसुभाव गहौंगो ॥
यथा लाभ संतोष सदा, काहू सौं कछु न चहौंगो।
परहित-निरत तिरन्तर मन क्रम बचन नेव निबहौंगे ॥
पुरुष बचन अति दुसह श्रवण सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
बिगत मान, सम सीतल मन, पर गुन, नहि दोख कहौंगो ॥
परिहरि देह-जनित चिंता दुख-सुख समबुद्धि सहौंगो।
"तुलसीदास" प्रभु यहि पथ रहि अविचल हरिभक्त लहौंगो ॥

इस शील और सदाचार की साधना में अनेक सामाजिक गुणों का संग्रह आप ही हो जाता है। भक्त को कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता। संतस्वभाव के अन्तर्गत सब कुछ आ जाता है—संतोष, अनासक्ति, परहित-साधन, मिष्ठभाषण, मानहीनता, समबुद्धि। यही गुण हैं जिन्हें हम समाज के लिए हितकर

समझते हैं। फिर हम कैसे कह सकते हैं कि भक्ति की धारा ने समाज को हानि पहुँचाई। क्या भक्तों के इन उपादेय गुणों ने समाज के प्रतिदिन के वातावरण को प्रकाश से न भरा होगा? क्या भक्तों का जीवन ही इस बात का प्रमाण नहीं है कि श्रेष्ठ व्यक्तिगत गुण कालांतर में सारे समाज को पहुँच जाते हैं?

वास्तव में वैष्णवभक्ति की धारा ने समाज को कई प्रकार से शुद्ध किया है। जिन्होंने वैष्णव आन्दोलन के इतिहास का अध्ययन किया है, वे यह जानते हैं कि वैष्णव धर्म हिंसा के विरोध में ही उठा था। अतः समाज को मन, वचन, कर्म से अहिंसक बनाने का प्रयत्न वैष्णव-धर्म ने ही किया। यदि बुद्धि के समय में उठी हुई यह अहिंसा की लहर वैष्णव धर्म के द्वारा हम तक न पहुँची होती आज हम महात्मा गांधी के अहिंसात्मक आन्दोलनों को एकदम असफल या अव्यवहारिक पाते। वैष्णव धर्म ने जनता की आत्मा को ईश्वर-विश्वास से दृढ़ किया, उसने भक्ति द्वारा समाज के हृदय का परिष्कार किया, उसने व्यक्तिगत आचरण पर बल देकर समाज में सदाचार की प्रतिष्ठा की।

जब हम भक्तों और समाज में सम्बन्ध जोड़ने बैठते हैं तो अजीब-अजीब बातें कहने लगते हैं। क्या भक्तों का समाज से कोई सम्बन्ध भी है? भक्त समाज में हैं ही कहाँ? उनका साहित्य पराजय, आत्मप्रतारण और अन्धविश्वास का साहित्य है? भक्तों ने ईश्वरावतार का भुलावा देकर हमें शताब्दियों तक मुसलमानों का गुलाम बनाये रखा? उन्होंने पाखंड और परलोकवाद को आश्रय दिया। उन्होंने व्यक्तित्व के परिष्कार पर बल देकर समाजत्व की उपेक्षा कराई। भक्तकाव्य पलायवादी साहित्य है। इस प्रकार के भ्रामक विचार आज हममें घर किये हुए हैं। बस, विचारों को ही सब कुछ मान बैठने वाले लोग यह नहीं जानते कि समाज एक व्यापक वस्तु है और उसमें वानप्रस्थ

और संन्यास आश्रमों में रहने वाले मनुष्यों का भी स्थान है। वानप्रस्थी और सन्यासी भी समाज के सदस्य हैं और इस पर प्रभाव डलते हैं। भक्त तो समाज में रह कर जीविका चलाते थे या समाज को ही अपना कर्म-क्षेत्र बनाये हुए थे। संतों (कबीर, दादू, नानक प्रभृति निर्गुणवादी भक्तों) ने तो अपना अपना व्यवसाय और लौकिक व्यवहार भी पूर्णतया बनाये रखा। वे बराबर समाज के सदस्य, गृहस्थ, रहे। कृष्णभक्तों का सम्बन्ध बड़े बड़े मन्दिरों से थे जहाँ जनता उनके गान-कीर्तन-उपदेश को सुनने के लिए प्रतिदिन उपस्थित होती थी। वस्तुतः मन्दिर ही मध्ययुग में समाज के केन्द्र हो रहे थे और जनता को वहीं से धर्म ज्ञान के संदेश मिलते थे। इस प्रकार राजशक्ति खोकर हिन्दू जाति और हिन्दू समाज वृन्दावन मथुरा के कृष्ण-मन्दिरों, अयोध्या के राम-मन्दिरों और काशी के मन्दिरों एवं पंडितों के निवासस्थानों में केन्द्रित हो गये थे। इन्हीं केन्द्रों से भक्ति का सदेश समाज तक पहुँचा और उसने समाज को आध्यात्मिक नैतिक कितने ही अमूल्य संदेश दिये एवं उसकी स्थिति को डाँवाडोल होने से बचा लिया।

५८. नाटक और समाज

(१) नाटक और समाज का अनन्याश्रित सम्बन्ध (२) नाटक के आरम्भ और विकास का इतिहास समाज के विकास का ही इतिहास है (३) भारतीय समाज पर संस्कृत नाटक का प्रभाव—साहित्य की विशेषताओं की उत्तरोत्तर वृद्धि के कारण नाटक समाज से दूर हो गया (४) नाटक और समाज के तीन प्रकार के सम्बन्ध—मनोरंजन, प्रचार, सुधार (५) व्यक्ति पर नाटक का प्रभाव।

नाटक और समाज का अनन्याश्रित सम्बन्ध है। समाज के बिना नाटक की अवस्थिति असम्भव है और नाटक समाज

के सदास्यों के सामने आये बिना नाटक नहीं बन सकता। सहित्य का कोई अंग समाज पर इतना आश्रित नहीं है जितना नाटक। उपन्यास, कविता, कहानी इनका समाज से कोई इस प्रकार का सीधा सम्बन्ध नहीं है जितना रंगमंच के द्वारा नाटक का। उपन्यास, कविता और कहानी शब्द-काव्य या पाठ्य-काव्य के अंतर्गत आते हैं। नाटक दृश्य काव्य है। इसके लिए प्रेक्षक के रूप में समाज की उपस्थिति आवश्यक है। नाटककार समाज को सम्बोधन करता है, उसका ही भाषा का प्रयोग करता है, प्रत्येक प्रकार यही चेष्टा करता है कि प्रेक्षक के लिए वह सुगम हो, उसके साहित्य के रक्त, मांस मज्जा सब चारों ओर के सामाजिक उपादानों से इकट्ठे किए जाते हैं। यही नहीं, उसके पात्र नाट्य करते हुए अपने को प्रेक्षकों से अभिन्न सिद्ध कर दें, तभी वह सफल कहलाता है।

इस बात को नाटककारों और नाट्यशास्त्र के आचार्यों ने बहुत पहले से समझ लिया था। वस्तुतः नाटक के आरम्भ और विकास का इतिहास समाज के विकास का ही इतिहास है। प्रारम्भिक नाटक उस समय लिखे गये जब समाज धर्म पर आश्रित था और उन्होंने समाज में धर्म-भावना के प्रचार का काम किया। यात्रा, स्वांग, रामलीला आदि के रूप में हमारे यहाँ धार्मिक भावना को प्रदर्शित एवं दृढ़ करने वाले नाटक आज भी हमारे बीच में चल रहे हैं। समाज को उन्होंने कितना प्रभावित किया है, यह उनकी लोक-प्रियता से जाना जा सकता है। सच तो यह कि प्राचीन भारत और प्राचीन यूनान में नाट्य का जन्म धर्मकृत्यों के अवसरों पर ही हुआ और उपरांत उन्होंने समाज के नीति और धर्म-सम्बधी भावों पर बड़ा प्रभाव डाला।

परन्तु कुछ दिनों बाद नाटक का महत्व केवल शास्त्रीय ही रह गया। जनता में धर्म-प्राण स्वांग, यात्रा प्रभृति चीजें चलती

रहीं, परन्तु ऊपर की जनता में नाटक साहित्य की वस्तु हो गया। परन्तु उस समय भी उसका अभिनय होता था और वह उच्च-वर्गीय-जनता को, जो प्रेक्षकों के रूप में उपस्थिति होती थी, प्रभावित करता था। यह अवश्य है कि उसका क्षेत्र सीमित हो गया था। उसमें साहित्य की ऊँची विशेषताओं की प्रतिष्ठा हो गई थी और वह अधिक प्रभावोत्पादक भी हो गया। मध्ययुग में यूरोप में एकबार फिर नाटक और जनता का सम्बन्ध स्थापित हुआ और जनता को शेक्सपियर जैसा बड़ा कलाकार मिला। तबसे अब तक मौलियर और इब्सन प्रभृवि पाश्चात्य नाटककारों के माध्यम से नाटक साहित्य के ऊँचे भावों की रक्षा करते हुए भी साधारण जनता की ओर ही अग्रसर होता गया है। आज नाटक बहुत कुछ समाज की अत्यन्त निकट की वस्तु है। सिनेमा के रूप में उसका प्रभाव लक्ष-लक्ष मनुष्यों पर पड़ रहा है और समाज का मनोरंजन ही नही बनना और बिगड़ना भी उसके हाथ में है।

यदि हम अब तक के नाटक और समाज के सम्बन्ध का विश्लेषण करें तो हमें तीन प्रकार के सम्बन्ध दिखलाई पड़ेंगे। पहला सम्बन्ध मनोरंजन का है। यही सम्बन्ध सबसे महत्वपूर्ण है। नाटक को समाज ने मुख्यतः सदैव ही मनोरंजन के रूप में देखा है, धर्म-प्रचार, समाज-सुधार आदि गौण रहे हैं। आज भी प्रेक्षक नाट्य-भावना में केवल मनोरंजन के उद्देश्य से जाता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि नाटककार केवल शुद्ध मनोरंजन तक ही अपनी दृष्टि को सीमित रखे। इसी से बहुत पहले से नाटक और समाज का एक दूसरे प्रकार का भी सम्बन्ध रहा है। वह है धर्म, नीति अथवा आदर्श के प्रचार का। अधिकांश प्राचीन नाटकों की सामग्री धर्म अथवा नीति के क्षेत्रों से ली गई है। आधुनिक काल में इब्सन, बर्नार्ड शॉ, मौलियर जैसे नाटक-

कारों ने समाज के प्रति विरोध की भावना को नाटक का विषय बनाकर नाटक और समाज का एक तीसरा सम्बन्ध स्थापित किया है। वह सम्बन्ध है समाज की आलोचना द्वारा उसके सुधार का प्रयत्न। यही कारण है कि आज के नाटक बुद्धि-प्रधान और व्यंगात्मक हैं। उनका उद्देश्य ही समाज की वस्तु-स्थिति को अस्वीकार करके उसके मर्म पर चोट करना होता है। परन्तु धीरे-धीरे नाटक समाज से भी आगे बढ़ा है, उसने राष्ट्रीय, अन्त र्राष्ट्रीय और सार्वभौमिक समस्याओं को अपना विषय बनाया है। आज उसके हाथ में क्रान्ति के अस्त्र शस्त्र पहुँच गये हैं और समाज के द्वारा वह अपनी अभिव्यक्ति चाहने लगा है। आज का नाटककार समाज का विरोधी, विद्रोही और क्रान्ति-द्रष्टा है। वही समाज को विकास के प्रगतिशील पथ पर बढ़ा रहा है। इसी तरह जहाँ कभी समाज के धर्म, नीति और आचार-सम्बन्धी विचार नाटक को अनुप्राणित करते थे, नाटक केवल उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम होता था, वहाँ आज नाटक के विचार और भाव समाज में क्रान्ति के बीज बोकर उसे परिवर्तन के पथ पर बढ़ने के लिए विवश करते हैं। आज साहित्य के विभिन्न अंगों में न कोई इतना प्रगतिशील है जितना नाटक । न कोई इतना प्रभावशील ही है।

समाज पर नाटक के प्रभाव के आँकने से पहले हमें पहले व्यक्ति पर नाटक के प्रभाव का आँकना होगा। समाज व्यक्तियों का ही समूह है। प्रेक्षक भी व्यक्ति ही है। उसी के द्वारा नाटक समाज पर प्रभाव डालता है। हमें देखना है कि साधारण रूप से यह प्रक्रिया कैसे होती है। प्राचीन नाटककार व्यक्ति तक ही सीमित रहते। वे समाज के बात कम सोचते थे। अरस्तू ने अधिक से अधिक "Purgution" की बात सोची है। हमारे नाट्याचार्यों ने भी रसाभिव्यक्ति को ही प्रधानता दी है। अरस्तू

के विचार के नाटक मनुष्य के मूल भावों की अभिव्यंजना के द्वारा उसके मनोविकारों को अप्रत्यक्ष रूप से बाहर निकलने के मौका देता है और फिर व्यक्ति गत और सामाजिक जीवन में प्रेक्षक अधिक सभ्य और सहनशील हो जाता है। हमारे यहाँ भी नाटक से भावनाओं के परिष्कार की बात सोची गई थी। इसीलिए आदर्शवाद की प्रधनता थी।

५६. विवाह-बन्धन

(१) विवाह-बन्धन का अर्थ है यौन-व्यवहार पर प्रतिबन्ध (२) इस बंधन के मूल में है महत्व और अधिकार की लालसा (३) विवाह बंधन का इतिहास और वर्तमान रूप (४) विवाह—धार्मिक संस्कार के रूप में (५) विवाह-बंधन को स्वीकार करने की आवश्यकता—विवाह के बिना कुटुम्ब की समाजिक संस्था की प्रतिष्ठा ही नहीं हो सकती (६) आधुनिक काल में विवाह के प्रति विरोध स्वतन्त्र यौन-व्यापार का आग्रह तथा उसकी अनुपादेयता (७) उपसंहार।

विवाह-बन्धन के पीछे परिवार बना कर रहने की भावना काम कर रही है। इसी भावना ने इस संस्कार को जन्म दिया है। पहले मनुष्य गोठी या दलों में घूमा करता था और यौनव्यापार अबाध था। किसी भी पुरुष का किसी भी स्त्री से यौन-सम्बन्ध स्थापति हो जाता। इस प्रकार परिवार की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती थी। वर्तमान समय में संसार में कहीं भी ऐसी स्थिति नहीं है सभ्य और असभ्य दोनों प्रकार की मनुष्य-जातियों में यौनव्यवहार पर प्रतिबन्ध लगा दिये गए हैं।

मनुष्य में अपनेपन या महत्व और अधिकार की लालसा अत्यन्त प्रबल है। इसी ने स्त्री जाति के प्रति सन्देह तथा इन पर आधिपत्य का भाव पुरुषों में उत्पन्न किया। सन्तान के

प्रति वात्सल्य की भावना ने भी यौन-सम्बन्ध को सीमित करने की ही प्रेरणा दी। भ्रातृस्नेह, पारस्परिक सद्भाव व सहयोग, आहार-विहार की सुविधा कुछ इन्हीं मूल मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों ने विवाह को जन्म दिया। पहले "मत्स्य न्याय" से काम लिया जाता, जो बलवान होता, वह कितनी ही स्त्रियाँ रख सकता, दुर्बल अपनी स्त्री के संरक्षण में असमर्थ होता। परन्तु इस प्रकार नित्यप्रति अशांति, कलह और द्वन्द्व का साम्राज्य था। अतः मानसिक विकास के साथ-साथ मनुष्य ने परिस्थितियों को पहचान कर उनके निराकरण के लिए स्त्री और पुरुष के यौनसम्बन्ध को विधि-निषेधों द्वारा बाँधना ही उचित समझा।

इस समय विवाह का कोई सर्वमान्य रूप प्रचलित नहीं है और इसीलिए परिवार की संस्था भी भिन्न भिन्न तरह की है। मुख्यता तीन प्रकार के परिवार प्रचलित है—स्त्री-पुरुष के एक-विवाह-मूलक, पुरुष के बहुविवाह-मूलक और स्त्री के बहुविवाह-मूलक। इनमें पहले दो का ही अधिक प्रचार है। हमारे यहाँ पहले प्रकार के विवाह की ही महिमा गाई गई है और उसी पर कुटुम्ब और परिवार खड़े किए गए हैं। एक-पत्नी-व्रत और एक पतिव्रत के प्रशंसा-गीतों से हमारा साहित्य भरा पड़ा है। निःसन्देह इस ऊँचे आदर्श ने अनेक उज्ज्वल चरित्रों की सृष्टि की है और दाम्पत्य जीवन को सुखी बनाया है।

धीरे-धीरे विवाह एक धार्मिक विधान या संस्कार हो गया है। यह इस बात का प्रमाण है कि समाज ने उसकी महत्ता स्वीकार कर ली और उसे अपनी स्थिति बनाए रखने के उद्देश्य से उच्छृङ्खल यौनाकर्षण होने से बचा लिया है। अब विवाह का सम्बन्ध दो स्त्री-पुरुषों से होते हुए भी समाज या गोष्ठी के साक्षी होने की आवश्यकता है। विवाह के समय पर और बधूपक्ष से बन्धु-बान्धव इकट्ठे होते हैं और धर्म-मंत्रों और पारिवारिक या

कौटुम्बिक विधि-विधानों के साथ गाजे-बाजे के साथ विवाह सम्पन्न होता है। विवाह-सम्पदान में सम्प्रदान, पाणिग्रहण, माला अथवा अंगूठी का विनियम, कङ्कण को बांधना-खोलना, एक साथ भोजन करना, वर-बधू का परस्पर ताम्बूल ग्रहण इस प्रकार के अनेक मांगलिक व्यवहारों का महत्वपूर्ण प्रथान है। वास्तव में मांगलिक कृत्य वरवधू के पारस्परिक सहयोग के द्योतक हैं। गृहप्रवेश के समय हरे शाखा-पत्र, जल भरे कलश, मत्स्यादि प्रदर्शन आदि लोकाचार भी इसी भावना से व्यवहार में आते हैं। अनेक लोकाचारों से पति-पत्नी को स्मरण कराया जाता है कि विवाह का उद्देश्य सन्तानोपादन है—नववधू की गोद में शिशु देना, मखाने बरसाने, धान्य, दूब, फल खिलौने तथा पीपल की पूजा और प्रदक्षिणा वंशवृद्धि की कामना ही सूचित करती है, इन लोकाचारों और धार्मिक कृत्यों के पश्चात् पति-पत्नी गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते हैं। हमारे यहाँ गृहस्थाश्रम को सब आश्रमों में महत्वपूर्ण कहा गया है क्योंकि ब्रह्मचारी और सन्यासी सब अन्न-वस्त्र के लिए गृहस्थ के ही आश्रित हैं। प्रजनन अथवा प्रजावृद्धि भी इसी आश्रम द्वारा होती है। अतः इस आश्रम में स्त्री-पुरुष को प्रवेश कराने वाले संस्कार को धार्मिक रूप मिल जाना आश्चर्य की बात नहीं है।

समाज ने विवाह-बंधन को इसलिये स्वीकार किया है कि इससे उसका आधार दृढ़ हो जाता है और उसमें व्यवस्थापूर्ण मर्यादा की प्रतिष्ठा हो जाती है। समाज का आधार परिवार या कुटुम्ब है, कुटुम्ब स्त्री-पुरुष और उनके बच्चों का समूह है। जब तक स्त्री-पुरुष में यह समझौता नहीं होता कि वे परस्पर ही यौन-सम्बन्ध करेंगे और साथ रहकर बच्चों की शिक्षा-दीक्षा का बोझ उठायें, तब तक परिवार की कोई भित्ति ही स्थिर नहीं होती, समाज का अस्तित्व ही असंभव हैं। यदि हम राष्ट्र, राज्य या

किसी भी राजनैतिक इकाई का विश्लेषण करें तो हमें शीघ्र ही यह पता चल जायगा कि समाज ही उनका आधार है। समाज टूट जाने पर मनुष्यमात्र घुमक्कड़ हो जायेंगे, वे अधिक से अधिक दल के रूप में रह सकेंगे। अबाध यौनसंगम उन्हें शीघ्र ही कलहप्रिय, उच्छृङ्खल और बलहीन बना देगा। आज हम जितना साहित्य, कला-कौशल, स्थापत्य, संक्षेप में सभ्यता और संस्कृति के जितने भी चमत्कार देखते हैं, वे इसी लिए सम्भव हैं कि समाज की निश्चित भित्ति का आधार पाकर ही मनुष्य को इतना अवकाश के क्षणों को अपनी आशाकांक्षाओं की कलात्मक अभिव्यक्ति में लगाए। उसने धीरे-धीरे ज्ञान-विज्ञान, धर्म, नीति समाजशास्त्र, साहित्य, कला के ऊँचे-ऊँचे महल खड़े कर लिए हैं जिन्हें देख कर हम आश्चर्य से स्तब्ध हो जाते हैं, परन्तु हम इनकी नींव नहीं देख पाते। नींव है समाज; और समाज का आधार है विवाह-बंधन।

परन्तु आज इस विज्ञान और स्वतन्त्रता के युग में नई-नई आवाज़ें उठ रही हैं। नये-नये आदर्श हमारे सामने आ रहे हैं। कहा जा रहा है कि हमने युगों से नारी को अप्राकृतिक बंधन में बाँध लिया है। कवि के शब्दों में—

"मुक्त करो नारी को
सजनि, सखी, प्यारी को"
"मानव के पशु के प्रति
हो उदार नव संस्कृति

युग-युग रच से शत-शत नैतिक बन्धन
बाँध दिया मानव ने पीड़ित पशुतन
विद्रोही हो उठा आज पशु दर्पित
वह न रहेगा अब नवयुग में गर्हित

नहीं सहेगा रे वह अनुचित ताड़न,
रूढ़ि-नीतियों का गत निर्मम शासन !!

जब सभ्यताएँ और संस्कृतियाँ इतने उच्च शिखर पर पहुँच गई हैं, तब मनुष्य के पशु को स्वतंत्र करने की बात चली है। यौन-सम्बन्ध पशुकर्म से कुछ भी भिन्न नहीं रहे, उसके नियंत्रण नहीं रहे। सन्तानोत्पादन से उसका संबंध न हो सन्ताननिरोध के वैज्ञानिक साधनों से काम लिया जाय। स्त्री-पुरुषों को स्वतंत्रता हो कि वे परस्पर कुछ दिनों तक या जब तक वे विच्छेद न चाहें योनसंगम चलता रहे : सन्ताननिरोध के कारण या तो सन्तान उत्पन्न ही नहीं होगी, उत्पन्न हो तो उसका लालन-पालन राष्ट्र के जिम्मे--भविष्य के नागरिक पालन-पोषण की जिम्मेवारी राष्ट्र की ही रहे। इस प्रकार यह यांत्रिक सभ्यता मनुष्य के अन्यतम सम्बन्ध को यंत्रवत् बनाकर जड़ कर देना चाहती है।

हमें यह समझ लेना चाहिये कि आज हम नर-नारी के सम्बन्ध में जिस स्वतंत्रता की कल्पना कर रहे हैं, कभी आदिम अवस्था में हम उसमें से गुजर चुके हैं। यह तब की बात है जब मनुष्य गौष्ठों अथवा दलों में रहते थे और परिवार की संस्था विकसित नहीं हुई थी। अब भी आदम-जातियों में जो विवाह-पद्धति है वह हमें अद्भुत और अविकसित लगेगी। सहस्रों वर्षों के अनुभव के बाद आज हम विवाह को अत्युच्च सामाजिक संस्कार का रूप देने में सफल हुए। तब आदिम अवस्था की ओर लौटने की आवाज उठाई जा रही है। वास्तव में विवाह का उद्देश्य ही यह रहा है कि मनुष्य की अत्यन्त स्वाथाभाविक काम-लिप्सा को नियंत्रित एवं संयमित करे। केवल इसी तरह जाति की रक्षा हो सकती थी और पारस्परिक जीवन सहयोगपूर्ण और निरापद् हो सकता था। जिस प्रकार मनुष्य-समाज ने अपनी-अपनी बुद्धि और आचरण से जांच कर प्रत्येक कार्य की पूर्ति के

नियम बनाये हैं, उसी प्रकार स्त्री-पुरुष की कामवासना की पूर्ति के भी नियम बने हैं जो भिन्न-भिन्न देशों और वातावरण के प्रयोग के बाद सुगम तथा लाभदायक प्रमाणित हुए हैं। प्रारम्भिक समय में विवाह का कारण स्त्री-पुरुष का पारस्परिक आकर्षण होता था और इस आकर्षण के शिथिल हो जाने के साथ विवाह-बंधन भी टूट जाता था। परन्तु जब मनुष्य अधिक सभ्य हो गया और चरवाही का काम करने लगा तब उसने पशुओं और बच्चों की देखरेख के लिए स्त्री पर प्रभुत्व किया और उसकी सन्तान का भार भी स्वयम् ग्रहण किया। इस अवस्था में अधिकांश तरुण अपनी स्त्री की प्राप्ति कन्याहरण की प्रथा द्वारा करते थे जिसमें सदैव रक्तपात होते थे। बाद में स्त्री मोल लेने की प्रथा चली जिससे स्त्री की मर्यादा घट गई और वह पुरुष की दासी मात्र समझी जाने लगी। जहाँ अर्थ ही सब कुछ रहा, वहाँ बहुपतित्व की प्रथा अवश्य बढ़ जायगी जिसका अर्थ है कि एक पति एक से अधिक स्त्रियों से वैवाहिक संसर्ग रखेगा। हमारी हिन्दू जाति में कुलीनता की प्रतिष्ठा अधिक थी, अतः "कन्या विवाह द्वारा अपने से ऊँचे कुल में जाय", इस विचार ने बहु-पत्नित्व को प्रोत्साहन दिया। बहु-पत्नित्व से एक पत्नीव्रत तक पहुँचने का इतिहास बड़ा लम्बा है। प्रेम, स्त्रियों के वैयक्तिक गुण एवं उनमें व्यक्तित्व के सामूहिक विकास, आर्थिक असंतुलन प्रथम पत्नी और उसकी सन्तान के अपेक्षाकृत अधिक अधिकार आदि अनेक कारणों ने बहुपत्नित्व की प्रथा के स्थान पर सभ्य जातियों में एकपत्नीव्रत की स्थापना की एक पत्नीव्रत में स्त्री पुरुष की मर्यादा बराबर है, परन्तु यह पश्चिमी देशों में राजनैतिक परिस्थितियाँ के स्वरूप शीघ्र ही मानी गई, पूर्वीय देशों में घर में पत्नी सुन्दर ढंग से प्रतिष्ठा होने पर सामाजिक और राजनैतिक अधिकार उसे प्राप्त नहीं है। हमारे यहाँ भी यह

आन्दोलन उठ खड़ा हुआ है कि स्त्री को पूर्ण स्वतन्त्रता अथवा पुरुष के समान अधिकार प्राप्त हों। अभी अनेक बातों के लिये वह पुरुष के अधीन है।

जो हो, प्रश्न अभी बना है। इस स्त्री-स्वातंत्र्य के अन्दोलन की समाप्ति कहाँ हो ? क्या तलाक की प्रथा को उतना व्यापक रूप दे देने से स्त्री की प्रतिष्ठा बढ़ेगी जितना व्यापक रूप उसे योरुप में मिल चुका है ? स्त्री-पुरुष में कोई रजिस्ट्रार के पास जाकर कह सकता है –मैं फलाँ के साथ-साथ रहना नहीं चाहती, या चाहता—और विवाह-विच्छेद ! दोनों किसी भी दूसरे स्त्री-पुरुष से विवाह-संबंध करने के लिए स्वतंत्र हो गये। जहाँ इस प्रकार का स्वेच्छाचार है, वहाँ समाज किस भित्ति पर टिकेगा ? मातृत्व की उच्चता और पूर्तता की भावना नष्ट हो जाने पर क्या यौन सम्बन्ध के आनन्द के आधार पर ही स्त्री की प्रतिष्ठा हो सकेगी ? क्या मातृत्व ने ही वात्सल्य, गृह, कलाकौशल, स्त्री-पुरुष के आजन्म सहयोग और प्रेमी जैसी उपयोगी संस्थाओं और प्रवृत्तियों को जन्म नहीं दिया है ? विवाह-बंधन के मूलोच्छेदन के बाद समाज में नारी की मर्यादा कहाँ रहेगी ?

६०. हिन्दू-समाज में नारी का स्थान

(१) भूमिका (२) हिन्दू स्मृति-ग्रन्थों और धर्म ग्रन्थों से कतिपय उद्धरण (३) हिन्दू समाज में नारी के स्थान की उच्चता (४) हिन्दू नारी और कुटुम्ब (५) हिन्दू स्मृति-ग्रन्थों में मातृत्व के गौरव की रक्षा वर्तमान समय में कुछ कुरीतियों के कारण स्त्री-चरित्र दूषित हो गया, अतः चरित्र की महत्ता पर स्थित नारी का स्थान गिर गया (६) वर्तमान नारी-स्वातंत्र्य के आन्दोलन और उनकी विद्रुपता।

संसार के किसी भी समाज में नारी का स्थान इतना ऊँचा

नहीं है, जितना हिन्दू-समाज में। वैदिक-साहित्य के सूत्र ग्रन्थों का एक सारस्वत अनुवाक इस प्रकार है--

यस्यां तूतं समभवद्यस्यां विश्वमिदं जगत्।
तामद्य गाथां गास्यामि या स्त्रीणामुत्तमंयशः॥

अर्थात् महाभाग्यशीला नारी जो भूत और भविष्य की जननी है जिस उत्तम यश का पात्र है उसकी यशोगाथा को आज हम गाते हैं। इसके बाद बीस ऋचाएँ वेदिमंडप में गाई जाती हैं और विवाह सम्पन्न होता है। मनु ने तो यहाँ तक लिखा है—"यो भर्ता सा स्मृतांगना" (जो पति है, वही अभिन्न रूप से पत्नी है)। "जहाँ स्त्रियों का पूजन होता है, वहाँ देवता बसते हैं। जहाँ उसका आदर नहीं होता, वहाँ सब क्रियाएँ निष्फल जाती हैं।" "अनेक कल्याणों की भाजन स्त्रियाँ पूजा के योग्य हैं, ये घर की ज्योति हैं, प्रजापति ने प्रजोत्पत्ति के लिए उन्हें बनाया है। स्त्रियाँ घरों में साक्षात् लक्ष्मी हैं, दोनों में कोई अन्तर नहीं है।"

जिस जाति ने संसार पर राज्य किया है और जिसके यशोगीत इतिहास और पुराणों में गूँज रहे हैं, हिन्दुओं की उस आर्यजाति के कुल-धर्म में नारी का महत्त्व पूर्ण रूप से स्वीकार किया गया था। उसे जाया माना गया है। "यही जाया का जायत्व है कि पुरुष उसमें पुनः जन्म ग्रहण करता है।" स्त्री माता और धात्री बन कर ही सफल है। "अपत्य, धर्मकाव्य, सुश्रुषा, उत्तम आनन्द तथा अपने पूर्व पुरुषों की स्वर्गगति सब कुछ स्त्री के अधीन है।" "संतति को जन्म देना, उत्पन्न हुए पुत्रादिक का पालन करना और प्रतिदिन की लोकयात्रा का एकमात्र प्रत्यक्ष कारण स्त्री है।" स्त्री के लिए पति और कुटुम्ब ही सब कुछ है। "पति सेवा ही उनका (स्त्रियों का) गुरुकुलवास है, और गृहकार्यों में दक्षतापूर्वक योग ही उनकी अग्नि-परिचर्या है।" "स्त्रियों के लिये पृथक यज्ञ, व्रत या उपवास का विधान नहीं है।

पति की सुश्रुषा से ही वे स्वर्ग में उच्च स्थान पाती हैं।" स्त्रियों के उच्च पद के कारण ही विवाह को सबसे बड़ा वैदिक संस्कार माना गया है क्योंकि उसके द्वारा ही कुटुम्ब में भावी सन्तान की माता की प्रतिष्ठा होती है। प्रजा का जन्म देना (मातृत्व) ही स्त्री-जीवन की सार्थकता है। "उसका नित्य भरण-पोषण करना" और उसे प्रसन्न करना पति का कर्तव्य है। "स्त्री की प्रसन्नता से सारा परिवार प्रसन्न रहता है। उसके असन्तोष से कुछ भी अच्छा नहीं लगता।"

ऊपर के उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जायगा कि हिन्दू-समाज में नारी का स्थान कुटुम्ब है, परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उसका क्षेत्र भी संकीर्ण है या उसकी शक्तियों को कुटुम्ब में सीमित रखकर हम बराबर अन्याय करते आये हैं। मनु ने कहा है कि कौमार्य अवस्था में स्त्री की रक्षा माता-पिता करता है, यौवन में पति और वृद्धावस्था में पुत्र, इसलिए स्त्री का अपना तंत्र नहीं होता। इस बात को लेकर कितने ही लोग हिन्दू-समाज के नारी के प्रति किये गये अपमान की बात उठाते हैं। परन्तु यह तो एक सामान्य लोक व्यवहार की बात है जिसका सम्बन्ध सामाजिक और राजनैतिक अधिकारों से जोड़ना ठीक नहीं। स्त्री की प्रतिदिन की लोकयात्रा को निश्चित बनाने की दृष्टि से ही इस प्रकार का आयोजन किया गया है। यदि यह कहा जाय 'कि मनु का यह आदेश "जो पुरुष यत्नपूर्वक स्त्री की रक्षा करता है, वह अपनी सन्तान, चरित्र, परिवार, धर्म और अपने आप की रक्षा करता है" स्त्री-पारतन्त्र्य का सूचक है, आचार-विषयक नियमन मात्र नहीं है, तो इसे क्या कहा जाय! जहाँ लक्ष्य उत्तम प्रजा होगी, वहाँ चरित्र का महत्त्व रहेगा ही; परन्तु यही चरित्र-विषयक कठोरता स्त्री के पद को ऊँचा बना देगी। स्त्री राष्ट्र की

प्रजा की माता है, अतः वह राष्ट्र की माता है। इससे ऊँचा पद उसे कहाँ मिलेगा ?

मातृत्व के इसी गौरव को दृष्टि में रखकर आर्य जाति ने स्त्री के दाय के सम्बन्ध में विशेष विभाजन नहीं किया। पति की मृत्यु के उपरान्त उसकी सम्पत्ति ज्येष्ठ पुत्र को मिलती है, पत्नी को नहीं। हिन्दू कुटुम्ब में माता का जो स्थान है, जो इसे जानते हैं, वे अवश्य इस वस्तु-स्थिति को दोषपूर्ण नहीं कहेंगे। आधुनिकों को यहाँ भी बर्बरता के दर्शन होंगे। वास्तव में, यदि हिन्दू समाज में नारी का स्थान ढूँढ़ना हो तो उसे व्यावहारिक जीवन और ऐतिहासिक एवं पौराणिक चरित्रों में ढूँढ़ा जाय, दाय-भाग में वह नहीं मिलेगा।

मध्ययुग में अवश्य नारी-प्रतिष्ठा की कमी रही है। इसका कारण था कई ऐसी कुरीतियों का प्रवेश जिन्होंने स्त्री को अपने स्वर्ग से नीचे गिरा दिया। बहु-विवाह, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह इन्होंने कुटुम्ब धर्म को दूषित कर दिया। धीरे-धीरे हमारी गृहदेवियों का चरित्र नीचे गिरने लगा। इसे देखकर व्यवस्थाकारों ने नारी के विषय में सतर्कता और कठोरता का व्यवहार ही ठीक समझा। तुलसी जैसे सन्त भी नारी के लिए यह कह गये हैं—

ढोल गँवार शूद्र पशु नारी
ये सब ताड़न के अधिकारी

परन्तु जिन कुरीतियों ने स्त्री-चरित्र को दूषित कर दिया था, वे अब बनी हैं और सुधारकों के इतने प्रयत्न पर भी इन्हीं के कारण नारी-महत्ता की प्रतिष्ठा नहीं हो रही है। यही नहीं, वर्तमान काल के नारी-जागरण के आन्दोलनों ने स्त्री-प्रतिष्ठा को जितना ऊँचा उठाया है, उससे अधिक नवीन विचारधारा ने उसे नीचे गिरा दिया है। चरित्र की स्वतन्त्रता की भावना ने नारी

को विसालभोग की क्रीड़ा-भूमि बना डाला है और हिन्दू नवयुवक स्त्री के प्रति एकमात्र यौनभावना से ही आकर्षित होने लगे हैं। हमारे यहाँ यौनाकर्षण को विशेष महत्व नहीं मिला था, विवाह और चरित्र की स्वतन्त्रता ने इसे ही प्रधानता दे दी है। हिन्दू संस्कृति में यौनसम्बन्ध का अन्त पुण्यमय मातृत्व में होता है। नए समाज में प्रजानिरोध का प्रचार हो रहा है। स्त्री की स्वतन्त्रता तब तक नहीं बनी रह सकती जब तक वह स्वेच्छा-पूर्वक जीवन-यापन न कर सके, प्रजनन के सम्बन्ध में भी स्वतंत्र न हो। नई युवती के लिए प्रजानिरोध के वैज्ञानिक ढंग जानना आवश्यक हो गया है। परन्तु नवीनता और मौलिकता के उत्साह में हम यह भूल जाते हैं कि स्त्री प्रतिष्ठा का मूलाधार मातृत्व है। मातृत्व के नाश से कालांतर में नारी-प्रतिष्ठा का नाश हो जायगा। जहाँ नारी का यौवन विषय-विलास की क्रीड़ा-भूमि मान लिया गया, जहाँ उसे मातृत्व का भय और मोह नहीं रहा, वहाँ क्या गर्हित दुराचार न हो सकेंगे! मातृत्व की उपेक्षा से स्वर्ग की दैवी गृहिणी नरक की वेश्या बन जाती है। आज का हिन्दू-समाज नारी की सत्ता को ऊपर उठाने चला है, परन्तु पश्चिम के नए सिद्धान्त उसे एक बार फिर गर्त में ढकेल रहे हैं।

६१. हमारा शिक्षित समाज और जनसमुदाय

(१) भूमिका (२) हमारे समाज के जनसमुदाय की विशेषताएँ—धर्मप्राणता, प्राचीन विचारों पर श्रद्धापूर्वक विश्वास, चतुर्वर्ण्य, अवतारवाद, कर्म-सिद्धान्त की मान्यता (३) शिक्षित समुदाय की विशेषताएँ—अविश्वास, तर्कमूलक वैज्ञानिक दृष्टिकोण, नास्तिकता, आचार-विचार का अनियमन (४) भाषा, साहित्य, आशाकांक्षाओं का विरोध (५) जीवन के प्रति दृष्टिकोण में विरोध (६) साहित्य के भीतर से जन-समुदाय और शिक्षित समाज का सम्बन्ध (७) उपसंहार।

हमारे देश के कोई सहस्रों वर्षों के इतिहास में कोई भी समय ऐसा नहीं रहा है जब शिक्षित समाज और जनसमुदाय में इतना अंतर हो जितना आज है। जनता की भाषा, व्यवहार, विश्वास, साहित्य, शिक्षित समाज की भाषा, व्यवहार, विश्वास और साहित्य से दूर ही नहीं, अपितु विरोध में जा पड़े हैं। निकट भविष्य में दोनों के पास-पास आने की सम्भावना भी नहीं है।

जनसमुदाय अब भी धर्मप्राण है। वह मध्ययुग के पौराणिक धर्म पर चल रहा है। अवतारवाद पर उसकी अटूट आस्था है। राम और कृष्ण, विष्णु और शिव, देवी-देवताओं और अवतारों पर उसे श्रद्धा है। साधारण हिन्दू अब भी पंचदेवोपासक है। मध्ययुग के सांस्कृतिक संघर्ष के कारण निर्गुण पंथियों के अनेक सम्प्रदाय उठ खड़े हुए थे, वे अब भी अपने-अपने अखाड़े लेकर चल रहे हैं। हिन्दू आचार-विचारों ने उनमें घर कर लिया है और उनका मूर्ति-उपासना और कर्मकांड का विरोध शिथिल हो गया है। इस समय अनेक दलों, सम्प्रदायों और वर्गों में विभाजित होने पर भी हिन्दू धर्म अविभाजित हैं। चतुर्वर्ण्य संस्था, अवतारवाद और कर्मसिद्धान्त लगभग सभी दलों, सम्प्रदायों और वर्गों को मान्य हैं। जनसमुदाय हिन्दू धर्म के इसी व्यावहारिक रूप से परिचित हैं ऋषियों और मनीषियों के ऊँचे सिद्धान्त उस तक नहीं पहुँचे हैं।

अब शिक्षित समुदाय की बात लीजिये। यहाँ शिक्षित समुदाय का अर्थ अँगरेज़ी शिक्षा-प्राप्त समाज से है। यह समाज सब ले देकर किसी तरह मानने भर के लिए पौराणिक धर्म को मानता अवश्य चला आता है, परन्तु उसमें श्रद्धा, विश्वास, गम्भीर आंतरिक प्रेरणा का अभाव है। यही नहीं, शिक्षत समाज में धीरे-धीरे ऐसा वर्ग भी पैदा हो गया है जो पौराणिक मत को विज्ञान की कसौटी पर कसने चला है। वह धीरे-धीरे नास्तिक,

श्रद्धालु, विज्ञान-भक्त होता जा रहा है। जो पश्चिम मानता-जानता है वही उसके लिए सत्य है। वेद गड़रियों के गीत हैं। उपनिषदों में पराजित जाति की रहस्यवादिता है। धर्म शास्त्र अर्धसभ्य समाज के लिए बने थे, आज के पूर्ण सभ्य समाज की दृष्टि से बहुत पीछे हैं। चातुर्वर्ण्य की संस्था में भी उसे विश्वास नहीं है। नई परिस्थितियों ने आश्रम-व्यवस्था को तोड़ ही दिया है। अब दो ही आश्रम रह गए हैं—ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रम। ब्रह्मचर्य आश्रम भी विडम्बना मात्र है। जहाँ विद्याध्ययन के पीछे कोई महान् आदर्श नहीं, क्लर्क बनने भर की साधना है। जहाँ शरीर, हृदय और मन के संयम का शिक्षा में कोई स्थान नहीं है, वहाँ ब्रह्मचर्य आश्रम तो नहीं है, लीक पीटना भर है। बहुधा तो गृहस्थाश्रम और पठन-पाठन साथ-साथ चलता रहता है, विशेष कर उच्चशिक्षा के क्षेत्रों में। इसीलिए शिक्षित समाज की समझ में आश्रमों की व्यवस्था आती ही नहीं। दिन दफ्तर में, रात होटल में, मौत हस्पताल में—नई सामाजिक व्यवस्था का कुछ ऐसा रूप है। कर्मसिद्धांत जनसमुदाय की भाँति ही शिक्षित समुदाय को भी पकड़े हुए है। शिक्षित समाज भी भाग्यवादी है। परन्तु उसके भाग्यवाद का कारण भिन्न है। जनसमुदाय ईश्वर-विश्वासी है, परिस्थितियों के वैषम्य को वह भाग्य पर मढ़ देता है। शिक्षित समाज के भाग्यवाद का आधार है नौकरी देवो की कृपा-अकृपा। इस प्रकार हम देखते हैं कि जन-समुदाय और शिक्षित समाज की मूल भावनाओं में कितना विरोध है।

इस विरोध के कारण ही न हमारा साहित्य जनसमुदाय को अनुमाणित कर सकता है, न हम अपने व्यवहार द्वारा ही उनके निकट आ पाते हैं। भाषा की बात लीजिए। आज खड़ी बोली हिन्दी हमारे प्रदेश की सामान्य भाषा है, परन्तु जनसमुदाय का

एक बहुत छोटा भाग जो आगरा-दिल्ली-बरेली में रहता है, इसे प्रतिदिन की बोलचाल में काम लाता है। वह छोटा समुदाय भी काम-काजी खड़ी बोली बोलता है, नगरों में बोलचाल के लिए खड़ी बोली का जो रूप प्रयोग में आता है और साहित्य-रचना के लिए संस्कृतगर्भित, शैली-सम्पन्न जिस खड़ी का व्यवहार हम करते हैं, उसका जनसमुदाय के दैनिक व्यवहार में कोई स्थान नहीं है। जनसमुदाय की कल्पना, उपमा-उत्प्रेक्षाएँ, रूपक हमारे साहित्य की कल्पनाओं, उपमा-उत्प्रेक्षाओं और रूपकों से भिन्न हैं। साहित्य अपनी सामग्री लोक-जीवन से न लेकर देशी-विदेशी साहित्य, प्राचीन साहित्यिक परम्परा और उच्चवर्गीय चेतनता से ग्रहण करता है। फलतः, हमारा साहित्य न जनता के भावों की प्रतिध्वनि है, न जनता उसमें रस ले सकती है। गाँवों की जनता आल्हा-ऊदल, यात्रा-नौटंकी, रास-स्वांग, लोकगीत और लोक-कथा-साहित्य से शक्ति ग्रहण करती है। उसे प्रतिदिन के जीवन से ही शक्ति मिलती है। शिक्षित समाज का प्रतिदिन का जीवन मशीन की तरह नीरस है। अतः उसकी कल्पना अहर्निश उत्तेजित रहती है और वह उसी से शक्ति ग्रहण करता है या कभी-कभी अतीत की ओर मुड़कर उसकी संस्कृति और उसके साहित्य में रस लेने की चेष्टा करता है।

शिक्षित-समाज और जन-समुदायों में जीवन के प्रति दृष्टिकोण की यह विभिन्नता कई शताब्दियों से चली आती है। कदाचित् भक्तिकाल में जनता और शिक्षित-समाज सबसे अधिक निकट आये थे। जन-समुदाय ने कबीर, दादू, नानक जैसे कवि हमें दिये। वही जनता की भाषा, जनता के जीवन से ली गई उपमा-उत्प्रेक्षाएँ। तुलसी, जायसी, सूरदास प्रभृति कवि शिक्षित-समाज के सदस्य थे परन्तु भाषा और साहित्यिक परम्परा को छोड़कर भावना, विश्वास और व्यक्तिगत जीवन की दृष्टि से वे

जनसमुदाय के हो गए थे। उनकी कविता जनता के लिए कंठहार सिद्ध हुई। कबीर और तुलसी आज जनसमुदाय की श्रद्धा में जीवित हैं। रीतिकाल में जन-साधारण और शिक्षित-समाज में भाषा और भावना की दृष्टि से महान् अन्तर पड़ गया था। बिहारी की सतसई जो हो, जनसमुदाय की वस्तु नहीं है। उसे शिक्षित-समाज का साहित्य ही कहा जायगा। जनता कर्म-प्रधान थी, भक्ति-भावनाश्रय थी; ऐश्वर्य और विलास उसमें कहाँ। परन्तु रीतिकाल के साहित्य में ऐश्वर्य और विलास के सिवा और क्या है। फल यह हुआ कि जनता भक्तों के साहित्य से ही चिपटी रही। केशव, बिहारी और पद्माकर उसके हृदय तक न पहुँच सके। अंग्रेजी सत्ता के स्थापन के साथ यह खाई और बड़ी हो गई। मध्यवर्ग एक विदेशी देश की सभ्यता, भाषा और साहित्य से परिचित हुआ और उसने इन्हें अपने जीवन में उतारना आरम्भ किया। फल यह हुआ कि वह जन-जीवन और जन-भावना से दूर जा पड़ा। आज उसके साहित्य के एक बड़े भाग को जनता नहीं समझती, यह स्वीकार करने में हमें संकोच नहीं करने चाहिए। प्रसाद के नाटक, छायावादी कव्य, निराला और जैनेन्द्र की उपन्यास-कला और भाषा की बात जाने दीजिये—विषय और भावना की दृष्टि से जनता के लिए अबूझ हैं, कबीर की उलटवासियाँ हैं। अब शिक्षित-समाज में पुकार हुई है—भाषा सरल करो। परन्तु भाषा की सरलता ही शिक्षित समाज के साहित्य को जनता तक नहीं पहुँचा देगी। जिस होटल-कोर्टशिप की समस्याओं से "तीन वर्ष" और "त्यागपत्र" भरे पड़े हैं वह जनता की समस्या नहीं है, वास्तव में वह अभी किसी तरह शिक्षित-समाज के लिए भी समस्या नहीं है। महादेवी का काव्य जिस अदृश्य, अव्यक्त सत्ता के प्रति प्रेम-मिलन और विरह के स्वर उठाता है, वह जनसमुदाय के लिए कबीर के निर्गुण से

भी अधिक जटिल है। सच तो यह है शिक्षित-समाज अभी बहुत समय के लिए जन-समुदाय से दूर जा पड़ा है। श्रेयस्कर न हो, वांछनीय न हो, परन्तु परिस्थित है यही। 'हिन्दुस्तानी भाषा में जनता के लिए लिखो''—इस चिल्लाहट से कुछ आता-जाता नहीं। हमारे विषय काल्पनिक हैं, अवास्तव हैं या जन-समुदाय की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वहीन हैं। साफ कहना उचित तो नहीं है परन्तु सच यह है कि हमने जीवन और उसके उत्तरदायित्व से मुँह मोड़कर कल्पना, साहित्यिक परम्परा और विदेशी प्रभाव के सहारे एक बहुत बड़ा जंजाल खड़ा कर लिया है जिसे हम मध्यवर्ग की शिक्षित जनता का साहित्य कहते हैं। उसे देखकर जन-समुदाय की आँखों में चकाचौंध भले ही हो जाए, परन्तु वह उसके गले के नीचे नहीं उतर पाता।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, जन-समुदाय और शिक्षित-समाज अभी बहुत दिनों के लिए परस्पर दूर हैं। जब रोटी की समस्या उठती है तो वे पास आ जाते हैं, पास आए बिना रह ही नहीं सकते, परन्तु वैसे छत्तीस हैं, तिरेसठ नहीं। कब शिक्षित-समाज जनता के समीप आयेगा, किस प्रकार आयेगा, क्या जन-समुदाय ऊपर उठेगा या शिक्षित-समाज नीचे उतरेगा, ये समस्याएँ आज हमारे सामने हैं। ये बड़े प्रश्न हैं। साथ ही कठिन प्रश्न हैं। हम निरुत्तर हैं। परन्तु जब तक ऐसा नहीं होता, ३९ करोड़ जनता में १ करोड़ या आधे करोड़ जनता की भाषा, भावना, विचार-धारा और कल्पना की खपत नहीं हो सकती। यह बात निश्चित है। हम उस स्वर्णदिवस की कल्पना कर सकते हैं जब शिक्षित-समाज और जन-समुदाय एक ही भावना, विचार-धारा और कल्पना से स्पंदित होंगे। वह निश्चय ही महान् होगा। हमें उस दिन की प्रतीक्षा करनी चाहिए और उसे समीप लाने का प्रयत्न करना चाहिए।

फुटकर

६२. विज्ञान से संसार का हित-अहित

(१) भूमिका (२) विज्ञान से मौलिक सुविधाओं का जन्म और उनकी उत्तरोत्तर वृद्धि (३) स्थान और समय की दूरी की कमी (४) जीवन-रक्षा के अनेक सुगम साधनों का आविष्कार (५) विज्ञान द्वारा जीवन की आवश्यकताओं की वृद्धि और तज्जन्य असंतोष (६) मनोरंजन और शिक्षा के क्षेत्रों में क्रांति (७) सामरिक विज्ञान से मानव-जाति के लोप हो जाने ही का भय हो गया है (८) मशीनों के राज्य से मनुष्य की उपयोगिता और उसकी शक्तियों का ह्रास (९) क्यों हम विज्ञान का सदुपयोग न करें ? (१०) उपसंहार।

कोई १५० वर्ष हुए विज्ञान ने संसार में प्रवेश किया था। तब से अब तक वैज्ञानिक अनुसंधानों में बराबर उन्नति होती गई और अब प्रतिवर्ष सैकड़ों अनुसंधान हमारे सामने आते हैं। पिछले ३०-३५ वर्षों में विज्ञान हमारे प्रत्येक दिन के जीवन में आ घुसा है और अब हम उसे किसी प्रकार अस्वीकार नहीं कर सकते। ऐसी दशा में यह सोचना अनुचित नहीं होगा कि हमने विज्ञान से क्या पाया है, उनसे संसार का कितना हित-अहित हुआ है।

जो बात हमें सबसे पहले दिखलाई देती है, वह यह है कि विज्ञान ने संसार के चेहरे को ही बदल दिया है। बड़ी-बड़ी स्फटिक या कोलतार की सड़कें, दो-दो मील लम्बे पुल, गगनचुम्बी

अट्टालिकाएँ, बिजली का जगमगाता प्रकाश, नल के द्वारा पानी पाने की सुगमता ! सचमुच संसार बदल गया है। देवर्षि नारद अबकी बार पृथ्वी की यात्रा करेंगे तो उसे पहचान नहीं सकेंगे। बाहर ही नहीं, घर भी बदल गया है। पहले चिराग थे। अब बिजली है। उससे प्रकाश मिलेगा, गर्मी मिलेगी, अँगीठी गर्म कीजिये, पंखा चला कर हवा लीजिये। घर में सैकड़ों चीज़ें ऐसी मिलेंगी जिन्हें हम अपने सुख के लिए अनिवार्य समझते हैं, परन्तु वैज्ञानिक साधनों के अभाव में उनमें से कुछ का अस्तित्व भी असम्भव था। दूसरी यदि होतीं भी तो उनका रूप इतना सुन्दर न होता और उत्पादन के वैज्ञानिक साधनों के अभाव में वे सर्वसाधारण को सुलभ भी नहीं होतीं। आज हम सोचते हैं कि ये चीज़ें हमारे पास नहीं होतीं तो जीवन भारी हो जाता। स्पष्ट है कि विज्ञान ने हमारे सुख के साधनों में वृद्धि की है और उन्हें सुलभ भी बना दिया है।

विज्ञान ने स्थान की दूरी कम कर दी है। मोटर हैं, लारियाँ हैं, रेलें हैं, हवाई जहाज हैं, पानी के जहाज हैं। इन तीव्रगामी यानों ने हमारी यात्रा को छोटा कर दिया है। थोड़े से पैसों में आराम से बैठकर २००-४०० मील की यात्रा ८-१० घंटों में कर लेना सर्वसाधारण के लिए सुगम है। वायुयान तो ३००-४०० मील प्रति घंटे के हिसाब से उड़ते हैं। अब सारा संसार एक बड़ा कुटुम्ब हो गया है। स्थल, जल और आकाश के बीच में याता-यात और यात्रा के जाल बिछे हुए हैं। अब कोई स्थान दूर नहीं रहा। मिनटों में अपने सन्देश को इङ्गलैंड पहुँचा दीजिये और उत्तर में किसी परिचित की आवाज सुन लीजिये। अब ऐसा आविष्कार भी हो गया है जिससे घर बैठे सात समुद्र पार की बात ही नहीं सुनी जा सके, सूरत भी दिखलाई दे। समय के अन्तर में भी कमी हो गई है। जो काम कल महीनों में होता था, आज घंटों में

होता है। घर बैठे दूसरे दिन या उसी दिन शाम को हम देश-विदेश के क्षण-क्षण के समाचार पढ़ लेते हैं। इतना ही नहीं, रेडियो द्वारा हम प्रत्येक समय, प्रत्येक जगह उपस्थित हैं। स्विच घुमाने की देर है यह न्यूयार्क बोल रहा है, यह मास्को है, यह लंदन, यह दिल्ली। प्रधान मन्त्री एटली भाषण दे रहे हैं वाशिङ्गटन में और उनके साथी मन्त्री मण्डल के लोग लन्दन में उसे सुन रहे हैं और हम यहाँ सुन रहे हैं।

यही नहीं, विज्ञान ने जीवन-रक्षा के अनेक साधनों को भी सुगम कर दिया है। उसके द्वारा चिकित्साशास्त्र में क्रान्ति हो गई है। कितने ही रोगों की औषधियाँ जान ली गई हैं, कितने ही रोगों को चीरफाड़ (सर्जरी) के द्वारा ठीक किया जा सकता है। ऐक्सरे द्वारा सारे शरीर का वेध किया जा सकता है और रोग कहाँ है, यह देखा जा सकता है। पहले जर्राही में बड़ा कष्ट होता था, अब ऐसे-ऐसे रासायनिक पदार्थों का प्रयोग होता है जिसके लेप से मांस सुन्न पड़ जाता है और आवश्यक चीरा-फाड़ी इस प्रकार हो सकती हैं कि रोगी को इतना भी पता नहीं चले कि सुई चुभ गई है।

जीवन-यापन के साधन भी बहुत से निकल आए हैं और प्रतिदिन की साधारण आवश्यकताएँ जिन चीजों से पूर्ण होती थीं वह भी सुलभ हैं। सीने के लिए सुई, उजाला करने के लिए दियासलाई, लिखने के लिए पेन्सिल, निब और कागज़ से लेकर कुर्सी, मेज़, बिजली के पंखे और बरफ़ तक प्रत्येक वस्तु मशीन से बनकर हमारे सामने आते हैं। जहाँ देखो वहाँ "कल"। यह "कलयुग" है। कपड़ा, दियासलाई, शक्कर, कागज़ पेन्सिल—किसके लिए बड़ी-बड़ी मशीनों की आवश्यकता नहीं है? किसके लिए बिजली और कोयला नहीं चाहिए? इन मशीनों के सहारे

बड़े-बड़े उद्योग-धन्धे खड़े हैं और करोड़ों आदमी विज्ञान के इन चमत्कारों पर पल रहे हैं।

मनोरंजन के पहले साधन अब समाप्त-प्राय हैं। आज विज्ञान ने हमें नए मनोरंजन दिए हैं। सिनेमा ने नाटकों और थियेटरों का स्थान हड़प लिया है। ग्रामोफ़ोन है, रेडियो है, कार्निवॉल है, सैरबीन है, अब कुछ दिनों में "टेलीविज़न" भी सर्वसुलभ होने वाला है जिससे सर्वसाधारण "दिव्यचक्षु" हो जायगा। हमारे प्राचीन ऋषि सर्वज्ञ थे। योग के सहारे वे सब लोकों की घटनाओं को जान लेते थे। कल हममें से प्रत्येक ऐसा कर सकेगा।

सच तो यह है कि विज्ञान ने हमारे संसार में क्रांति उपस्थित कर दी है। शिक्षा के क्षेत्र में रेडियो और चलचित्रों का प्रयोग होने लगा है। एक पुस्तक की सहस्रों-सहस्रों प्रतियाँ घंटे भर में तैयार होकर दूर-दूर वितरित हो सकती हैं, समाचार पत्रों ने सारे संसार को एक सूत्र में बाँध लिया है। आज अंधविश्वासों पर बार-बार आघात हो रहा है और विज्ञान के आलोक में हमारे धर्मों और दर्शनों ने अत्यन्त अभिनव रूप धारण कर लिया है। हम प्रत्येक समस्या को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखने लगे हैं, और इस तरह सत्य के अधिक निकट पहुँच रहे हैं।

परन्तु क्या विज्ञान में हित ही हित है, अहित कुछ भी नहीं? अहित है उसके ग़लत प्रयोग में। विज्ञान ने जीवन के बनाए रखने और उससे उत्तरोत्तर विकास के लिए साधन इकट्ठे किए, परन्तु अभागा मनुष्य उनको पाकर भी सन्तुष्ट नहीं हुआ। उसने विज्ञान का दुरुपयोग किया। विज्ञान ने आत्मरक्षा के लिए बन्दूक, रिवाल्वर बनाए। मनुष्य एक दूसरे पर उसका प्रयोग करने लगा। आज मशीनगनों और बमों का राज है। बन्दर के हाथ में चाकू आ जाने से उसकी नाक कब तक सलामत रहेगी? कुछ

ऐसी ही बात विज्ञान के सम्बन्ध में हुई है। शुद्ध वैज्ञानिकों के हाथ से निकल कर विज्ञान के आविष्कार व्यवसायियों के हाथ में पहुँचे और उन्होंने अपनी चाँदी की। फलस्वरूप आज हम बवण्डर उमड़ता देखते हैं। नोबिल ने जिस समय डाइनामाइट का आविष्कार किया था उस समय उसका लक्ष्य केवल ऐसे विस्फोटक की प्राप्ति था जिसके द्वारा पहाड़ उड़ाए जा सकें और उनमें सुगमतापूर्वक रेलें बिछाई जा सकें, नहरें खोदी जा सकें, खाइयाँ बनाने में जिसका प्रयोग हो, परन्तु मृत्यु से पहले ही उसने अपने आविष्कार का अत्यन्त गर्हित प्रयोग देख लिया। जिस प्रिय आविष्कार तक पहुँचने में मनुष्य जाति के इस हित-चिंतक को अपने प्रिय पुत्र के प्राणों से हाथ धोना पड़े, उसी आविष्कार की सहायता से गाँव के गाँव उजाड़ दिये गए। पिछले महायुद्ध से पहले वायुयान कुतूहल की वस्तु था। वैज्ञानिक आविष्कारों के लिए ही उसका प्रयोग होता था। बाद को जहाँ यातायात के साधनों और आवागमन को सुगम बना कर उसने शांति के समय क्रांति उत्पन्न की, वहाँ आज उसी के कारण संसार में कोई कोना भी ऐसा नहीं रहा जिनमें मनुष्य अपना सिर छिपा कर पड़ा रहे। वर्तमान युद्ध में वायुयान ने इन्द्र के वज्र का काम किया है। उसके मँडराते ही नगर खण्डहर हो गए हैं और महान् कलाकारों का वर्षों का परीश्रम धूल! धीरे-धीरे मनुष्य ने जाना कि विज्ञान ने उसे अत्यन्त भयानक परिस्थित में डाल दिया है। उसने विज्ञान की ही शरण ली। अब "सामरिक विज्ञान" विज्ञान का एक प्रधान-अंग है। सहस्रों वैज्ञानिक राक्षस की पूजा में लगे हैं। प्रतिदिन नए-नए भयानक शस्त्रों का आविष्कार हो रहा है। ऐसी-ऐसी गैसें निकल गई हैं जो क्षण भर में असंख्य प्राणियों को मौत के घाट उतार देती हैं। आज मनुष्य भयभीत है। दानव मुक्त हो गया है। अब

तक सहस्रों वर्षों के अनवरत परिश्रम के बाद मनुष्य ने अपना कहने योग्य जो कुछ संग्रह किया था, उसे विज्ञान के दुरुपयोग ने संकट में डाल दिया है।

यह भी कहा जा रहा है कि वर्तमान सभ्यता के रोगों के मूल में मशीनें हैं जिनका आविष्कार विज्ञान ने ही किया है और जिन्होंने आज मनुष्य को बेकार कर दिया है। जहाँ पहले किसी एक व्यवसाय में सहस्रों मनुष्यों के पेट पलते थे, वहाँ आज एक दो आदमी मशीन के सहारे सहस्रों मनुष्यों का काम करके उनकी रोटी काट लेते हैं। इसी से बेकारी की भीषण समस्या आज संसार के सामने मुँह फैलाए खड़ी है। यही नहीं, जब माल अधिक तैयार हो जाता है तो बेचा कहाँ जाय, खपे कहाँ ? तब आवश्यकता पड़ती है कि उन देशों को ग़ुलाम बनाया जाय जिनमें विज्ञान का बल नहीं है और उनमें अपने देश का माल खपाया जाय। जो देश इस तरह मशीनों के सहारे माल बना-बना कर उपनिवेशों में खपाते हैं, उनमें प्रतियोगिता रहती है। प्रत्येक देश चाहता है उसका माल अधिक खपे, उसका देश अधिक धनी हो। फलस्वरूप युद्ध होते हैं। इस दृष्टिकोण से विज्ञान ने ग़ुलाम मनुष्यों की संख्या में इतनी वृद्धि की है कि संसार की ८०-६० प्रतिशत जनसंख्या किसी न किसी प्रकार मशीनों की ग़ुलाम है। परन्तु यहाँ भी दोष विज्ञान का नहीं उसके दुरुपयोग का है। क्या उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण नहीं हो सकता ? क्या यह आवश्यक है कि उससे अधिक माल बनाया जाय जितना देश को आवश्यकता है ? क्या वास्तव में दोष मशीनों का है, मनुष्य के कुसंस्कारों और उसके अवैज्ञानिक दृष्टिकोण का नहीं ?

कुछ लोग यह कहते हैं कि विज्ञान ने भौतिक सुखों की वृद्धि करके मनुष्य की आवश्यकताओं को बढ़ा दिया है और आज

दशा यह है कि कोई भी मनुष्य सुखी नहीं है, यह दृष्टिकोण भी ठीक नहीं है। यह कोई बात नहीं कि मनुष्य की शांति और सुख के लिये यह आवश्यक हो कि उसकी आवश्यकताएँ सीमित रहें। जहाँ आवश्यकताएँ थोड़ी हैं, वहाँ भी मनुष्य संताप से नहीं रहता। दुःख का विषय यह है कि सुख के साधनों के वितरण में संतुलन नहीं है, वैषम्य है। इससे ईर्ष्या, द्वेष, स्पर्धा एक शब्द में अशांति का जन्म होता है। राष्ट्रीय नियंत्रण से असंतुलन दूर किया जा सकता है। विज्ञान तो मनुष्य को सुख और शांति के ही उपहार लाया है, परन्तु मनुष्य ने उन पर विष चढ़ा दिया है। यह भी दोष दिया जाता है कि भौतिक सुखों की इच्छा से भौतिक-वाद का जन्म हुआ है और मनुष्य ने ईश्वर, आत्मा, श्रद्धा, विश्वास जैसे दैवी गुणों को भुला दिया है। आज अविश्वास और अश्रद्धा का राज है। लोग "चार्वाक-पंथी" हो रहे हैं। धर्म की मिट्टी पलीद है। परन्तु दोष फिर गलत दृष्टिकोण का है। विज्ञान जहाँ समाप्त होता है, वहाँ अश्रद्धा नहीं रहती, श्रद्धा ही रहती है। महान् वैज्ञानिक तो आस्तिक ही होते हैं।

संसार सतत् प्रगतिशील है। आज हम वैज्ञानिक अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर एक दूसरे का गला काटने के लिए निकले हैं। इसी से हम कहते हैं दोष हमारा नहीं, विज्ञान का है। धीरे-धीरे जब वैज्ञानिक दृष्टिकोण का पूर्ण विकास हो जायगा और धर्म-दर्शन, समाज-नीति और राष्ट्रनीति जब विज्ञान की ज्योति में शुद्ध होकर गृहीत होंगी तब विज्ञान से हित ही हित होगा, अहित नहीं।

६३ स्त्रियों के लिए शिक्षा का पाठ्यक्रम

(१) प्रस्तावना। (२) स्त्रिशिक्षा का पूर्व और परिचय में संक्षिप्त

इतिहास और उसका आधुनिक स्वरूप । (३) स्त्रियों का कार्यक्षेत्र तथा स्वतन्त्र पाठ्यक्रम की आवश्यकता । (४) पाठ्यक्रम । (५) उपसंहार ।

प्रसन्नता है कि आज मध्ययुगीन विडंबना समाप्त हो गई, जिसमें स्त्रियों के लिए शिक्षा का प्रायः प्रश्न ही नहीं उठता था और कवि शिरोमणि तुलसीदास जैसे साधु भी स्त्रियों को ढोल और पशुओं की श्रेणी में रखकर संतोष की साँस लेते थे। इधर पश्चिम के संपर्क से और अपनी प्राचीन वैदिक परंपरा के परिचय से हमारी आँखें खुली हैं और अब हम स्त्रियों को भी मानव समझने को बाध्य हुए हैं।

भारत में वैदिक कालीन नारियों में पुरुषों की भाँति ही शिक्षा का प्रचार था। वे पुरुषों के साथ-साथ ऋचाओं की रचना तक करती थीं पर उनके लिए किसी विशिष्ट पाठ्यक्रम का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। बौद्धकाल में कुछ इसका आभास अवश्य मिलता है पर बहुत बहुत स्पष्ट नहीं। पश्चिम में ग्रीकों और यूनानियों में स्त्रियों के स्वतंत्र पाठ्यक्रम का उल्लेख अवश्य मिलता है पर मध्ययुग में वहाँ भी स्त्रियों का स्थान प्रायः गिर गया और इसी कारण रूसो आदि ने जहाँ एक ओर पुरुषों की शिक्षा में युगांतर उपस्थित किया, नारियों के विषय में कुछ भी नहीं लिखा। फिर भी आधुनिक युग के सर्वांगीण जागरण में वहाँ की नारियाँ भी जगीं और उनकी शिक्षा में काफी उन्नति हुई। वहाँ स्त्रियों के लिए कुछ अंशों में पृथक् पाठ्यक्रम है तो, पर पुरुषों की समता करने की भावना के कारण वे प्रायः पुरुषों या लड़कों के साथ उनकी ही पढ़ाई पढ़ने में अधिक गौरव का अनुभव करती हैं। संसर्गतः वह भावना भारतीय नारियों में भी आ गई है जो यूरोप की भाँति ही कुछ हद तक लाभप्रद तथा कुछ हद तक हानिप्रद है।

आज भारत में स्त्रियों की शिक्षा पर काफी जोर दिया जा रहा है और इस क्षेत्र में सफलता भी पर्याप्त मिली है पर अभी तक उनके लिए किसी स्वतंत्र पाठ्यक्रम का निश्चय नहीं हुआ है। लड़कों के साथ ही लड़कियाँ भी प्रायः एक ही विषय पढ़ती हैं। यहाँ स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि क्या लड़कों और लड़कियों के लिए एक पाठ्यक्रम उपयुक्त है ?

प्रस्तुत प्रश्न पर विचार करने के लिए शिक्षा के उद्देश्य पर विचार कर लेना आवश्यक है। सीधे और स्पष्ट शब्दों में यदि रखा जाय तो शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य जीवन को अधिक से अधिक सफल बनाना है। दूसरे शब्दों में मनुष्य चाहे जिस भी क्षेत्र में रहे यदि शिक्षित है तो अशिक्षितों की अपेक्षा अपने पथ पर अधिक सफल रहेगा। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि व्यक्ति के कार्य-क्षेत्र में सहायता पहुँचाने वाली शिक्षा ही यथार्थ शिक्षा है। यदि यही बात है तो क्या स्त्रियों और पुरुषों का कार्य-क्षेत्र बिलकुल एक है ? कदापि नहीं। कुछ अपवादों, विशिष्ट पुरुषों और विशिष्ट महिलाओं को छोड़ दें तो स्त्री और पुरुष के क्षेत्र स्पष्टतया दो हैं। एक घर की रानी है तो दूसरा बाहर का कर्मठ। प्रकृति और स्वाभाव में भी दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है। ऐसी परिस्थिति में दोनों को एक प्रकार की शिक्षा देना किसी भी दशा में उचित नहीं कहा जा सकता। यह तो वैसी ही बात होगी जैसे किसी रणस्थल में काम करने वाले सिपाही को दर्जी का काम सिखाया जाय। इन बातों तक सोच लेने के बाद हम निर्विवाद रूप से कह सकते हैं कि स्त्रियों का पाठ्यक्रम पुरुषों से भिन्न होना चाहिए।

इस पाठ्यक्रम के निर्धारण के लिए स्त्रियों के कार्यक्षेत्र पर एक दृष्टि दौड़ा लेनी होगी। कुछ विशिष्ट अवसरों को छोड़कर

स्त्रियाँ घर में ही रहती हैं और घर के ही विभिन्न कार्यों से उनका साबक़ा पड़ता है। इन कार्यों को मोटे रूप में ३ वर्गों में रक्खा जा सकता है। प्रथम वर्ग तो निर्माण या बनाने का है। इसके अंतर्गत प्रमुखतः खाने और पहनने की चीजों का बनाना आता है। दूसरा वर्ग सजावट तथा सफाई आदि का है। इसमें घर तथा वस्तुओं की सफाइ, रंगाई, कढ़ाई तथा सजावट के अन्य छोटे-मोटे कार्यादि आते हैं। तीसरा वर्ग लालन-पालन का है जिसमें गर्भ पालन और शिशु पालन से लेकर मरीज तक को पालना तथा साधारण दवा-दारू देना आता है। मरीज की परिचर्या, ऋतु के अनुकूल वातावरण आदि भी इसी में आता है। कहना न होगा कि यदि स्त्रियाँ इन तीन कार्यों में पटु हों तो अपने जीवन में काफी सफल हो सकती हैं।

अब यह स्पष्ट है कि स्त्रियों का पाठ्यक्रम प्रधानतः इन्हीं विषयों का होना चाहिए। प्रयाग महिला विद्यापीठ ने इस सम्बन्ध में अभूतपूर्व और बहुत श्लाघ्य कार्य किया है। थोड़े बहुत परिवर्तन से उसे यदि हमारा शिक्षा विभाग स्वीकार कर ले तो क्या ही अच्छा हो ? हाई स्कूल और इंटरमीजिएट के पाठ्यक्रमों में इधर कुछ साधारण परिवर्तन हुआ है, पर उसे और भी स्त्रियों के उपयुक्त बनाने की आवश्यकता है। विभिन्न कक्षाओं या श्रेणियों के स्तरों का विषय यहाँ न उठाकर पाठ्यक्रम के विषयों का उल्लेख कर निबन्ध समाप्त किया जा सकता है।

ऊपर स्त्रियों के प्रधान कार्यक्षेत्र का उल्लेख किया जा चुका है। उसके लिए स्वास्थ्य विज्ञान, साधारण चिकित्सा, फर्स्टएड, साधारण शरीर विज्ञान, कपड़ों की कटाई, सिलाई, सफाई और रँगाई, बेलबूटों की कढ़ाई, चित्रकला, संगीतकला, भोजन तथा विभिन्न प्रकार के अँचार मोरब्बों आदि का बनाना साधारण

गणित, इतिहास, भूगोल, नागरिक शास्त्र, अर्थशास्त्र तथा साहित्य विषय पर्याप्त होंगे। संक्षेप में स्वास्थ्य शास्त्र; वस्त्र शास्त्र तथा पाकशास्त्र उनके अपने विशिष्ट विषय तथा चित्र कला, संगीत कला, साधारण गणित, इतिहास, अर्थशास्त्र, भूगोल, नागरिक शास्त्र तथा साहित्य लड़कों के विषय, स्त्रियों के पाठ्यक्रम में सम्मिलित किए जाने चाहिए। इनमें प्रथम तीन विषयों में तो उनको अधिक से अधिक पटु बनाना चाहिए और शेष में साधारण ज्ञान करा देना चाहिए।

अंत में कहा जा सकता है कि यदि ये विषय उन स्त्रियों को ठीक से पढ़ा दिए जायँ तो प्रत्येक घर की गृहस्थी उचित ढंग से सँभालने में वे सफल होंगी तथा कम से कम खर्च में घर के जड़ और चेतन को सुन्दर, स्वस्थ्य, साफ और प्रसन्न रक्खेंगी। आशा है, हमारा शिक्षा विभाग इधर शीघ्र ध्यान देगा।

६४. शिक्षा और जीवन

(१) भूमिका (२) शिक्षा का इतिहास (३) मध्ययुग में शिक्षा का धर्म से विच्छेद (४) आज शिक्षा जीवन-यापन के ही लिये हो गई है (५) शिक्षा के तीन उद्देश्य--आचरण निर्माण, ज्ञान साधन, जीविकोपार्जन (६) आधुनिक शिक्षा की आवाज है--"जीविकोपार्जन के लिये पढ़ो" (७) परिस्थिति की दैन्यता (८) प्राचीन शिक्षा में "ब्रह्मचारी" का आदर्श और नवीन शिक्षा का थोथा पंडित।

शिक्षा और जीवन का कोई-न-कोई संबंध सहस्रों वर्षों से चला आ रहा है, परन्तु अब भी हम इनके विषय में कोई सर्वमान्य सिद्धांत स्थिर नहीं कर सके हैं। शिक्षा और जीवन में किस प्रकार का संबंध हो, कितना संबंध हो ? प्राचीनों ने इस समस्या को समझा था, परन्तु उनके सामने उस प्रकार की कठिन समस्याएँ नहीं थीं, जितनी हमारे सामने हैं। अतः उन्होंने

समस्या को जिस प्रकार हल किया है, हमारे लिए वह उपादेय नहीं कि हम भी उसे उसी प्रकार हल करें।

पहले शिक्षा का रूप धार्मिक था। अर्थ-साधन से उसका कोई विशेष संबंध न था। वेद, ब्राह्मण, उपनिषद, दर्शन—इनका विषय धर्म और दर्शन है। साधारण मनुष्य को इन ग्रंथों का ज्ञान अप्राप्य था। उनके जीवन-यापन में इनसे किसी प्रकार की सहायता नहीं मिलती थी। हाँ, धर्म-भावना के क्षेत्र में इन ग्रंथों की सामग्री से उनका परिचित होना आवश्यक था। इसके लिए यह आवश्यक नहीं था कि इन्हें स्वयं पढ़े। अतः ब्राह्मण कवि की योजना हुई जो इन पुस्तकों की सामग्री को अक्षुण्ण बनाये रखता। इन्हें कंठस्थ करके और जनता तक पहुँचाता। धर्म-संबंधी तर्क कुतर्क, अध्ययन-अध्यापन और तत्त्वचिन्तन उसी तक सीमित था। राजा जनक और विश्वामित्र जैसे क्षत्रिय भी इन पर अधिकार कर लेते थे, परन्तु तब वह ब्राह्मणत्व को प्राप्त हो जाते थे। साधारण जनता की शिक्षा उन्हें लौकिक जीवन के लिए ही तैयार करती थी। पता नहीं, राज्य से इस प्रकार की शिक्षा की कोई व्यवस्था होती थी या नहीं, परन्तु कदाचित् यह कलाकौशल-व्यवसाय-सम्बन्धी शिक्षा पिता से पुत्र को मिलती थी या गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा। राज्य की ओर से इसकी व्यवस्था नहीं थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि साधारण जीवन और शिक्षा में, जहाँ तक ब्राह्मणेतर वर्णों का सम्बन्ध था, कोई खाई नहीं थी। चरित्र-बल पर अधिक बल दिया जाता है, विशेष कर क्षत्रिय और ब्राह्मण वर्णं में।

मध्ययुग में संसार में शिक्षा का धर्म से विच्छेद हो गया। सामन्ती राज्यों और साम्राज्यों का ऐश्वर्य शिखर पर था। काम चलाने के लिए नौकरी पेशा वर्ग की आवश्यकता पड़ती

थी। धर्म का महत्त्व उतना अधिक नहीं रहा था जितना पहले था यद्यपि राज्य और धर्म का अभी सम्पूर्णतः अलगाव भी नहीं हुआ था। राज्य धर्म-शिक्षा का प्रबन्ध करते थे और प्रोत्साहन देते। भारतवर्ष में मुसलमान राजाओं और सम्राटों ने मुसलमान धर्म की शिक्षा के लिए विशेष प्रबन्ध किया, खानकाहों और मकतबों को आर्थिक चिन्ता से मुक्त किया, परन्तु हिन्दू धर्म की शिक्षा पंडितों, हिन्दू राजाओं के आश्रमों और काशी जैसे विद्या केन्द्रों में दान के आश्रय में ही चलती रही। हिन्दू भी नौकरी के लिए फारसी-अरबी पढ़ते थे। नौकरी ही जहाँ ध्येय हो, वहाँ शिक्षा से आचरण का कोई सम्बन्ध न होना चाहिए। यही हुआ। मध्ययुग में शिक्षा का सम्बन्ध रोटी से हो गया और चरित्र-निर्माण से दृष्टि हटा ली गई। नौकरी की चाह में ब्राह्मणों और कायस्थों के एक बड़े दल ने मुसलमान भाषा, साहित्य और संस्कृति से अपने आपको रंग लिया।

यह परिस्थिति बहुत कुछ अभी तक चली जा रही है। परन्तु भेद भी है। अब भी नौकरी के लिए ही शिक्षा चलती है, परन्तु कला-कौशल और व्यवसायों की शिक्षा का भी प्रबन्ध है। कार्य-विभाजन की जिस भावना पर वर्णाश्रम की संस्था टिकी हुई थी उसका लोप हो चुका है। इसी से कला-कौशल और व्यवसायों की शिक्षा सरकारी और अर्ध सरकारी हो गई है। शिक्षा में धर्म, संस्कृति और चरित्र-निर्माण का कोई स्थान नहीं। ज्ञानप्राप्ति ही ध्येय हो, यह-बात भी नहीं। थोड़ी शिक्षा का अन्त नौकरी है तो उच्च शिक्षा का ध्येय भी राजकर्मचारी, शिक्षक या डाक्टर पैदा करना ही है।

साधारणतः शिक्षा के तीन उद्देश्य हो सकते हैं—आचरण-निर्माण, ज्ञानसाधन, जीविकोपार्जन। आज आचरण या चरित्र-

निर्माण का शिक्षा में कोई स्थान नहीं; धर्म का शिक्षा से विच्छेद हो गया है और धार्मिक शिक्षा से ही चरित्र का निर्माण सम्भव था। इसीलिए अनेक शिक्षितों का यह प्रतिदिन का कार्य हो गया है कि दूसरों को छलें, आत्म-प्रताड़न द्वारा प्रसन्न हों और दुराचर को विहित सिद्ध करें। शिक्षा और आचरण के इस भेद ने अत्यन्त विषम परिस्थिति उत्पन्न कर दी है। ज्ञान-साधन के रूप में शिक्षा की प्राप्ति केवल कुछ व्यक्तियों तक ही सीमित है, वह भी अर्थोपार्जन से असंबन्धित नहीं है। जितनी उच्चशिक्षा, जितनी अधिक ज्ञान-साधना, उतना अधिक रुपया मिलेगा। इस प्रकार ज्ञानसाधन में आदर्श वैश्य का रह गया है, नितान्त व्यवसायिक; ब्राह्मण का आदर्श आज ढूँढ़े नहीं मिलेगा। प्रधानता "जीविकोपार्जन के लिए पढ़ो" वर्ग की है। आज सारी शिक्षा व्यवस्था अर्थ की दौड़ रही है। उसका सीधा सम्बन्ध न आत्मा की पुष्टि से है, न देह की पुष्टि से, न मन की पुष्टि से—रुपये और रुपये द्वारा खरीदे हुए सांसारिक सुखों और ऐश्वर्यों से है।

स्पष्ट है कि आज शिक्षा का सम्बन्ध केवल जीविकोपार्जन से है, परन्तु क्या जीविकोपार्जन ही जीवन है? शिक्षा-शास्त्रियों का वर्ग ऊँचे ऊँचे आदेश सामने रखता है—स्वस्थ, उन्नतमना, ज्ञानी चरित्रबल से युक्त नागरिक का निर्माण हमारी शिक्षा का ध्येय हो, परन्तु जब वह व्यवस्था करने लगता है तो हॉकी-क्रिकेट-टेनिस, पाठ्यपुस्तकों और परीक्षाओं तक ही बँध कर रह जाता है। आज जाना कठिन हो गया है। सब चीजें मँहगी हैं। नौकरी पर गुजारा करना होता है। अतः जीवन रोटी के युद्ध में ही कट जाता है। स्वास्थ्य, ज्ञानवृद्धि और चरित्रबल की बात अकाशकुसुम की कल्पना के समान है। जब तक रोटी की समस्या का ठीक-ठीक हल नहीं हो जाता, जब तक राजनैतिक शक्तियाँ

जनता के हाथ में नहीं आतीं, तब तक न अर्थ का समविभाजन संभव है, न रोटी की समस्या ही हल होती है। तब तक स्वस्थ, उन्नतमना, ज्ञानी, चरित्रबल से युक्त नागरिक कल्पना के हिंडोल में ही झूलता रहेगा।

हमारे यहाँ जिस 'ब्रह्मचारी' की कल्पना हुई थी, उसे सत्य बनाया गया था। प्राचीन ब्रह्मचारी में चाहे नागरिक भाव उत्पन्न न हुए हों, परन्तु वह स्वस्थ, उन्नतमना और चरित्र बल से बली होता था। यह तब सम्भव था जब उसकी शिक्षा-दीक्षा के लिए राज्य से प्रबन्ध होता था या गुरुकुल आश्रम में रह कर वह निःशुल्क ही नहीं, भोजन की चिन्ता से भी मुक्त, ज्ञान और धर्माचरण की शिक्षा प्राप्त करता था। अब शिक्षा और पैसे का अटूट सम्बन्ध स्थापित हो चुका है शिक्षकों को प्रत्येक पहली तारीख को सौ, दो सौ, चार सौ, आठ सौ पाने से मतलब। विद्यार्थी स्वयं तो किसी योग्य नहीं होता, उसके जननी-जनक को प्रत्येक पहली को आठ, दस, पन्द्रह रुपये शिक्षक के चरणों में "पत्र-पुष्प" के रूप में रख देने होते हैं। शिक्षक और विद्यार्थी का यह व्यावसायिक सम्बन्ध शिक्षा-भवन तक ही बना रहा, सत्संग के और सब द्वार उसके लिए बन्द हैं। गुरुपत्नी उसके लिए भोजन की थाली परोस कर नहीं बैठती। फलतः, विद्यार्थी शिक्षाभवन से कोरा ज्ञान, ज्ञान भी कहाँ थोथा पांडित्य-प्रदर्शन का भाव लेकर लौटता है। आचरण सीखने का न उसे अवकाश होता है, न शिक्षक ही मिलते हैं। उच्च शिक्षा पाने के लिये जो युवक दूर दूर विश्वविद्यालयों में जाते हैं, वे अपने कुटुम्ब के नितप्रति के व्यवहारों को भूल जाते हैं और आचरण विषयक शिक्षा-दीक्षा के लिये इन्हें अवकाश ही नहीं मिलता। इसलिये वे समाज में रहते

हुए भी प्रत्येक पीढ़ी में उससे दूर होते जाते हैं। हमारे प्राचीन कवियों ने जिस ब्रह्मचर्य को तप माना है।

न तपस्तपइत्यहुर्ब्रह्मचर्यं तपोत्तमुम्।
ऊधरेता भवेद्यस्तु स देवी नतु मानुषः॥

और शिक्षा का केन्द्र बनाया है, उसका तो आज की शिक्षा से कोइ सम्बन्ध नहीं। आज की शिक्षा में केवल थोथी बुद्धि का पांडित्य प्रदर्शन है, न ज्ञान की गरिमा है, न आचरण की उज्ज्वलता, न आत्म-बल की प्रेरणा। आज जो शिक्षा हमें मिल रही है, उसे जीवन की शिक्षा से क्या सम्बन्ध? वह तो किताबी शिक्षा है। किताबी शिक्षा-प्राप्त युवक जब जीवन के सामने आता है तो अपने हथियार डाल देता और श्री ए० माधवैया के शब्दों में प्रार्थना करता है--

"हे ईश्वर! हम तुझसे बुद्धि नहीं माँगते, क्योंकि तेरी दया से हमें बुद्धि मिली ही है। हमारी सबसे बड़ी कमी है बुद्धि के अनुरूप काम करने की शक्ति का अभाव।

हे दयामय! हमें कर्मवीर बना दे, जिससे कि हम अपने सिद्धान्तों को काम में ला सकें।"

वास्तव में, जो शिक्षा हमें "कर्मवीर" नहीं बनाती, जीवन से लोहा लेने के लिए तैयार नहीं करती, जो हमें स्वप्नद्रष्टा, अकर्मण्य और अव्यावहारिक बना देती है, जिसके सहारे हम अपने पैरों पर खड़ा नहीं हो सकते, वह शिक्षा और जो कुछ भी है, सच्ची शिक्षा नहीं है।

६५. उपन्यास पाठ से हानि-लाभ

(१) मनोरंजन (२) जिज्ञासा वृत्ति की तृप्ति (३) आनन्द-मूलक साहित्य से ठोस हानि-लाभ की आशा नहीं की जानी चाहिये (४) उपन्यास-पाठ से कुछ अन्य लाभ—रसानुभूति, सहानुभूति का

विस्तार, संवेदना का तीव्र और कोमल हो जाना, मानव-चरित्र का परिचय (५) उपन्यास-पाठ से हानियाँ—समय और शक्ति का दुरुपयोग, एक ऐसे वातावरण में रहने लगना जो जीवन से मेल नहीं खाता, अपरिपक्व भावुक हृदयों का चारित्रिक पतन संभव है (६) उपसंहार।

साधारणतः उपन्यास पढ़ने का उद्देश्य मनोरंजन होता है। 'एक राजा था, एक रानी थी, वे निःसन्तान थे" दादी नानी बच्चों को इस प्रकार की कहानियाँ सुनाया करती हैं। इनका उद्देश्य होता है कौतूहल की उत्पत्ति और फिर कुतूहली वृत्ति की तृप्ति। जब कहानी शुरू कर दी जाती है तो सुनने वाला चाहे बच्चा हो या प्रौढ़, सुनाने वाले से यही आशा की जाती है कि वह बराबर घटनाओं की शृंखला बाँधता चलेगा और सुनने वाले की कुतूहलवृत्ति को जागृत रखेगा। "आगे क्या होता है, देखें।" कहानी सुनने वाला यही चाहता है। उसके लिए कब, क्यों, कैसे आते ही नहीं। इसी सतत् जागृत जिज्ञासा और उसकी बराबर तृप्ति के कारण श्रोता का मन कहानी में लग जाता है। अतः मनोरंजन के मूल में श्रोता की "आगे क्या? फिर क्या है?" यह जिज्ञासावृत्ति ही है।

मनोरंजनकारी होना स्वतः एक बड़ा गुण है। जब हम दिन भर के परिश्रम से थक जाते हैं या किसी वैज्ञानिक वार्त्ता से हमारा मन उचट जाता है तो हम उपन्यास उठाते हैं और उसे पढ़ डालते हैं। थोड़ी ही देर में हम तन्मयता से उपन्यास पढ़ने में लग जाते हैं और जब हम उपन्यास समाप्त कर चुकते हैं तो हम में नयी स्फूर्ति जगी मिलती है। ताश, शतरंज, कैरम आदि कितने ही घरेलू मनोरंजन हैं। उपन्यास भी इसी श्रेणी की वस्तु है—कम-से-कम जहाँ तक मनोरंजन का प्रश्न है, वहाँ तक उससे हमारी कुतूहलवृत्ति भी शान्ति पाती है।

परन्तु उपन्यास की मनोरंजकता को हानि-लाभ की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। शुद्ध हानि-लाभ की दृष्टि से विचार करें तो उपन्यास ही क्या समस्त आनन्दमूलक साहित्य तुच्छ निकलेगा। पंजाब में प्रेमचंद गये तो एक पंजाबी सज्जन ने उन्हें बताया कि उसने उनकी एक कहानी पढ़ कर, अपना आचरण उसके नायक के अनुकूल बनाकर, सहस्रों की सम्पत्ति इकट्ठी कर ली है। परन्तु ऐसे उदाहरण बहुत कम हैं, अपवाद हैं। उपन्यास या कहानी पढ़कर कोई बड़ा व्यवसायी नहीं हो जाता। उपन्यास या कविता के पाठ से लाभ ही क्या है ? श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने मेघदूत के सम्बन्ध में लिखते हुए कहा है कि शुद्ध उपयोगितावाद की दृष्टि से मेघदूत पढ़ने से इतना ही लाभ हो जाता है कि हम निश्चयपूर्वक जान जाते हैं कि आषाढ़ का पहला दिन कालिदास के समय में ही निश्चित अवधि पर आता था। परन्तु यहाँ हमें इस तरह की उपयोगिता पर विचार नहीं करना है। हमें यह देखना है कि उपन्यास पाठ से पाठक की बुद्धि को क्या मिलता है, हृदय क्या पाता है। सबसे पहला लाभ है रस की अनुभूति। उपन्यास के रसपूर्ण स्थल रसानुभूति प्रदान करने में उतने ही सफल होते हैं जितने महाकाव्य के रसपूर्ण प्रसंग। वह आनन्द जो हमें रस की अनुभूति से मिलता है, मनोरंजन की श्रेणी का नहीं है—उसे "ब्रह्मानन्द सहोदर" कहा गया है। दूसरा लाभ है सहानुभूति का विस्तार। उपन्यास में हम बहुत से ऐसे श्रेणी के लोगों से परिचित होते हैं जिन से हम जीवन में परिचय प्राप्त नहीं करते। हम देखते हैं कि उनमें भी वही प्रवृत्तियाँ काम कर रही हैं जो हममें काम कर रही हैं। प्राचीन महाकाव्यों और नाटकों में राजा-महाराज विषय बनाये जाते थे। ग्रीक नाटकों में इन विशेष व्यक्तियों के जीवन को

दुखान्त बनाकर जनता की संवेदना तीव्र की जाती थी। आज के उपन्यास और नाटकों के विषय हैं क्षुद्र, उपेक्षित! उनका जीवन दुखान्त ही दिखाया जाय, इस पर भी कलाकर को कोई आग्रह नहीं है। परन्तु दोनों अवस्थाओं में हमारी सहानुभूति अपने ही भाँति के दूसरे इतर वर्ग के प्राणियों को स्पर्श करती है। इससे यह लाभ होता है कि हमारी मनोवृत्तियाँ कोमल हो जाती हैं और हम प्रतिदिन के जीवन में अधिक सहनशील हो जाते हैं। चौथा लाभ है कि उपन्यास के द्वारा हम मानव-चरित्र से परिचित हो जाते हैं। प्रेमचन्द की दृष्टि में "मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।" भावी उपन्यास की रूपरेखा का अनुमान लगाते हुए वे कहते हैं—"यों कहना चाहिए कि भावी उपन्यास जीवन-चरित होगा चाहे किसी बड़े आदमी का या छोटे आदमी का। उसकी छुटाई-बड़ाई का फैसला इन कठिनाइयों से किया जायगा कि जिन पर उसने विजय पाई है। हाँ, वह चरित्र इस ढंग से लिखा जायगा कि उपन्यास हो।" इस प्रकार उपन्यास पढ़ कर हम मानव के मूल मनोविज्ञान, मनुष्य-मनुष्य की विभिन्नता और साम्य और उज्ज्वल चरित्रों के विश्लेषण से ही लाभ नहीं उठा सकेंगे, हमें उनसे वह बल, उत्साह, शिक्षा और समर्थन मिलेगा जो जीवन-चरित्र पढ़ने से मिलता है।

उपन्यास पढ़ने से ही हानियाँ भी हैं परन्तु वास्तव में प्रत्येक अच्छी वस्तु का दुरुपयोग हो सकता है और हानि की आशंका हो सकती है। उपन्यास के विषय में भी यही बात लागू है। सच तो यह है कि ऊँचे दरजे के उपन्यास पढ़ने से कोई भी हानि नहीं है, लाभ ही लाभ है। हानि का प्रश्न उसी समय उठता है जब दूसरी और तीसरी श्रेणी के उपन्यासों के पठन-पाठन की

बात आती है। सबसे बड़ी हानि है कि पाठक एक ऐसे वातावरण में रहने लगता है जो जीवन से मेल नहीं खाता और जहाँ जीवन में उसे उपन्यास में पढ़ी बातों के विरुद्ध अनुभव हुए, वह एकदम हताश हो जाता है। संतोष का विषय है कि आज का उपन्यासकार जोवन के अधिक निकट आ गया है। वह सब कल्पना ही नहीं लिखता। ऐयारी, तिलिस्मी, जासूसी उपन्यासों का चक्र चला गया। अब भी ऐसे उपन्यास पढ़े जाते हैं; परन्तु मनोरंजन को छोड़ कर उनसे कोई लाभ ही नहीं है। कभी-कभी ऐसे कुतूहल-मूलक घटना-वैचित्र्य प्रधान उपन्यासों के पढ़ने की चाट लग जाती है। यह निःसन्देह हानि-कारक है। इसमें समय का अपव्यय और शक्तियों का ह्रास अवश्यंभावी है। उपन्यास जीवन का चित्र है उसका प्रभाव पाठक के हृदय पर सीधा पड़ता है। अतः उपन्यासों के चुनाव के सम्बन्ध में भी सतर्क रहना चाहिये। कच्ची आयु के युवती-युवक ऐसे उपन्यास पढ़ सकते हैं जो उन्हें नाश के पथ पर बढ़ा दें, उनकी वासनाओं को प्रदीप्त कर दें अथवा उनमें रोमांस की प्रवृत्ति जगा दें। जीवन में विलास भी है, वासना भी है, रोमांस भी है। उपन्यासकार से हम यह नहीं कह सकते कि वह नैतिकता को ओढ़ कर जीवन के इन अंगों का तिलांजलि ही दे दें। परन्तु यह भी सत्य है कि कभी-कभी ऐसे उपन्यास ऐसे बालकों के हाथ में पड़ जाते हैं जिनके संस्कार अभी बन नहीं पाये हैं और जिनकी बुद्धि परिष्कृत नहीं है। फल यह होता है कि वे पथभ्रष्ट हो जाते हैं अथवा अकाल-परिपक्व होकर नाश को प्राप्त होते हैं। यह अभिभावकों का काम है कि वह अपने बालकों के लिए उपयुक्त उपन्यास चुन लें। यहाँ दोष उपन्यास का नहीं, दोष चुनाव का है।

हमारे समाज में उपन्यास-कहानी की उपयोगिता अब भी स्वीकृत नहीं हुई है। अच्छे उपन्यास की सबसे बड़ी सार्थकता यही समझी जाती है कि वह पाठ्य पुस्तक बन जाये। छोटी कक्षाओं में तो उपन्यास का पठन-पाठन होता ही नहीं, बड़ी कक्षाओं में भी विद्यार्थी का अध्ययन एक दो उपन्यासों से बाहर नहीं आ पाता। घर में अभिभावक लोग उपन्यास देख कर इस प्रकार चौंकते हैं जैसे बिच्छू ने काट लिया। कारण यह है कि वे स्वयं ऊँची श्रेणी के उपन्यास साहित्य से परिचित नहीं हैं और "किस्सा साढ़े तीन यार" और "सिंहासन बत्तीसी" के युग में पल कर आधुनिक उपन्यास की सार्थकता—विशेष कर जहाँ तक उनके बालकों का सम्बन्ध है—उनकी समझ में किसी भी प्रकार नहीं आता। फलस्वरूप बालक मनोरंजन के लिए ऐसे उपन्यास पर हाथ डालता है जिसके विषय के सम्बन्ध में उसे पता नहीं। वह उसे अपने अभिभावक से चुरा कर पढ़ता है और बिगड़ता है। इस बात में भी बहुत कुछ सत्य है कि हमारी अपनी भाषा में ऐसे उपन्यास ही बहुत कम हैं जो बालकों को दिये जा सकें। जो हो, परिस्थिति को सँभालना होगा। अभिभावकों को उपन्यास की उपादेयता स्वीकार करनी होगी और अच्छे उपान्यासों को चुन कर उन्हें बालकों को देना होगा जिससे उनके समय और शक्ति का अनुचित व्यय न हो।

६६. पुस्तकों का आनन्द

(१) भूमिका (२) पुस्तकों के आनन्द को हम "पुस्तक सर" कह सकते हैं (३) पुस्तकों द्वारा ज्ञान प्राप्ति ("दर्शन") का आनन्द (४) पुस्तकों द्वारा विभिन्न प्रकार का रसानुभूति को प्राप्ति (५) रसधर्मी साहित्य में ज्ञानमूल आनन्द—बाल्मीकि के ग्रन्थ का उदाहरण (६) पुस्तकों के आनन्द का वर्गीकरण और उपसंहार।

पाठकों का एक वर्ग ऐसा है जो "आनन्द देने वाली पुस्तकों से उपन्यास; कथा-कहानी, यात्रा-चमत्कार से सम्बन्ध रखने वाली पुस्तकें समझ लेगा और कहेगा—"इसमें झूठ क्या है। पुस्तकों से बड़ा आनन्द मिलता है। हमने चंद्रकांता पढ़ी, भूतनाथ पढ़ा। कैसा जी लगता था। वाह!" उसकी पुस्तक-सम्बन्धी धारणा कथा-कहानियों तक ही चक्कर लगा पाती है। परन्तु किस्से-कहानियाँ पुस्तक भांडार का केवल एक भाग मात्र हैं।

सच तो यह है कि कितने ही मनुष्यों को चन्द्रकान्ता और भूतनाथ में कोई रस नहीं मिलता, परन्तु रामायण, महाभारत या लीलावती में वह इस प्रकार लग जाते हैं जैसे इनमें उन्हें बड़ा आनन्द आ रहा हो। इसलिए यह स्पष्ट है कि पुस्तकों का आनन्द कथा-कहानी तक सीमित नहीं है। वह व्यापक वस्तु है। यदि हम स्वतन्त्र होते तो यह कह सकते थे कि इस व्यापक वस्तु को हम रसश्रेणी में रखेंगे और "पुस्तक रस" कह कर पुकारेंगे। यही रस साहित्य के नव रसों से पहले आयेगा क्योंकि इसके बिना तो उन नौ रसों तक पहुँचा ही नहीं जा सकता। साहित्य के सब रस पुस्तक रस के बाद आते हैं।

यह दुर्भाग्य की बात है कि हमने पुस्तकों के आनन्द को अब तक कोई नाम दिया, इससे हमारी अकृतज्ञता ही सूचित होती है, परन्तु नाम हो या नहीं हो, पुस्तकों का आनन्द नूतन वस्तु नहीं है। हमारे पूर्वज उससे भलीभाँति परिचित थे, इसका साक्षी वे वृहद् हस्तप्रतियाँ हैं जो ताड़पत्रों पर बड़े परिश्रम से लिखी गई हैं। ईसा से तीन सहस्र वर्ष पहले का जो साहित्य हमारे सामने आज भी उपस्थित है, उसके मूल में यही पुस्तकों का आनन्द है। "पुस्तकें" क्या हैं? लिपिबद्ध ज्ञान या रसानुभूति। यह ज्ञान और रसानुभूति लिपिबद्ध न होकर कंठगत भी हो सकती थी।

सहस्रों वर्षों तक वह इसी रूप में रही। अंत में ताम्रपत्र, तालपत्र या ताड़पत्र पर हमारे सामने आई। अब पुरानी पोथियों के रूप में हमारे पास हैं। आज तो मुद्रणयंत्र के आविष्कार के कारण नित्यप्रति सहस्र-सहस्र पुस्तकें हमारे सामने आती हैं और खप भी जाती हैं। लोग खरीदते हैं, पढ़ते हैं और आनन्द लेते हैं।

मनुष्य की एक मौलिक वृत्ति, अभिन्न वृत्ति है जिज्ञासा। इस जिज्ञासा के फलस्वरूप वह जानना चाहता है। जब वह उस चीज को जान लेता है जिसे पहले नहीं जानता था तो तृप्ति का आनन्द भी उसे मिलता है—ज्ञानप्राप्ति का आनन्द। दर्शन, ज्ञान-विज्ञान, भूगोल, ज्योतिष आदि की पुस्तकों के अध्ययन के पीछे इसी ज्ञान-प्राप्ति के आनन्द का बल है। यह "दर्शन" का आनन्द है। वाजश्रवा ऋषि ने दक्षिणा में अपना सर्वस्व दे डाला। पुत्र नचिकेता ने पूछा—पिता, मुझे किसे दे रहे हो। उसके बारबार पूछने पर पिता ने चिढ़ कर कहा—मैं तुम्हें यम को दे रहा हूँ। नचिकेता यम के पास चला गया। यम से उसने ब्रह्म के सम्बन्ध में कई प्रश्न किये। यम ने तरह-तरह से फुसलाया। उसने उसे तरह-तरह के प्रलोभन दिये, परन्तु नचिकेता अटल रहा, पूछता रहा—मृत्यु के बाद मनुष्य का अस्तित्व है या नहीं, प्राणी का स्वरूप क्षणभंगुर है या नित्य तत्त्व वाला है? "नान्यो-वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् (यही बताओ यह वर सर्वातीत है)। जो दर्शन, विज्ञान और शास्त्रों के अध्ययन में आनन्द लेते हैं, उन्हें जिज्ञासा की तृप्ति के रूप में यही वरदान मिलता है।

परन्तु ज्ञान ही सब कुछ नहीं है, जीवन में अनुभूति का भी स्थान है। पुस्तकों का एक वर्ग रसानुभूति प्रदान करता है। साहित्य, काव्य, नाटक, कथोपकथन, उपन्यास, कहानी—ये

रसानुभूति के विभिन्न रूप हैं। पुस्तकों का यह वर्ग आनन्द के लिए ही पढ़ा जाता है, ज्ञान अपेक्षित नहीं है। इसके लिए आचार्यों ने नवरस और रसराज शृङ्गार की व्यवस्था की है। हम तटस्थ भाव से पात्रों में उन सब रसों की उपस्थिति देखते हैं जो हमारे अनुभूति हैं और हम उन्हें आनन्द के रूप में ग्रहण करते हैं। जहाँ पात्र नहीं हैं, जैसे गीतिकाव्य में वहाँ लेखक ही पात्र है या पाठक ही पात्र हैं क्योंकि वहाँ साधारणीकरण के नियम द्वारा पाठक और पाठ्य अभिन्न हो जाते हैं।

यह नहीं समझना चाहिये कि रसधर्मी ग्रन्थों में ज्ञानमूलक आनन्द एकदम नहीं मिलता है जो ज्ञानधर्मी ग्रन्थों का विषय है। बाल्मीकि रामायण की ही बात लीजिये। परन्तु उसमें महान् पात्रों के जीवन के परिचय का भी आनन्द मिलेगा जिससे पाठक क्षण भर के लिये उस वातावरण से कहीं ऊँचा उठ जायगा जिसमें वह स्वयं घिरा हुआ है। यही नहीं, उसे धर्म की उस अत्यन्त ऊँची भूमि से परिचित होने का आनन्द भी मिलेगा जिस पर बाल्मीकि ने कथा को प्रतिष्ठित किया है। रामायण के प्रारम्भ में बाल्मीकि पूछते हैं—चारित्र्येण च को युक्तः (चरित्र से युक्त कौन है ?) उत्तर मिलता है—राम (रामो विग्रहवान् धर्मः) जिसके सम्बन्ध में बाल्मीकि ने ही लिखा है—

यथामृतस्तथा जीवन् यथासति तथा सति।
यस्यैव बुद्धिलाभः स्यात्परितप्यैत केन च॥

धर्म की उच्चत्तम भूमि पर उठकर इस महान् चरित्र से परिचित होना भी आनन्द है। तुलसी के रामचरितमानस में रामधर्म या रामभक्ति का ही आनन्द लिया जा सकता है। कथा-संगठन का अपना स्वतः ही आनन्द है जो निश्चय ही बौद्धिक है। प्रेमचंद

या गोर्की के उपन्यासों में एक अत्यन्त परिचत जीवन से पुनः परिचित होने का आनन्द मिलता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पुस्तकों का आनन्द मुख्यतः दो प्रकार का है—ज्ञानमूलक आनन्द, रसानुभूतिमूलक आनन्द। किसी पुस्तक में इनमें से कोई एक है, किसी में दोनों का मिश्रण है। कहीं ज्ञानमूलक आनन्द की मात्रा अधिक है, कहीं रसानुभूतिमूलक आनन्द की मात्रा अधिक है। उपयोगी साहित्य में ज्ञानमूलक आनन्द की प्रधानता है, शुद्ध साहित्य में रसानुभूतिमूलक आनन्द की। परन्तु सम्प्रति अनेक वैज्ञानिक पुस्तकें ऐसी लखी गई हैं जिन्हें पढ़ने से "रोमांस" का आनन्द मिलता है। हमारे ऋषियों ने भी ज्ञान को रससिक्त करके ही जनता के सामने रखा था। संसार की अव्यक्त, अनिर्वचनीय मूलसत्ता को आज का विज्ञान स्वीकार करता है, उसी को भारतीय दर्शनशास्त्र में "अश्वत्थ" की कल्पना से सुगम कर गया है--

> अव्यक्तमूलमनादि तरुत्वच चारि निगमागम भने;
> षटकंध शाखा पंचबीस अनेक पर्न सुमग घने।
> फल जुगल बिधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आश्रित रहे,
> पल्लवत फूलत नवल नित संसार विटप नमामहे।

इस प्रकार ज्ञान को रससक्ति करने और मन के साथ-साथ हृदय को ग्राह्य बनाने का प्रयत्न बराबर चला आया है। इसी तरह रसधर्मी ग्रंथों में बौद्धिक तत्त्व की मात्रा कम-अधिक रहती ही है।

इन दोनों प्रकार के आनन्दों में भी एकता ढूँढ़ी जा सकती है। उपनिषद में कहा है--यो वै भूमा-तत सुखम् नाल्पे सुखमास्ति (भूमा में सुख है; थोड़े भी सुख नहीं है)। आनन्दधर्मा साहित्य के मूल में यही भूमा भाव है। उससे मस्तिष्क या हृदय का

विस्तार होता है। मस्तिष्क का विषय है ज्ञान, हृदय का विषय है रस। वैज्ञानिक साहित्य से ज्ञान की वृद्धि होती है, प्रज्ञा को विस्तार मिलता है। हृदयधर्मी साहित्य में सहानुभूति का विस्तार होता है। दोनों के मूल में एक ही भाव है जो आनन्द का कारण है। हम अपनी सीमाओं से बाहर निकलकर दूसरी वस्तु से परिचय प्राप्त करते हैं और उससे हृदय-मन का सम्बन्ध जोड़ते हैं।

६७ आधुनिक सभ्यता पर विज्ञान का प्रभाव

(१) "आधुनिक सभ्यता" का अर्थ क्या है?—यूरोपीय सभ्यता (२) पश्चिमी सभ्यता की विशेषता--ऐहिकता की प्रधानता। आधुनिक विज्ञान इसी सभ्यता की देन है, अतः उसने भौतिक सुविधाओं की ही बृद्धि की है (३) विज्ञान ने सांस्कृतिक और आध्यात्मिक धरातल की उपेक्षा की है फलतः हमारे हृदय और मन की शक्तियों का विकास ही नहीं हुआ है (४) नैतिकता, सहृदयता और मानवता के ह्रास से भयंकर असन्तोष का जन्म (५) "भस्मासुर" और विज्ञान (६) आज विज्ञान सभ्यता का गला घोट रहा है (७) उपसंहार।

सभ्यता का देश, काल और संस्कृति से अत्यन्त गहरा सम्बन्ध होता है। अतः देश, काल और संस्कृति की परम्परा से परे किसी भी एक सार्वभौमिक सभ्यता की बात ही भूल है। आज हमारे संसार में कितने ही प्रकार की सभ्यताएँ भिन्न-भिन्न देशों में चल रही हैं। एक देश में भी कहीं-कहीं कई सभ्यताएँ हैं। आहार-बिहार, पारस्परिक व्यवहार और जीवन के प्रति दृष्टिकोण के कई ऊँचे-नीचे धरातल है। इसलिए एक वचन में आधुनिक सभ्यता का कोई अर्थ नहीं होता। भूलवश या प्रमादवश योरोपीय सभ्यता को ही आधुनिक सभ्यता कह दिया जाता है। आज संसार के एक बहुत बड़े भूभाग पर यूरोपीय जाति के

लोग शासक के रूप में इस सभ्यता का झंडा ऊँचा उठाये हुए हैं। जहाँ-जहाँ वे गये हैं, वहाँ-वहाँ की सभ्यताओं को इस नई सभ्यता से मुठभेड़ लेनी पड़ी है, अंत में शासितों की पराजित भावना के कारण इस विदेशी सभ्यता की महत्ता को स्वीकार कर लिया गया है और शासितों का एक वर्ग इसे ही अपनी सभ्यता मान कर अपनी धरोहर समझ रहा है।

इस पश्चिमी सभ्यता का मूल बात है ऐहिकता की प्रधानता। यहाँ परलोक की ओर दृष्टि नहीं है, इसी लोक से जो सध सके वह साधा जाए। धर्म को जीवन-व्यवहार से अलग रखा जाता है। इसी से कलाओं के प्रति इस सभ्यता का दृष्टिकोण यथार्थवादी और सौन्दर्यमूलक है। पिछले १८०२-०० वर्षों में इसने विज्ञान का सहारा लेकर, नवीन-नवीन आविष्कारों के बलपर मनुष्य के ऐहिक सुखों के साधनों में वृद्धि की है और उन्हें लोक-सुलभ कर दिया है। इन वर्षों में आविष्कारों की संख्या प्रतिवर्ष शतशः रही है। इनके द्वारा जीवन-यापन के नये ढंग खुले, आहार-विहार के नये मार्ग मिले, यातायात और आवागमन में अत्यन्त चमत्कारिक सुविधा हुई। यदि पूर्वपुरातन काल के महर्षि नारद एक बार पर्यटन करते हुए फिर इस भगवती वसुन्धरा पर उतर आयें तो आज के नगरों की चहल-पहल को राक्षसों का मायाजाल समझें। विज्ञान ने महान अवकाश को रेलों, तारों, हवाई जहाजों और पानी में चलने वाले स्टीमरों के द्वारा बाँध दिया है और समय (काल) पर नियंत्रण किया है। आज देश-देश एक सूत्र से मिल गये हैं। मनुष्य के जीवन के वर्ष तो नहीं बढ़ पाये हैं, परन्तु सुविधा मिले, तो वह उतना काम कर सकता है जितना विज्ञान-पूर्व संसार का मनुष्य अपने दस जीवनों में भी न कर पाता

विज्ञान ने मनुष्य को भौतिक, आधिभौतिक और दैहिक दुःख-शृङ्खला को बहुत कुछ शिथिल कर दिया है और सम्भव है कि भविष्य में कभी वह समय आये जब न रोग-शोक के कहीं दर्शन हों, न अकाल मृत्यु के। पश्चिमी सभ्यता इस सब के लिये हमारे धन्यवाद का पात्र है। पिछली ही शताब्दी की साधना ने मनुष्य को बीसियों शताब्दियों के आगे बढ़ाया है—यदि आगे बढ़ना यही है कि भौतिक सुखों और सुविधाओं के अधिकाधिक साधन इकट्ठे हो जायँ। उसकी नियत पर भी संदेह नहीं हो सकता, क्योंकि उसने इन आविष्कारों के फल को सर्वसुलभ कर दिया है, किसी एक वर्ग के हाथ में ये उनके ही होकर नहीं रह गए।

परन्तु जैसा हम पहले कह चुके हैं, पश्चिमी सभ्यता की मूल बात है ऐहिकता। इसीसे ऐहिक सुख की साधना के लिए ही विज्ञान का प्रयोग किया गया। ऊँचे सांस्कृतिक और आध्यात्मिक धरातल को ऊपर ही छोड़ दिया गया। फल यह हुआ कि भौतिक सुविधाएँ तो आज हमें इतनी प्राप्त हैं कि हम देवता हैं, परन्तु सांस्कृतिक और आध्यात्मिक धरातल में राक्षसों के समकक्ष। बाहर से देवता, भीतर से राक्षस। देह की साधना और बुद्धि के कौशल ने हृदय और आत्मा को पंगु कर दिया है। हम जिस तेजी से विज्ञान के संसार में बढ़े, उस तेजी से न हमारी भावनाएँ परिष्कृत हुईं, न आध्यात्मिक गुणों का विकास हुआ। फल जो है, वह हम आज के विश्वव्यापी महाभारत के रूप में देख ही चुके हैं।

आधुनिक सभ्यता पर विज्ञान ने जो प्रभाव डाला है वह भौतिक सुविधाओं और सुखों तक ही सीमित है। मनुष्य प्रकृति पर विजयी हुआ है। अब वह तत्त्वों से सफलतापूर्वक लड़

सकता है। आज आधुनिक सभ्यता में पला हुआ मनुष्य अच्छा खा सकता है, अच्छा पहन सकता है। उसे हमारे पूर्वजों से कहीं अधिक आराम है। परन्तु साथ [illegible] का ह्रास हुआ है, मनुष्य-जीवन को महानता की बात उड़ गई है, भयंकर वैज्ञानिक शस्त्रों की सहायता से,क्षण भर भी अश्रुत संहार का ताण्डव नृत्य हो सकता है और उनका प्रयोग करने वाला निर्द्वन्द्भाव से इस संहार को देख सकता है। जिन महावैज्ञानिकों के हाथ में नये आविष्कार पड़े उनके लिए मनुष्य-जीवन की अमूल्यता का कोई प्रश्न ही नहीं था, वे पश्चिमी सभ्यता की ही उपज थे जहाँ लौकिकता, दैनिक जीवन के संघर्ष, राष्ट्रीय और जातीय स्वार्थों का बोलबाला था। उन्होंने भयंकर हथियारों से अपने राष्ट्रों को सुसज्जित किया और इनके सहारे वे राष्ट्र दिग्विजय को निकल पड़े। कल तक उन्होंने यश, धन, आत्मतृप्ति सब कमाए। आज विज्ञान उनके हाथ से निकल गया है। वह अब सेवक नहीं, स्वामी है। वह नाश की ओर बढ़ रहा है। विज्ञान ने जिस सभ्यता को चमकाया, वह आज संकट में है। डुबकी मारने वाले बमबाज, लड़ने वाले बमबाज, बम, तोपें, जहरीली गैसें; पनडुब्बियें—इनके सामने आज सभ्य मनुष्य बेबस खड़ा है। भस्मासुर ने सहस्रों वर्षों तक तप किया। भोलानाथ भगवान शंकर ने प्रकट होकर कहा—वर माँग? उसने कहा—देवादिदेव महादेव, मुझे यह वरदान दो कि मैं जिसके सिर पर हाथ धर दूँ, वह भस्म हो जाय। शंकार ने कहा—एवमस्तु! भस्मासुर उनके वरदान की सत्यता की परीक्षा करने के लिए उन्हीं की ओर दौड़ा। सहज प्रसन्न होने वाले भगवान् आशुतोष ने बड़ी दौड़-धूप के बाद जान बचाई। आज विज्ञान भस्मासुर बन गया है। आधुनिक सभ्यता की कड़ी परीक्षा हो रही है।

पिछले दो दशाब्दों में विज्ञान की उन्नति ने आधुनिक सभ्यता को एकदम बर्बरता की ओर ढकेल दिया है। फल यह है कि आज हम प्रागैतिहासिक काल के जङ्गलियों की तरह गुफाओं में रहने लगे हैं। हमने विज्ञान के श्रेष्ठतम आविष्कार (विद्युत) के होते हुए भी बमों के भय से अंधकार में रहना स्वीकार कर लिया। जिन चाँदनी रातों की प्रशंसा में कवियों और ऋषियों ने ग्रन्थ भर दिये हैं, वे आज हमें मृत्यु की संदेशावाहिका जान पड़ती हैं--शत्रु के बमबाज चाँदनी में अच्छा निशाना लगाते हैं। आज विज्ञान सभ्यता का गला घोंट रहा है।

विज्ञान ने मनुष्यता के विकास को धक्का पहुँचाया है। अब समय आ गया है कि आधुनिक सभ्यता कह दे--इतना विज्ञान, और नहीं चाहिये। इतना विज्ञान रहे। इतना नष्ट हो जाये। आज विज्ञान और सभ्यता में जीवन के लिये दौड़ चल रही है। यदि विज्ञान विजयी हुआ तो सभ्यता का कोई ठिकाना नहीं। या तो सर्वनाश निश्चित है, या मनुष्य बर्बरों की तरह, इतिहास पूर्व पुरुष की तरह खाइयाँ खोदकर, गुफाएँ बनाकर, निरंतर अंधकार में रहेगा। सभ्यता की उन्नति का अर्थ होना चाहिये पारस्परिक सहयोग की भावमा की उत्तरोत्तर वृद्धि, मानव-जीवन की श्रेष्ठता की स्वीकृति। वह तो हृदय की साधना है। विज्ञान में है केवल बुद्धि की साधना जो अंततः केवल स्वार्थ-साधना तक सीमित रह जाती है। जिस सभ्यता का केवल यही आदर्श रहा हो कि वहाँ केवल प्रकृति पर विजय प्राप्त हो, हृदय लुंठित पड़ा रहे, उस सभ्यता का अंत पाशविकता में होगा, यह निश्चित है। आज मनुष्य भी अपनी बुद्धि की उपज मशीन की तरह एक मशीन मात्र रह गया है। आत्मा का तो नाम मत लीजिये, हृदय का भी अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जाता। योरोप के प्रसिद्ध विचारक श्री एच० जी० वेल्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक, The

Fate of the Homo-Sapiens' में चेतावनी दी है। यदि मानवता की रक्षा करनी है तो बुद्धि, हृदय और मन का संतुलन चाहिए। आधुनिक सभ्यता का विकास एकांगी है। विज्ञान के प्रभाव में आकर उसने बुद्धि को पकड़ लिया, हृदय और मन की साधना को तिरस्कृत किया।

६८ भारत की आर्थिक उन्नति में कलों की उपयोगिता

(१) "कलों" सम्बन्धी दो विचार-धाराएँ (२) कलों-द्वारा औद्योगीकरण के बिना आर्थिक परतंत्रता (३) दूसरे देशों की बनी हुई चीजों के खरीदने से राष्ट्रीय धन और सम्मान की हानि (४) आर्थिक स्वतन्त्रता की ही राष्ट्रीय स्वतन्त्रता जननी है, अतः राष्ट्र के स्वातन्त्र्य के लिये "कलों" को अपनाने की आवश्यकता (५) कलों से कुछ हानि—व्यवसाय का केन्द्रीयकरण, अनैतिकता का जन्म, बेकारी की वृद्धि, हस्त-कौशल का नाश, जनता की प्रतिरोधशक्ति का ह्रास (६) केन्द्रीय उद्योग-धन्धों (कलों) और घरेलू उद्योगधन्धों में पटरी बैठा सकने की संभावना (७) उपसंहार।

सम्प्रति हमारे देश में दो विचारधाराएँ चल रही हैं। एक विचारधारा कलों को एकदम अनुपयोगी समझती है, कम-से-कम यह नहीं चाहती है कि बड़ी-बड़ी मिलें खड़ी हों, उद्योग-धंधों के क्षेत्रों में मनुष्य का स्थान मशीनें ले लें और व्यवसाय तथा उत्पादन के साधनों का केन्द्रीयकरण हो जाये। वह कहती है—भारतवर्ष ग्रामजीवी है। उसमें दरिद्रता का राज है। उत्पादन के साधनों के केन्द्रीकरण से सहस्रों-मनुष्य जो अपनी जीविका छोटे-छोटे उद्योग-धन्धों से चलाते हैं, बेकार हो जायेंगे। वह देख रही है कि बड़ी-बड़ी कलों के कारण ही नगर सभ्यता के केन्द्र बन गये हैं परन्तु वे धीरे-धीरे भारतीय संस्कृति की जड़ें खोखली कर रहे हैं। इसीसे वह प्राचीन भारत के गाँवों की संस्था को आदर्श समझ कर चलती है। दूसरी विचार-धारा पश्चिमी सभ्यता के

औद्योगिक आक्रमण से मोर्चा लेना चाहती है। वह चाहती है कि अन्य राष्ट्रों की तरह हमारे यहाँ के जन-समाज के रहन-सहन के ढङ्ग ऊँचे धरातल पर उठ जायें। उद्योग-धन्धों के सम्बन्ध में प्रत्येक देश को आत्म-निर्भर रहना आवश्यक है—नहीं तो, अन्य राष्ट्र उसे पंगु कर देंगे और समय आने वाले पर अर्थ-शास्त्र राजनीति शास्त्र का स्थान ले लेगा। उद्योग-धन्धों के केन्द्रीकरण के बिना देश की आर्थिक शक्ति का प्रकाशन एवं नियमन असम्भव है।

सच तो यह है कि आज के वैज्ञानिक आविष्कारों के युग के कलों को अस्वीकार करना जैसे आत्महत्या करना है। हमारा देश कृषि-व्यवसायी देश है परन्तु कलों के समुचित उपयोग के बिना हमारा कितना ही कच्चा माल बाहर के देशों में चला जाता है जहाँ से पक्के माल के रूप में मँहगा होकर फिर हमारे द्वार पर लौटता है। यह परिस्थिति सचमुच ह्रास-जनक है। इससे राष्ट्र के धन और शक्ति का अपव्यय होना नितांत आवश्यक बात हो जाती है। यदि किसी कारण से अन्त राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विता बढ़ जाये या बाहर के राष्ट्र कच्चे माल को लेना अस्वीकार कर दें तो देश हाथ पर हाथ रख कर बैठ जायगा।

दूसरी बात यह है कि कलों के द्वारा वस्तु का मूल्य कई गुना बढ़ जाता है। इससे राष्ट्रीय धन की हानि होती है जिस धन को भारतवर्ष में रहना होता—भले वह भारतीय पूँजीपतियों के हाथ में रहता—वह धन विदेश के पूँजीपतियों के हाथ में चला जाता है और देश प्रतिवर्ष पिछले वर्ष से अधिक गरीब होता जाता है। राष्ट्रीय धन पर ही उसकी सेनाओं का विस्तार और आत्म रक्षा के साधनों की कमी-बेशी निर्भर होती है। इससे वे राष्ट्र जो कलों का उपयोग प्रचुर मात्रा में नहीं करते, कालांतर में शोषित राष्ट्र हो जाते हैं और उनके धन से खड़ी की हुई विदेशी कल-

जीवी राष्ट्र की सेनाएँ उन्हें गुलाम बना लेती हैं। आज संसार में जो राजनैतिक उत्पात मचे हैं, उनके मूल में कलों का असंतुलित प्रयोग ही है। कृषि-जीवी देशों की लाश पर ही कल-जीवी राष्ट्रों के गिद्ध मँडरा रहे हैं और परस्पर रक्तपात की होली खेल रहे हैं।

जिन लोगों ने राष्ट्रीय स्वतंत्रता के प्रश्न का गहरा अध्ययन किया है उनका कहना है कि वास्तव में आर्थिक स्वतंत्रता ही राष्ट्रीय स्वतंत्रता की जननी है। यह नितांत सत्य है कि प्रकृति ने प्राकृतिक धन का वितरण सब राष्ट्रों के लिये समान नहीं किया। इसीलिए यह भी सच है कि किसी छोटी मात्रा में प्रत्येक राष्ट्र को अवश्य ही किसी-दूसरे राष्ट्र का मुख जोहना पड़ेगा। परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि प्रतिदिन की आर्थिक व्यवस्था अपने हाथ में ही रहे, जहाँ तक हो सके राष्ट्र अपने ही पैरों पर खड़ा हो। इसे ही अंग्रेजी परिभाषा में "Policy of Economic Self-Safficiency" (आर्थिक आत्मनिर्भरता का सिद्धान्त) कहते हैं। एक समय था जब यातायात के साधन दुर्गम थे, मंहगे थे और रहन-सहन का ढङ्ग सरल था। इससे नागरिकों की आवश्यकतायें भी कम थीं। प्रत्येक देश स्वयं ही उन आवश्यकताओं को पूरा कर लेता था। दूसरा मार्ग ही न था। हमारे देश में प्रत्येक गाँव स्वतः एक आर्थिक इकाई होता था। विदेशी देशों में केवल हाथीदाँत, सोने, हीरे, गुलामों आदि का व्यापार होता था जिनके गढ़ने के लिए कलों की आवश्यकता नहीं होती थी। धीरे-धीरे कलों ने जन्म लिया। वैज्ञानिक आविष्कारों ने कलों की उत्पादन-शक्ति और कलों से बनी हुई चीज की सुघड़ता और सस्तेपन को निरंतर विकसित किया। उन्हें दूर-दूर देशों में खपाया गया। राष्ट्रीय कला-कौशल नष्ट हो गये। देशी-विदेशी मशीनों से बनी चीजों ने उसका स्थान ले

लिया। अब जीवन एक अत्यंत उलझी समस्या बन गया है। प्रतिदिन की आवश्यकताएँ कई गुनी बढ़ गई हैं। पहले तो आराम की चीजें ही आयात-निर्यात को सूची में आती थीं। अब प्रतिदिन की कितनी ही आवश्यक चीज़ों के लिए एक देश दूसरे का मुहताज है। कितने ही देश हैं जिनके व्यवसाय पेट्रोल पर खड़े हुए हैं, परन्तु उनमें पेट्रोल की एक बूँद भी नहीं निकलती। कितने ही देश खाद्य पदार्थ बहुतायत से पैदा करते हैं, परन्तु प्रतिदिन की अन्य आवश्यक वस्तुओं के लिये विदेशों के मुहताज हैं। अभी कुछ समय पहले तक हम स्वयं कपड़े के लिये लंकाशायर का मुँह ताकते थे। आज कलों के बरदान से हमारे कपड़े के उद्योग-धंधे अत्यंत दृढ़ हैं। हम पड़ोसी देशों के तन ढकने का दम भरते हैं।

इन तर्कों के बल पर हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि भारत की उन्नति के लिये आर्थिक स्वतंत्रता और आर्थिक स्वतंत्रता के लिये कलों की आवश्यकता है। हम यह जानते हैं कि कलों के दुरुपयोग का भी भय है। यह भय तीन प्रकार का है :

(१) हम कलों के द्वारा उत्पादन की व्यवस्था करके सहस्रों-सहस्रों लोगों को काम से वंचित रखते हैं। इससे राष्ट्र की शक्ति का ह्रास और अन्ततः आर्थिक हानि की भी सम्भावना है क्योंकि निर्धनों और बेकारों में मशीन से बने माल को खरीदने की शक्ति ही नहीं होती।

(२) हम कलों का इस प्रकार दुरुपयोग कर सकते हैं कि हम स्वयं अन्य राष्ट्रों की स्वतंत्रता के लिए भयावह हो उठे। पश्चिम के राष्ट्रों में यही तो हुआ है।

(३) उद्योग-धंधों को केन्द्रीकरण करने के कुछ दुर्बलताएँ भी आ जाती हैं। आज के सामरिक साधन अनन्त हैं। उद्योग

धन्धों के केन्द्रों को सहज ही नष्ट किया ——— और इससे राष्ट्र का अर्थनीति का महल एकदम भूशायी हो जायगा। ऐसी परिस्थिति में प्रबल शत्रु से अंत तक मोर्चा लेना कठिन ही नहीं, असम्भव होता। अब अपने घरेलू धंधों के बल पर ही चीन ५ वर्ष तक जापान के बमबाजों के नीचे उन्नतसिर खड़ा रह सका है। कितने ही देश सोच रहे हैं कि उद्योग-धंधों को शत-प्रतिशत नगरों तक केन्द्रित करना अच्छा नहीं हुआ। उससे जनता की प्रतिरोध-शक्ति का ह्रास हुआ है।

हम मानते हैं कि ये अच्छी चेतावनियाँ हैं परंतु कलों को स्वीकार करते हुये भी इन कठिनाइयों का सामना किया जा सकता है जो इन प्रश्नों पर खड़ी हुई हैं। हम आत्मसंयम के नियम का पालन करते हुय उत्पादन को अपनी आवश्यकताओं तक ही सीमित क्यों न रखें। हम काम के घण्टे इतने कम क्यों न रखें कि अधिक मनुष्यों को काम मिल सके? केन्द्रीभूत उद्योग-धंधों के साथ घरेलू उद्योग-धंधों को भी इस प्रकार क्यों न साधा जाय कि केन्द्रीय स्थानों के नष्ट होने पर सारा राष्ट्र फिर एक बार उन्हीं पर अविचलित रह सके?

जो हो, यह स्वीकार करना पड़ेगा कि भारत की आर्थिक उन्नति के लिये कलों की उपयोगिता बनी हुई है। सिद्धांत-रूप से हमारी विदेशी सरकार ने भी इस बात को स्वीकार कर लिया है। वह इस ओर प्रगतिशील भी हुई है कि बड़े-बड़े केन्द्रीय उद्योग-धंधों की स्थापना करे। परंतु अपने राष्ट्रीय स्वार्थ के कारण उसने पग-पग पर भारतवर्ष के औद्योगीकरण में बाधाएँ डाली हैं—टेरिफ, आयात-निर्यात पर कर, बोर्ड ऑफ इन्डस्ट्रीज, बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल, सैकड़ों पचड़े हैं। भारतवर्ष के पूँजीपति भी अभी कुछ समय से ही उद्योग-धंधों के क्षेत्र में उतरे हैं और वे

हमारे धन्यवाद के पात्र हैं—उन्होंने अदम्य साहस से आर्थिक स्वार्थों को ठुकराते हुये गवर्नमेंट की स्वार्थी नीति का सामना किया है। आज उन्हीं के बल पर टाटानगर, अहमदाबाद, बम्बई और कानपुर जैसे नगर खड़े हैं। देश ने आत्मनिर्भरता का पाठ इतनी तेजी से पढ़ लिया है कि हमें आश्चर्य होता है। दो महायुद्धों के बीच की चतुर्थ शताब्दी में ही देश बहुत कम चीजों के लिये विदेशों का मुहताज रह गया है। स्वतन्त्रता के वातावरण में कुछ क्या न हो जाता ? फिर भी हतोत्साह और निराश होने की कोई बात नहीं है। जिन परिस्थितियों के निर्माण में हमारा हाथ नहीं है वे परिस्थितियाँ ही देश को कलों के राज-मार्ग पर बढ़ रही हैं।

६९ मनोरंजन के साधन

(१) प्रस्तावना। (२) साधनों की दो श्रेणियाँ सुरुचिपूर्ण, कुरुचिपूर्ण तथा इनसे लाभ और हानि। (३) साधनों के भेद-विभेद। (४) अपने लिए मनोरंजन का साधन चुनने का आधार। (५) उपसंहार।

मनुष्य के लिये काम करना जितना आवश्यक है, मनोरंजन उससे कम आवश्यक नहीं। जो लोग काम नहीं करते, उनके लिये तो यह और भी आवश्यक है, क्योंकि यदि यह भी उनके जीवन से हटा लिया जाय तो उनका जीवन नीरस आर आकर्षण-विहीन हो जाय। इस प्रकार मनोरञ्जन सभी के लिये अत्या-वश्यक है।

मनोरञ्जन की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए उसके भिन्न-भिन्न प्रकार के साधनों का आविष्कार किया गया है। इनमें कुछ साधन तो अच्छे हैं और कुछ बुरे। इस दृष्टि से साधनों

के सुरुचिपूर्ण और कुरुचिपूर्ण दो वर्ग बनाए जा सकते हैं। सुरुचिपूर्ण साधनों के अंतर्गत हम उन्हें रक्खेंगे जिनसे मनोरञ्जन के साथ हमारा शारीरिक या मानसिक विकास भी हो। जैसे कबड्डी, फुटबाल आदि भिन्न प्रकार के खेल जिनमें हमें दौड़ने-धूपने आदि का परिश्रम भी करना पड़ता है या शतरंज आदि खेल जिनमें सोचने का अवसर मिलता है। दूसरी ओर कुरुचिपूर्ण साधन हम उन्हें कहेंगे जिनमें किसी भी तरह का विकाश न होकर, उल्टे ह्रास होता है। भारत का पुराना मनोरञ्जन जूआ जिसके कारण नल तथा पांडवों को कष्ट भोगना पड़ा था, इसी श्रेणी में आता है। एक तीसरी श्रेणी दोनों के बीच में भी रख सकते हैं, जिसे सुरुचिपूर्ण और कुरुचिपूर्ण दोनों कह सकते हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार के शिकार इसी के अंतर्गत आयेंगे। शिकार सुरुचिपूर्ण तो इसलिए है कि उनसे मनोरञ्जन के साथ शारीरिक विकास होता है तथा कुछ सोचने का अवसर मिलता है, पर दूसरी ओर प्राणियों की हत्या या उन्हें कष्ट देने की कटुता करनी पड़ती है अतः ये कुरुचिपूर्ण हैं। इन तीनों ही प्रकार के साधनों में मनुष्य अपनी प्रकृति के अनुसार अपने लिये चुनता है। इस प्रकार किसी के मनोरञ्जन के साधन से हम उसकी प्रकृति का अनुमान आसानी से लगा सकते हैं। उपर्युक्त तीन श्रेणियों में कुरुचिपूर्ण साधन का एक विभेद अत्यंत कुरुचिपूर्ण भी किया जा सकता है। कहा जाता है कि कहीं का एक राजा था जो अपने मनोरञ्जन के लिए शेर के सामने एक जीवित मनुष्य को फेंक देता था। जब शेर उस जीवित आदमी को पकड़ने चलता तथा आदमी उससे बचने की कोशिश करता और अंत में शेर पकड़कर उसे चीर डालता तो यह दृश्य उसे बहुत आनंदित करता। कहना न होगा कि यह पिशाचों का मनोरञ्जन है। ऐसे ही किसी राजा

को डूबते आदमी के देखने में ही अधिक आनंद आता था और इसके लिये वह प्रायः आदमियों को डुबाया करता था।

इन बातों के आधार पर कहना अनुचित न होगा कि यथार्थ मनोरञ्जन वही है जिससे मनोरञ्जन के साथ-साथ अपना विकास हो तथा दूसरों को भी कोई कष्ट न पहुँचे। इसके विरुद्ध मनोरंजनों में क्षणिक आनंद भले आने पर अंततोगत्वा वे गर्हित और पतनोन्मुख हैं तथा उनसे मनोरंजन कर्त्ता मानवीयता से दूर हटता चला जाता है।

कुछ अन्य दृष्टिकोणों से भी मनोरंजन के साधनों के भेद विभेद किये जा सकते हैं। कुछ तो साधन ऐसे होते हैं जिनमें मनुष्य स्वयं कुछ नहीं करता और दूसरों को करते देख कर ही अपना मनोरंजन करता है। विभिन्न प्रकार के तमाशे (सिनेमा, कुश्ती, मैच तथा नाटकादि) इसी के अंतर्गत आते हैं। दूसरे प्रकार के मनोरञ्जन के साधन वे हैं जिनमें स्वयं कुछ करने पर मनोरञ्जन होता है। इसके भी 'इन डोर' तथा 'आउट डोर' दो विभेद किये जा सकते हैं। 'इन डोर' मनोरञ्जन वे हैं जिन्हें कमरे में बैठकर खेलते हैं। इनमें शारीरिक परिश्रम की आवश्यकता नहीं होती। ताश, शतरंज, जूआ, चौसर आदि इसी के अंतर्गत आते हैं। 'आउट डोर' वे मनोरंजन के साधन हैं जो घर के बाहर मैदान में संपादित होते हैं। इनमें शारीरिक परिश्रम की प्रधानता रहती है। यों बुद्धि भी खर्च करनी पड़ती है, पर शारीरिक परिश्रम की अपेक्षा कम। हॉकी, फुटबाल, कबड्डी, गुल्ली डंडा, क्रिकेट, बैस्केटबाल आदि इसी वर्ग में आते हैं।

ऊपर सुरुचि एवं कुरुचिपूर्ण साधनों पर विचार करते समय सुरुचिपूर्ण साधन को अपनाने का संकेत कर चुके हैं। यहाँ मानसिक और शारीरिक श्रम के आधार पर भी मनोरंजन के

साधन चुनने के विषय में कुछ कहना अप्रासंगिक न होगा। मनोरंजन का प्रश्न अपने आवश्यक या प्रधान काम के बाद आता है। अतः इसके चुनने में अपने प्रधान कार्य का ध्यान आवश्यक है। उदाहरण के लिये, मैं किसी ऑफिस में क्लर्क हूँ। १० बजे से ४ बजे तक कुर्सी पर बैठकर लिखा करता हूँ। शाम को, ऑफिस से लौटने के बाद यदि मैं ताश या शतरंज आदि खेलने बैठता हूँ तो उचित न होगा। दिन भर दिमागी काम करने के बाद शाम को मनोरंजनस्वरूप फिर दिमागी काम किया जाय तो एक तो मस्तिष्क पर दोहरा भार पड़ेगा दूसरे शरीर के श्रम का अवसर ही नहीं आयेगा। अतः उचित होगा कि मैं शाम को कोई खेल खेलूँ या कुछ और इसी तरह का साधन अपनाऊँ जिससे शरीर पर कुछ जोर पड़े और मस्तिष्क को आराम मिले। इसी प्रकार दिन भर शारीरिक परिश्रम के काम करनेवाले को अपने मनोरंजन के लिये ऐसा साधन चुनना चाहिये जिससे शरीर को कुछ आराम मिले तथा दिमाग को काम में लाने का अवसर मिले। आशय यह है कि अपने प्रधान कार्य या पेशे की प्रकृति के विरुद्ध यदि मनोरंजन का साधन अपनाया जा सके तो बहुत अच्छा हो।

भारत की आम जनता के लिये मनोरञ्जन का प्रश्न नहीं के बराबर उठता है। प्रायः लोगों को भर पेट रोटी कमाने से ही फुरसत नहीं मिलती, पर विदेशों में मनोरंजनों के साधनों पर काफी ध्यान दिया जाता है तथा इसमें समय-समय पर प्रयोग हुआ करते हैं। अब स्वतन्त्र भारत में हमारी दशा में, आशा है, शीघ्र ही सुधार होगा और तब हम मनोरंजन का महत्व समझते हुए, उसे अपने जीवन में उचित स्थान देंगे।